गद्य-लेखक रामचन्द्र शुक्ल

(आचार्य शुक्ल के दार्शनिक व साहित्यिक मन्तव्यों तथा
उनके गद्य साहित्य का विशद विवेचन)

लेखक
बलदेवकृष्ण शास्त्री एम० ए०
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
देशबन्धु कॉलिज (सान्ध्य)
कालकाजी, नई दिल्ली

ओरिएण्टल बुक डिपो
१७०४, नई सड़क, दिल्ली

प्रकाशक
ओरिएण्टल बुक डिपो
१७०४, नई सडक, दिल्ली

प्रथम सस्करण
वैशाखी स० २०१६

मूल्य : चार रुपये

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग-प्रेस
शिवाश्रम, क्वीन्स रोड, दिल्ली

दो शब्द

सन् १९५४ में मुझे पंजाब विश्वविद्यालय के कैम्प कालिज, नई दिल्ली मे एम० ए० (हिन्दी) के छात्रों को पढाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय मैने श्री रामचन्द्र शुक्ल के गद्य साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया और मै उनके दार्शनिक व साहित्यिक मन्तव्यों के सकलन व विश्लेषण की ओर बड़ी तत्परता से सलग्न हुआ। उस समय मैने यह अनुभव किया कि एम० ए० के छात्र आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धो तथा उनके साहित्यिक मन्तव्यो के समझने में कुछ कठिनाई का अनुभव करते है, फलतः वे उनके इस बौद्धिक प्रयास की ओर अपनी अरुचि प्रदर्शित करते है। अतएव मैने यह अनुभव किया कि आचार्य शुक्ल के साहित्य के अध्यापन के लिए ऐसी पद्धति का अनुसरण किया जाए जिससे कि छात्रो की रुचि उनके गद्य-साहित्य के प्रति विद्यमान रहे। मैने उनकी साहित्यिक विशेषताओं तथा मन्तव्यों के विश्लेषण के लिए सरल पद्धति के अन्वेषण में तथा उसके प्रयोग करने में चार वर्ष व्यतीत किये। उसी प्रयास को आज 'गद्य लेखक रामचन्द्र शुक्ल' नामक पुस्तक के रूप मे साकार होता देखकर मुझे हार्दिक सन्तोष की अनुभूति हो रही है।

इस पुस्तक में, मैने सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल के व्यक्तितत्व को स्पष्ट करने का यत्न किया है। उनके जीवन सम्बन्धी इतिवृत्त का सामान्य उल्लेख करके उनके साहित्यिक व्यक्तितत्व पर पूर्ण प्रकाश डालने का उपक्रम इसमें किया गया है। दूसरे प्रकरण मे उनकी विभिन्न रचनाओं के आधार पर उनके दार्शनिक मन्तव्यो—अर्थात् ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा मानव जीवन सम्बन्धी धारणाओं को सुविस्तृत रूप मे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अपने कथन का समर्थन करने के लिए शुक्लजी के लेखों में से प्रासगिक उद्धरण प्रस्तुत कर दिये गए है। इसी प्रसग में उनके मानवता सम्बन्धी

विचारों को भी विन्यस्त कर दिया गया है और साथ ही उनके मनोविकार सम्बन्धी निबन्धो का प्रकारान्तर से साराश भी प्रस्तुत कर दिया गया है। उनके जीवन-दर्शन पर प्रकाश डालते हुए, धर्म-अधर्म, साधारण धर्म, विशेष धर्म तथा लोकधर्म सम्बन्धी उनकी धारणाओं को भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर दिया गया है। मुक्ति, स्वर्ग तथा नरक सम्बन्धी मानव के शाश्वत प्रश्नों के सम्बन्ध मे उनके दृष्टिकोण को सक्षेप से प्रस्तुत करके उनके द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मदर्शन के उपाय का भी विशद निरूपण कर दिया गया है।

इसी प्रकार तीसरे प्रकरण मे शुक्लजी के साहित्यिक मन्तव्यो को भी पूर्ण विस्तार के साथ स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। सर्वप्रथम उन मन्तव्यों के आधार को स्पष्ट करके उनके द्वारा स्वीकृत काव्य स्वरूप की विशद तथा क्रमबद्ध विवेचना कर दी गई है। कवि, पात्र, श्रोता, सम्बन्धी उनकी धारणाओं को स्पष्ट करने के उपरान्त काव्य में वर्णित होने वाले जगत् और जीवन की चर्चा भी कर दी गई है। उसी प्रसग मे काव्य स्वरूप का उद्भावन करने वाली अनुभूति मे बुद्धि के योग को तथा काव्यानुभूति के स्वरूप को भी बडे विस्तार के साथ निर्दिष्ट कर दिया गया है। प्रसगवश सौन्दर्यानुभूति, रहस्यानुभूति, स्वप्न बोध के सम्बन्ध मे शुक्लजी की मान्यताओं का निरूपण भी यथोचित रीति मे सम्पन्न हो गया है। काव्य की आत्मा तथा शरीर सम्बन्धी धारणाओ की चर्चा करके उनकी दृष्टि के अनुसार काव्य के लक्ष्य तथा परिभाषा की विशद व्याख्या भी कर दी गई है। काव्य के तत्त्वो की चर्चा करते हुए भावों की दशाओ के सम्बन्ध मे उनकी नवीन उद्भावना को प्रकट कर दिया गया है। इसी प्रसंग मे भावके लक्षण, भेद आदि की तथा प्राचीन स्थायी-सचारी-भाव-व्यवस्था की मीमांसा भी कर दी गई है। रस दशा के सम्बन्ध मे उनकी धारणाओ का उल्लेख करते हुए साधारणीकरण सिद्धान्त की विवेचना कर दी गई है और साथ ही रस दशा की कोटियो की चर्चा भी प्रसगवश हो गई है। इसी प्रकार बुद्धितत्त्व, कल्पनातत्त्व, शैलीतत्त्व के सम्बन्ध मे उनकी धारणाओ पर पूर्ण प्रकाश

डालने का सत्प्रयास किया गया है। इसी प्रसंग में अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना की चर्चा हो गई है। काव्य मे अलंकारों के स्थान व महत्त्व को उनकी धारणा के अनुसार स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। काव्य के भेदो की चर्चा करते हुए उनकी कविता सम्बन्धी मान्यताओं का सुविस्तृत विवेचन कर दिया गया है। साथ ही काव्य क्षेत्र मे प्रचलित नवीन वादों—रहस्यवाद, प्रतीकवाद, कल्पनावाद, छायावाद अभिव्यंजनावाद—के सम्बन्ध मे उनके दृष्टिकोण को भली-भाँति स्पष्ट करने का यत्न किया गया है।

चौथे प्रकरण मे शुक्लजी की आलोचना-पद्धति की मीमांसा की गई है। सर्वप्रथम समालोचना के स्वरूप को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है तदनन्तर उनके समीक्षादर्शो की चर्चा कर दी गई है। फिर इन आदर्शो की चरितार्थता उनके समीक्षा साहित्य मे प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध मे उनके समीक्षा ग्रन्थो—गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास तथा जायसी ग्रन्थावली की भूमिका की सामान्य चर्चा कर दी गई है। पाँचवे प्रकरण मे शुक्लजी के रचनात्मक साहित्य की विवेचना की गई है। सर्वप्रथम उनके निबन्धो का वर्गीकरण कर दिया गया है। तदनन्तर उनके निबन्ध-स्वरूप को तथा उन निबन्धो की विशेषताओं को यथोचित विस्तार के साथ क्रमशः विन्यस्त कर दिया गया है। उनके निबन्धो मे व्याप्त बुद्धि-तत्त्व, भावतत्त्व, नीतिवादिता, शास्त्रीयता, मौलिकता, भारतीयता, निगमन एव व्याख्यात्मक पद्धति, समास शैली पर पूर्ण प्रकाश डालकर उनकी गद्यभाषा के स्वरूप का उल्लेख भी यथोचित रीति मे कर दिया गया है। तदनन्तर उनके हिन्दी साहित्य के इतिहास की चर्चा कर दी गई है। इस इतिहास के अन्तर्गत साहित्यिकता के अंश को तर्क के आधार पर निर्दिष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसी प्रसग में शुक्लजी के गद्यानुवादों की भी चर्चा कर दी गई है। विश्वप्रपच, कल्पना का आनन्द, तथा शशाक का विशेषतया उल्लेख कर दिया गया है। 'शशाक' के प्रसंग मे हिन्दी गद्य के विकास मे शुक्लजी की देन का स्पष्ट संकेत कर दिया गया है। उनकी गद्य-

भाषा पर भी संक्षिप्त रूप से विचार इस प्रसंग में हो गया है।

इस प्रकार शुक्लजी के आचार्यत्व तथा साहित्यकार रूप की विशद विवेचना करने के उपरान्त अन्तिम प्रकरण मे उनके स्थान व महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए आधुनिक आलोचको की उक्तियाँ संक्षेप से प्रस्तुत कर दी गई है। यह यत्न किया गया है कि शुक्लजी के सम्बन्ध मे हिन्दी समालोचना-क्षेत्र मे व्याप्त विरोधी-अविरोधी धारणाओं से छात्रों को सामान्य परिचय हो जाए। जिन समीक्षक महोदयों की चर्चा इस प्रकरण में की गई है मेरे हृदय मे उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा विद्यमान है। यदि कहीं मतभेद भी प्रदर्शित करने का, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से प्रयास किया गया है वह केवल शुक्लजी के मन्तव्यों को स्पष्ट करने की दृष्टि मे किया गया है।

आशा है कि मेरा यह प्रयास आचार्य शुक्लजी के पाठको के लिए विशेष उपयोगी प्रमाणित होगा। निस्सदेह शुक्लजी पर अनेक ग्रन्थ व लेख इससे पूर्व लिखे जा चुके है। मेरा प्रयास सर्वथा नवीन तथा मौलिक नही तथापि शुक्लजी के आचार्यत्व तथा साहित्यकार के रूप को स्पष्ट करने में इसमें जिस पद्धति का अनुसरण किया गया है वह मेरी अपनी है, मौलिक है तथा अनुभवप्रसूत है। अपने छात्रों को इसी पद्धति से पढाते हुए मैंने इसकी उपयोगिता अनुभव की है; अतएव आज इसे पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करने का मैंने यह सत्साहस किया है। यदि मेरा यह प्रयास आचार्य शुक्ल के पाठकों में रुचि उत्पन्न कर सका तो मैं अपने-आपको धन्य समझूँगा।

लेखक

विषय सूची

आचार्य शुक्ल का व्यक्तित्व

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में गद्यात्मक रचनाओ का प्रचार व प्रसार अत्यधिक मात्रा मे हुआ है। इस काल के गद्य-लेखको में श्री रामचन्द्र शुक्ल का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जा सकता है। गद्य-लेखको के रूप मे शुक्लजी के कृतित्व का अनुशीलन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उनके व्यक्तित्व से भली-भाँति परिचित हों। यह एक अविनार्य तथ्य है कि लेखक का व्यक्तित्व ही उसके साहित्य मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिफलित होता है। साहित्य में अभिव्यक्त जीवन का रूप वही होता है जो कि लेखक के अन्तस्तल मे निर्मित होता है। यह सर्वथा सत्य है कि लेखक मानव-मात्र की भावनाओ, आकांक्षाओं तथा इच्छाओं की अभिव्यंजना करता है, परन्तु इस साहित्यिक अभिव्यजना पर उसकी अपनी रुचि तथा स्वभाव का प्रभाव निरन्तर विद्यमान रहता है, अतः साहित्य से व्यक्तित्व को पृथक् नही किया जा सकता है। शुक्लजी का साहित्य भी इसका अपवाद नही हो सकता है।

अपनी निजी विशेषताओ से ही व्यक्तित्व का निर्माण होता है। शुक्लजी के व्यक्तित्व के मूल में भी उनकी अपनी विशेषताएँ ही मानी जा सकती है। 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना, तुण्डे-तुण्डे सरस्वती' इस उक्ति के अनुसार शुक्लजी अपने बौद्धिक चिन्तन तथा वाग्विलास के कारण अन्य साहित्यिक व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न एव पृथक् अस्तित्व धारण करते परिलक्षित होते है। उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण करने के लिए हमें उनके बौद्धिक विकास का तथा उसके अभिव्यजक शब्द विन्यास को हृदयंगम करना होगा। उनके उस ज्ञान-केन्द्र को टटोलना होगा जिसकी सूक्ष्म रश्मियाँ उनके सारे वाङ्मय पर अपनी ज्योति प्रसारित कर रही है, हमे उस ज्ञानधारा का अन्वेषण

करना होगा जिससे उनका साहित्य-वृक्ष पल्लवित हो रहा है।

व्यक्ति का ज्ञान केन्द्र अपने समुचित विकास के लिए पार्श्ववर्ती परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। उसकी नैसर्गिक प्रतिभा विभिन्न अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियो का प्रश्रय पाकर ही विकसित होती है। इस तथ्य के अनुसार हम यह कह सकते है कि शुक्लजी के साहित्यिक-व्यक्तित्व के निर्माण मे उनकी वैयक्तिक जीवन सम्बन्धी परिस्थितियो का पूरा हाथ है; अतः शुक्लजी के वैयक्तिक जीवन की झाकी के दर्शन करना भी नितान्त उपादेय है।

जन्म-कुल पितृ परिचय—भारत के सयुक्त-प्रान्त मे शुक्ल ब्राह्मणो को हिन्दू-समाज मे गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसी कुल मे जन्म ग्रहण करने के कारण श्री रामचन्द्र शुक्ल कभी हीन भावना के शिकार नहीं हुए, परन्तु पारिवारिक परिस्थितियाँ इनकी अपनी नैसर्गिक प्रतिभा एव प्रवृत्ति के अनुरूप नही हो सकी। आर्थिक दृष्टि से तो उनके पूर्वज सामान्यतया सम्पन्न कहे जा सकते है। उनके पितामह श्री शिवदत्त शुक्ल गोरखपुर जिले मे रावती नदी के किनारे भेडी नामक गाँव मे रहते थे और कभी-कभी वस्ती जिले के अन्तर्गत नगर-रियासत के राज परिवार में सम्मिलित हुआ करते थे। नगर-रियासत की रानी उनकी दादी को अपनी धर्मपुत्री समझती थी इसीलिए उनके पितामह के छोटी आयु मे ही परलोक सिधारने के पश्चात् उनकी दादी नगर की रानी के पास आकर रहने लगी। उदारहृदया रानी ने नगर के पास ही अगोना नामक गाँव मे उनकी दादी को कुछ भूमि दे दी तथा निवास के योग्य भवन भी बनवा दिया। उनके पिता चन्द्रबली शुक्ल का यही पालन-पोषण सुविधाजनक परिस्थितियों मे हुआ। शिक्षा-दीक्षा मे भी विशेष कठिनाई नही हुई। उर्दू-फारसी की उत्तम शिक्षा प्राप्त करके वे उच्च शिक्षा के लिए काशी के क्वीन्स कालिजिएट स्कूल मे प्रविष्ट हो गए और मैट्रिक पास करके वे सरकारी नौकर हो गए। इसी समय अगोना नामक गाँव मे विक्रमी संवत् १९४१ तदनुसार सन् १८८४ मे आश्विन पूर्णिमा के शुभ दिन रामचन्द्र शुक्ल का जन्म हुआ।

प्रारम्भिक जीवन—चार वर्ष की आयु तक उनका पालन-पोषण अगोना गाँव में ही हुआ। तत्पश्चात् सन् १८८८ में उनके पिता जिला हमीर-पुर की राठ तहसील में सुपरवाइजर क़ानूनगो हो गए और वे भी अपने पिता के साथ ही राठ में रहने लगे। छः वर्ष की अवस्था मे पं० गंगाप्रसाद से वे अक्षर-ज्ञान प्राप्त करने लगे। प्रारम्भ से ही उनकी प्रवृत्ति हिन्दी पढने की ओर थी। यह सहज हिन्दी-प्रेम पारिवारिक परिस्थितियो से बाल-हृदय मे दृढ स्थान प्राप्त करने लगा। उनकी दादी 'रामायण' और 'सूरसागर' का पाठ करती और पिता 'रामचन्द्रिका' और भारतेन्दु के नाटको का अध्ययन करते तो वे बड़ी तत्परता से उन्हे श्रवण करते थे। उनकी सहज रुचि अनु-कूल स्थिति पाकर समृद्ध होने लगी। सन् १८९२ मे उनके पिता की नियुक्ति सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर मे हुई। जीवन की परिस्थितियाँ बदलीं, किशोरावस्था के उदयकाल के साथ ही जीवन दिशा मे नवीन मोड़ दृष्टि-गोचर होने लगा। माता की मृत्यु के पश्चात् वे अपने पिता के साथ मिर्जा-पुर में आकर रहने लगे।

अध्ययन तथा विवाह—रामचन्द्र शुक्ल नौ वर्ष की आयु में मिर्जापुर पहुँचे और वहाँ जुबली स्कूल में उर्दू के साथ अंग्रेजी पढ़ने लगे। 'मिडिल' पास करने से पूर्व ही बारह वर्ष की आयु मे उनका विवाह हो गया। विवाह के उपरान्त भी पठन-कार्य चलता रहा और दो-अढ़ाई वर्ष में मिडिल पास कर लिया। लगभग सत्रह वर्ष की आयु में एण्ट्रैन्स पास करने के उपरान्त वे अपनी पढाई आगे न चला सके। उनके पिता ने दूसरा विवाह करवा लिया था। गृह कलह से विवश होकर उन्हें अपनी पढ़ाई स्थगित करनी पड़ी। इस प्रकार विश्वविद्यालय की उच्च परीक्षा उत्तीर्ण कर बड़ी उपाधि प्राप्त करने से वे वंचित रह गए।

स्वतंत्र अध्ययन—पिता के साथ अपनी विमाता के कारण संघर्ष रहने से वे अपनी शिक्षा किसी महाविद्यालय में चालू न रख सके, परन्तु स्वतन्त्र रूप से पठन-कार्य निरन्तर चलता रहा। पुस्तकों के पढने का तो मानो उनको एक व्यसन-सा ही था। स्थानीय लाइब्रेरी से अंग्रेजी की पुस्तके लाना और

एक-एक वजे रात तक पढते रहना उनका प्रतिदिन का काम हो गया था। हिन्दी साहित्य की भी अनेक पुस्तके उन्होंने स्वतन्त्र रूप से पढ़ डाली। भारत जीवन प्रेस के रामकृष्ण वर्मा उनके पिता के सहपाठी थे; अतः इस प्रेस की प्रायः सभी नव प्रकाशित पुस्तके घर मे आ जाती थी और वे उन्हे किसी प्रकार से पढ लिया करते थे। इस स्वतन्त्र अध्ययन ने उनकी सहज साहित्यिक रुचि को विकसित एवं समृद्ध करने मे उल्लेखनीय सहायता प्रदान की। काशी के प० केदारनाथ पाठक से परिचय हो जाने से उन्हे हिन्दी और बँगला की अच्छी-अच्छी पुस्तकें सुप्राप्य हो गई। मिर्जापुर मे 'पाठक' जी ने एक हिन्दी पुस्तकालय खोला था। वहाँ से भी उन्हे पुस्तकें पढने का सुअवसर प्राप्त होता रहा और उनके साहित्यिक परिचय मे वृद्धि करने की दृष्टि से विशेष उपयोगी प्रमाणित हुआ।

सत्संगति का प्रभाव—पुस्तको के निरन्तर अध्ययन के साथ शुक्ल जी को हिन्दी-संस्कृत साहित्य के विद्वान् महापुरुषों की सगति में रहने का सौभाग्य भी मिलता रहा। उनके पड़ोसी बिन्ध्येश्वरीप्रसाद संस्कृत साहित्य के एक भावुक एव तेजस्वी विद्वान् थे। उनके सत्संग से उनमें सस्कृत सीखने की रुचि उत्पन्न हुई और हिन्दी-प्रेम को स्थिरता प्राप्त हुई। यह हिन्दी-प्रेम बाबू काशीप्रसाद जायसवाल के सम्पर्क में आने से और भी अधिक दृढ़ होता चला गया। बाबू बलभद्रसिह डिप्टी कलक्टर के घर पर होने वाली महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवत पुराण आदि प्राचीन सांस्कृतिक ग्रन्थों की कथाओं के श्रवण से भी उनके मनः पटल पर भारतीयता के बीज अंकुरित होते रहे। भारतीय वेश-भूषा के प्रति किशोरावस्था मे आकर्षण भी इसी सत्संगति का प्रभाव कहा जा सकता है।

विरोधी वातारण—शुक्ल जी के मन मे हिन्दी-प्रेम के सस्कारो के पनपने में विरोधी वातावरण भी पर्याप्त सहायक कहा जा सकता है। उनके पिता ब्राह्मण होने पर भी चाल-ढाल, वेशभूषा की दृष्टि से एक मौलवी दृष्टिगोचर होते थे। उन्हे सस्कृत-हिन्दी बेहूदा भाषाएँ प्रतीत होती थीं। उर्दू की शिष्टता के वे परम भक्त थे। धोती पहनकर बाहर निकलना तथा

नंगे सिर रहना उनकी दृष्टि में एक दण्डनीय अपराध था। शुक्लजी के सहज विकास के मार्ग मे पिता की यह तथाकथित शिष्टता बाधक थी। प० विन्ध्येश्वरीप्रसाद की शिष्यमण्डली मे विचरने के कारण इनको भारतीय वेशभूषा अधिक प्रिय हो रही थी। धोती पहनकर वे प्राय. इस मण्डली के साथ मिर्जापुर मे घूमते रहते थे। धोती पहनने के कारण वे प्राय: अपने पिता से वज्जात, बदतमीज, वेहूदा, नालायक आदि अपशब्द सुना करते थे। परन्तु इस विरोधी वातावरण ने भी उनके सहज सस्कारों पर गहरी चोट नही की। उनकी सहज भारतीयता अक्षुण्ण रूप से आजीवन विद्यमान रही। विमाता का दुर्व्यवहार, पिता की कठोरता शुक्लजी के सहज विकास मे बाधक न बन सकी अपितु उनकी सहज प्रकृति को अन्यान्य परिचित महानुभावों से प्रोत्साहन मिलता चला गया। हॉ, इस विरोधी वातावरण से विश्वविद्यालय की कक्षाओ मे नियमित रूप से पढने का सुअवसर उन्हे न मिल सका। पिता ने उनको वकालत पढने के लिए प्रयाग भेजा, परन्तु उनकी सहज रुचि इस ओर न होने के कारण वे वकील न बन सके। उनका सहज साहित्यिक हृदय कचहरी के कार्यक्षेत्र के सर्वथा प्रतिकूल था; अत-एव पिता की इच्छा के अनुरूप वे वकालत उत्तीर्ण न कर सके।

प्राकृतिक वातावरण—शुक्ल जी का जन्म तथा पालन-पोषण प्राकृतिक वातावरण में हुआ था। उनका जन्म स्थान अगोना गॉव हरे-भरे खेतों तथा अमराइयो से घिरा हुआ था। उनकी किशोरावस्था प्राकृतिक सौन्दर्य से ओत-प्रोत मिर्जापुर में व्यतीत हुई थी। मिर्जापुर की जिस 'रमई पट्टी' मे वे अपने पिता के साथ रहते थे वह स्थान प्राकृतिक सुषमा-सम्पन्न था। हरे-भरे खेतों मे तथा सुदूरपर्यन्त फैली हरित-कुसुमित तरु-पक्तियों में नदी-नालों की कलकल ध्वनि से पूरित शैल-पक्षो में परिभ्रमण करने का सौभाग्य किशोर शुक्ल को अनायास ही उपलब्ध हो गया था। इस अचेतन, सरस प्रकृति ने चेतन शुक्ल की आत्मा को सरस बनाने मे, सहृदय एवं साहि-त्यिक बनाने में पूर्ण सहयोग प्रदान किया था। पार्श्ववर्ती वन्यस्थलियों में विनोद-विहार ने उनके मानसिक विकास में उल्लेखनीय योगदान किया था।

साहित्यिक वातावरण—शुक्लजी के मानसिक विकास मे प्राकृतिक वातावरण के साथ तत्कालीन साहित्यिक वातावरण को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। हिन्दी साहित्य का यह अभ्युदय-काल था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनकी मित्रमण्डली के अथक प्रयास से हिन्दी साहित्य मे नवीन प्रवृत्तियो का श्रीगणेश हो रहा था। इसी वातावरण के कारण शुक्ल का बाल-हृदय भारतेन्दु मे अत्यन्त प्रभावित हुआ था। अबोधमति शुक्ल उस समय पुराण-गाथाओ मे प्रसिद्ध सत्यवादी हरिश्चन्द्र और बीसवी सदी के साहित्यकार हरिश्चन्द्र मे कोई अन्तर नही समझता था। अपने 'आत्म-सस्मरण' मे वे स्वय लिखते है—

"'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के नायक राजा हरिश्चन्द्र और कवि हरिश्चन्द्र मे मेरी वालबुद्धि कोई भेद नहीं कर पाती थी।"

आर्थिक स्थिति—शुक्ल जी को शिक्षा-काल में आर्थिक सकट का सामना करना पड़ा था। अपनी विमाता से उनकी बनती नही थी। इसी कारण उनके पिता उनकी आर्थिक सहायता नही कर पाते थे। फलतः उन्हें अपने अध्यवसाय के बल पर शिक्षा प्राप्त करनी पड़ी थी। अन्त में उनकी कर्मठता तथा अध्यवसाय से प्रभावित होकर उनके पिता आर्थिक सहायता के लिए उद्यत हो गए थे। पिता के चरित्र मे उनकी इन विशेषताओं ने पर्याप्त परिवर्तन कर दिया था। वकालत की परीक्षा मे अनुत्तीर्ण होकर जव वे घर आए तो उन्होंने देखा कि उनके पिता अब हिन्दी की ओर झुक रहे है। रामायण, रामचन्द्रिका आदि हिन्दी-ग्रन्थ बड़ी भक्ति से पढने लगे है। भारतेन्दु के ग्रन्थों का भी अनुशीलन चल रहा है। इससे शुक्लजी को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला परन्तु उन्हे शीघ्र ही आजीविका के लिए मिर्जापुर के लन्दन मिशन स्कूल मे ड्राइग मास्टर बनना पडा। बीस रुपये मासिक वेतन पर उन्हे यह कार्य अपनी आर्थिक विवशताओ के कारण ही करना पड़ा। पच्चीस वर्ष की आयु तक वे यही कार्य करते रहे। तदुपरान्त वे काशी चले आए। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हिन्दी-कोश का प्रकाशन प्रारम्भ हो रहा था। इस कोश के लिए शब्द-संग्रह का कार्य सर्वप्रथम शुक्ल जी को

सौपा गया। संग्रह-कार्य समाप्त हो जाने के उपरान्त उन्हे सहायक सम्पादक के रूप मे नियुक्त कर दिया गया। शुक्लजी के जीवन मे काशी-आगमन एक प्रधान घटना है। उनके जीवन का अवशिष्ट भाग काशी मे व्यतीत हुआ। कोश-सम्पादन का कार्य समाप्त हुआ तो उन्हे हिन्दू विश्वविद्यालय में ही निबन्ध-कला-शिक्षक के रूप मे स्थान मिल गया। उस समय डा०श्यामसुन्दरदास हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। उन्होने सं० १९९४ तदनुसार सन् १९३७ मे इस अध्यक्ष-पद से अवकाश ग्रहण कर लिया। यह स्थान शुक्ल जी को दिया गया। वे फिर जीवन-भर इसी अध्यक्ष-पद पर आसीन रहे।

रचना कार्य—शुक्ल जी की साहित्यिक प्रतिभा यद्यपि सृजन तथा भावन दोनों व्यापारो मे प्रकट हुई तथापि इनकी भावन सम्बन्धी प्रतिभा ने हिन्दी साहित्य को अधिक प्रभावित किया है। तेरह वर्ष की आयु मे ही उनकी सृजनात्मक प्रतिभा अपना स्वरूप उद्भावित करने लग गई थी। सर्वप्रथम नाटक रचना की ओर इस प्रतिभा ने उन्हें अग्रसर किया। 'हास्य-विनोद' नाटक उनका साहित्यिक रचना की दिशा मे पहला पग था। यह नाटक प्रकाशित न हो सका। उनके एक मित्र ने उसे फाड कर फेक दिया था। 'पृथ्वीराज' नाटक के केवल दो अक ही उन्होने लिखे और उसे अधूरा छोड़ दिया। इसी आयु मे समय-समय पर वे कवित्त और दोहे भी लिखते रहे। तत्कालीन 'सरस्वती,' 'आनन्द कादम्बिनी' आदि पत्रिकाओ मे उनके किशोर-काल की मौलिक रचनाएँ प्रकाशित होने लगी। सोलह वर्ष की अवस्था में उनकी 'मनोहर छटा' नाम की एक कविता 'सरस्वती' मे प्रकाशित हुई। इसी काल मे उनकी 'शिशिर-पथिक', 'वसन्त पथिक', 'भारत-वसन्त', 'दुर्गावती' आदि रचनाएँ उक्त पत्रिकाओ मे प्रकाशित होने लगी।

उनकी सृजनात्मक प्रतिभा रचनात्मक साहित्य से हटकर अनुवाद-कार्य की ओर प्रवृत हुई और उन्होंने अपनी स्वल्पावस्था मे ही अग्रेजी लेखो तथा पुस्तको का अनुवाद करना प्रारम्भ किया। Addison की Essays on Imagination पुस्तक का अनुवाद 'कल्पना का आनन्द' शीर्षक

से नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार Magasthenes की India नामक पुस्तक का अनुवाद 'मेगास्थनीज का भारतवर्षीय विवरण' के नाम से, सर टी० माधवराय के Minor Hints का अनुवाद 'राज्य प्रबन्ध शिक्षा' के नाम से, Plvin living and high thinking' का अनुवाद 'आदर्श जीवन' के नाम से, 'Riddle of the Universe का अनुवाद 'विश्वप्रपच' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार बाबू राधाकृष्णदास का जीवन चरित्र, बुद्धचरित्र, शशांक आदि कई अनूदित ग्रन्थ प्रकाशित हुए।

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादन कार्य ने तथा हिन्दू विश्वविद्यालय मे अध्यापन कार्य ने उनकी भावयित्री प्रतिभा को उत्तेजित किया और वे निबन्ध रचना की ओर सोत्साह प्रवृत्त हुए। अपने समृद्ध बुद्धि-बल से वे गम्भीर से गम्भीरतम साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक विषयों पर निबन्ध लिखने लगे और भावयित्री प्रतिभा के पूर्ण विकसित हो जाने पर वे काव्य-मीमासक आचार्य के रूप मे हमारे सामने प्रकट हुए। उनके 'कविता क्या है', 'काव्य में रहस्यवाद' 'काव्य मे प्राकृतिक दृश्य', 'भारतेन्दु समीक्षा', 'उपन्यास' 'भाषा का विस्तार' आदि अनेक निबन्ध विचार-वीथी और चिन्तामणि नामक सग्रहो मे प्रकाशित हुए। 'तुलसी ग्रन्थावली की भूमिका', 'जायसी ग्रन्थावली की भूमिका', 'सूरदास' ' भ्रमरगीतसार' आदि समालोचनाएँ भी उनकी उत्कृष्ट कोटि की भावयित्री प्रतिभा के प्रमाण स्वरूप कही जा सकती है। उक्त निबन्धों में, समालोचनात्मक भूमिकाओं मे, शुक्ल जी के काव्य सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त, मान्यताएँ व धारणाएँ विन्यस्त हुई है। काव्य निरूपण की दृष्टि से उनके विभिन्न लेखों का 'रस मीमांसा' नामक संग्रह विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार काव्य विषयो पर अपने गम्भीर अनुशीलन के आधार पर रचनाएँ प्रस्तुत करके शुक्ल जी ने अपने जीवन की संचित विभूति हिन्दी साहित्य को प्रदान कर दी। श्री रामचन्द्र शुक्ल का यह जीवन हिन्दी साहित्य के विकास, प्रचार व विस्तार मे एक शुभ वरदान माना जा सकता है।

अन्तः——शुक्ल जी को साहित्यिक वीर की श्रेणी मे परिगणित किया जा सकता है । अपनी साहित्यिक धारणाओ व मान्यताओ के प्रकाशन मे, पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क से उदीयमान नवीन प्रवृत्तियों के आशिक समर्थन व विरोध में, प्राचीन भारतीय काव्य-परम्पराओं के विश्लेषण में और उनके प्रति अपनी सम्मति के प्रकाशन मे जिस निर्भयता एव साहस की अपेक्षा है वह हमें शुक्ल जी के व्यक्तित्व मे परिलक्षित होती है । अपनी इस वीरता के सहारे साहित्यिक क्षेत्र मे अपनी विजयदुन्दुभी बजाता हुआ यह वीर २ फरवरी सन् १९४१ तदनुसार विक्रमी सम्वत् १९९८ में अपनी इह-लीला का संवरण कर हमसे पृथक् हो गया । भौतिक शरीर से हिन्दी साहित्य का यह विच्छेद नगण्य है। शुक्ल जी का आध्यात्मिक जीवन अब भी हिन्दी साहित्य की प्रगति मे, स्वरूप-निर्धारण मे अपना समुचित योग प्रदान कर रहा है । उनकी धारणाएँ अब एक परम्परा, प्रणाली या वाद का रूप धारण करती प्रतीत होती है। भौतिक विभूतियो से सामान्य परन्तु साहित्यिक प्रतिभा से सम्पन्न शुक्ल हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य निधि के रूप में अमर हो गया है । इस क्षेत्र मे अब वह अकेला नही है उसके साथ एक सम्प्रदाय है, धारा है । हिन्दी साहित्य-गगन मे शुक्ल जी की शुक्लता अपनी अभूतपूर्व शुभ्रता का प्रसार करती दृष्टिगोचर होती है ।

व्यक्तित्व-विश्लेषण: आत्म सम्मानः—साँवले रगके सामान्य डील-डौल वाले दुबले-पतले शुक्ल जी का व्यक्तित्व विभिन्न विशेषताओं का पुज था। उनके व्यक्तित्व की सर्वप्रथम विशेषता 'आत्म सम्मान' की भावना है। मिर्जापुर के कलक्टर ने शुक्ल जी की आलेख सम्बन्धी कुशलता से प्रसन्न होकर उन्हे एक अग्रेजी आफिस मे बीस रुपये मासिक की नौकरी दिलवाई थी परन्तु उनके आत्म सम्मान ने अधिक दिनों तक वहाँ टिकने न दिया। एक बार कार्यालय के प्रधान लेखक ने उनसे रविवार को भी आने के लिए कहा । इसी बात को अपमानजनक समझकर उन्होने इस कार्य से त्याग-पत्र दे दिया । इसी प्रकार उनके पिता की प्रार्थना पर कलक्टर महोदय ने उनकी नायब तहसीलदारी के लिए सिफारिश की थी, परन्तु उन्होने अपनी

ग्रात्म सम्मान की भावना से प्रेरित होकर इस प्रलोभन को भी तिलांजलि दे दी थी। उनका यह दृढ विचार था—'ग्रात्म सम्मान की रक्षा करते हुए कॉटों पर घसीटा जाना ग्रच्छा है पर इसे खोकर फूलों मे तुलना ग्रच्छा नही'। इसी त्यागपत्र के साथ उन्होंने एक लेख इण्डियन रिव्यू पत्रिका मे प्रकाशित करवाया। लेख का शीर्षक था—What has India to do ? इस लेख को पढकर कलक्टर ने ग्रपनी सिफारिश वापस ले ली थी। इस प्रकार ग्रात्म सम्मान की भावना उनको नायब तहसीलदारी से दूर ले गई ग्रौर साहित्य के स्वच्छन्द वातावरण की ग्रोर ले गई। इसी ग्रात्म सम्मान की भावना के कारण वे ग्रलवर के महाराजा के पास भी नौकरी न कर सके ग्रौर चार सौ रुपये मासिक वेतन का मोह छोड़कर फिर हिन्दी साहित्य की सेवा के सिए काशी विश्वविद्यालय मे ही ग्रा गए।

गम्भीरता : विनोद प्रियता—शुक्ल जी के व्यक्तित्व मे गम्भीरता ग्रौर विनोदप्रियता का विलक्षण सामजस्य है। घर की विपरीत परिस्थितियों ने उन्हें गम्भीर एव ग्रात्मचिन्तनरत वना दिया था। नौ वर्ष की ग्रवस्था मे माता की मृत्यु ग्रौर वारह वर्ष की ग्रायु मे विवाह, विमाता के दुर्व्यवहार तथा ग्रार्थिक सकट के कारण उनकी प्रकृति ग्रधिकतर ग्रन्तर्मुखी हो गई थी। इसी गम्भीरता ने उन्हें हिन्दी साहित्य गगन मे देदीप्यमान होने की शक्ति प्रदान की। इसी के कारण वे प्राकृतिक सौन्दर्य के ग्राँकने मे, मानव जीवन के साथ प्रकृति के सम्बन्ध को स्पष्ट करने में, मानव प्रकृति के विविध रूपों के निरीक्षण मे, प्राच्य तथा पाश्चात्य साहित्यिक तत्त्वो के विश्लेपण मे, तुलसी, सूर, जायसी ग्रादि महाकवियो के साहित्य के मर्म को समझने मे, हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों की विविध प्रवृत्तियो के ग्रनुशीलन मे समर्थ हो सके है। इस गम्भीरता की छाप उनकी प्रत्येक साहित्यिक कृति पर प्रतिफलित होती देखी जा सकती है। जीवन की विकट परिस्थितियाँ किस प्रकार मानव जीनन को बहुमूल्य बना देती है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण शुक्ल जी का जीवन माना जा सकता है।

विनोद प्रियता—उक्त गम्भीरता परिस्थिति जन्य थी। उनकी नैस-

गिक प्रकृति में विनोद की समुचित मात्रा विद्यमान थी। गम्भीरता के तले दबी यह विनोद-प्रियता अवसर पाकर फूटती रही है। सर्वप्रथम 'हास्य-विनोद' नामक नाटक प्रणयन के रूप मे उनकी इस सुप्त वृत्ति के दर्शन होते है। डा० श्यामसुन्दरदास जी के कथनानुसार यह नाटक उन्होने तेरह वर्ष की आयु में ही लिखा था। जीवन की सामान्य घटनाओं में भी इस विनोद वृत्ति का आभास मिलता है। श्री कृष्ण शकर व्यास ने 'हिन्दुस्तान साप्ताहिक' के होली-विशेषाक मे उनके जीवन की एक इसी प्रकार की घटना का उल्लेख किया है। एक बार वे ला० भगवानदीन के साथ एक ऐसी दुकान पर शरवत पीने गए जहाँ एक परिचारिका ग्राहको की सेवा के लिए नियुक्त थी। शरबत पिलाने के अनन्तर दुकानदार ने उनसे तीन आने के स्थान पर दस आने माँगे तब उन्होंने भगवानदीन से विनोदपूर्वक कहा कि—"दस आने ही दे दीजिए, क्योकि इसमे परिचारिका के शरबते-दीदार की कीमत भी सम्मिलित है।" इसी प्रकार की एक घटना श्री शिवनाथ जी ने भी लिखी है उन्होने लिखा है—"स्वर्गवास के कुछ ही दिन पूर्व शुक्ल जी अयोध्या गए थे। वहाँ सरयू के किनारे एक याचक को इन्होंने 'साहब की टोपी ऊँची रहे', 'साहब की टोपी ऊँची रहे' रटते सुना। वे उसके पास गए उसे कुछ देकर कहा—यदि तुम चाहते हो कि स्त्रियाँ भी तुम्हे कुछ दिया करे तो पास से जब किसी स्त्री को जाते देखो तब चट बोल उठो—'मेम साहब की जूती ऊँची रहे, मेम साहव की जूती ऊँची रहे'।"

हास्य-व्यंग्य—विनोद वृत्ति का हास्य-व्यग्य के साथ अटूट सम्वन्ध है। अपनी इसी सहजवृत्ति के कारण हम शुक्लजी को गम्भीर से गम्भीरतम विषयो का प्रतिपादन करते हुए गाम्भीर्यपूर्ण शैली के मध्य में मूर्खो, अदूरदर्शियों, अर्थ लोलुपों, असाहित्यिको, पाखण्डियों, विरोधियों का उपहास करते, उनके प्रति फबतियाँ कसते, चुटकियाँ लेते, मीठे व्यग्य प्रकट करते देखते है। हिन्दू समाज गीता का बडा सम्मान करता है, परन्तु उसके आचरण मे और गीता के निष्काम कर्मवाद मे आकाश-पाताल का अन्तर है। हिन्दुओ की इस फलासक्ति पर शुक्लजी ने बड़ी शिष्टता से अपने

'उत्साह' नामक निवन्ध मे फवती कही है। वे लिखते हैं—"भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो वैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी मे ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे, चार आने रोज का अनुष्ठान कराके व्यापार मे लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे।"

इस शिष्टतापूर्ण उपहास मे उनकी सहज वृत्ति ने पूर्ण सहायता दी है। मानव अपने स्वार्थ की सीद्धि के लिए कृत्रिमता का आश्रय लेता है और श्रद्धेय गुणों की वाणी मे प्रशंसा करके अपना उल्लू सीधा करना चाहता है। इस बात को शुक्लजी ने एक लेख 'श्रद्धा-भक्ति' मे वड़े मर्मस्पर्शी शब्दों में अपने जीवन की सामान्य घटना के उल्लेख मे स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते है—"एक दिन मै काशी की एक गली से जा रहा था। एक ठठेरे की दुकान पर कुछ परदेशी यात्री किसी बरतन का मोलभाव कर रहे थे और कह रहे थे कि इतना नही—इतना लो तो ले। इतने मे ही सौभाग्यवश दुकानदारजी को ब्रह्मज्ञानियों के वाक्य याद आ गए और उन्होंने चट कहा—"माया छोड़ो और इसे ले लो।" सोचिए तो, काशी ऐसा पुण्य क्षेत्र। यहाँ न माया छोड़ी जाएगी तो कहाँ छोड़ी जाएगी।" इस उद्धरण के अन्तिम वाक्य में उपहास व्यंग्य रूप मे स्थित है और अपना पूरा प्रभाव पाठक हृदय पर डाल रहा है। ऐसे व्यंग्यपूर्ण उपहास के अनेक उदाहरण उनकी कृतियों मे से उद्धृत किये जा सकते है।

अध्यवसाय तथा स्वाध्याय—जीवन की विषमताओं से जूझने के लिए जिस कार्य तत्परता की अपेक्षा है वह हमे शुक्लजी के व्यक्तित्व में समुचित मात्रा में विद्यमान है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निरन्तर परिश्रम करना उनका एक विशेष चारित्रिक गुण है। इसी गुण ने उनके साधारण जीवन को असाधारण वना दिया है। अध्ययनशीलता के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि बाल्यकाल से ही उनके मन मे पुस्तकों के स्वाध्याय की प्रबल उत्कण्ठा विद्यमान थी। प्राय: वे रात के एक बजे तक विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन में निरत रहते थे। घर में पुस्तकों की कमी न थी। उनके

पिता के सहपाठी 'रामकृष्ण वर्मा' के 'भारत जीवन प्रेस' से प्रकाशित होने वाली प्रायः सभी पुस्तकें उनके घर आती थीं और वे निरन्तर उन पुस्तकों के अध्ययन में सलग्न रहते थे। इस सुविधा ने उनमे अध्ययनशीलता का गुण उत्पन्न कर दिया था। इस प्रकार साहित्यिक जीवन के निर्माण मे इस चारित्रिक विशेषता ने महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया था।

संकोच की अतिशयता—विषम परिस्थितियों ने शुक्लजी को अन्तर्मुखी बना दिया था। अन्तर्मुखी व्यक्ति में सकोच की मात्रा प्रायः उत्पन्न हो जाती है। शुक्लजी के व्यक्तित्व मे संकोच की अतिशयता मिलती है। वे इस 'सकोच' गुण की अपने लेखों मे सर्वत्र प्रशसा भी करते है। वे यह समझते है कि जिसमें शील-सकोच नही वह पूरा मनुष्य नही। इसके विना भलमनसाहत भी नही पनप सकती। इसकी अतिशयता की वे निन्दा भी करते है, क्योकि इसकी अतिशयता से मानव कष्ट अधिक उठाता है और अपने नित्य-नैमित्तिक व्यवहारों के निर्वाह मे बड़ी कठिनाई का अनुभव करता है। शुक्लजी में इसी प्रकार की अतिशयता थी। डा० श्यामसुन्दरदास जी के कथनानुसार उनके संकोच की मात्रा इतनी बढी हुई थी कि स्वार्थी और कुचक्री लोग उनके पीछे पड़ कर येन-केन-प्रकारेण अपना काम निकाल लेते थे, चाहे वह उनकी रुचि अन्तरात्मा के कितना ही विरुद्ध क्यो न हो।

सात्त्विकता से अनुराग और कृत्रिमता के प्रति विरक्ति—इस सकोचशीलता ने उनमे व्यावहारिक पवित्रता की सृष्टि कर दी है। जीवन में सरलता और सात्त्विकता जिसे 'शील' का नाम दिया जा सकता है, उन्हे अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। उनकी दृष्टि मे यही शील धर्म का पर्याय है। श्रद्धा के विषयो के सम्बन्ध मे चर्चा करते हुए उन्होंने अपने एक लेख 'श्रद्धा-भक्ति' मे अपनी इसी भावना का प्रकाशन किया है। वे कहते है—"जन-साधारण के लिए शील का ही सबसे पहले ध्यान होना स्वाभाविक है, क्योकि इसका सम्बन्ध मनुष्य-मात्र की सामान्य स्थिति रक्षा-से है।"

कृत्रिमता उन्हे सर्वथा अप्रिय है। दूसरो से श्रद्धा प्राप्त करने के लिए प्रायः लोग इस का आश्रय लेते है। ऐसे लोगों से शुक्लजी को अत्यन्त चिढ़

प्रतीत होती है। 'श्रद्धा-भक्ति' शीर्षक लेख में ही उन्होंने अपनी इस प्रवृत्ति को स्पष्ट झलका दिया है। वे लिखते है—"समाज मे ये वस्तुएँ सच्चे गुणियों और परोपकारियों के लिए है, पर इन्हे छीनने और चुराने की ताक मे बहुत मे चोर-चाँई और लुटेरे रहते है, जो इनके द्वारा स्वार्थ-साधन करना या अपनी तुच्छ मानसिक वृत्तियो को तृप्त करना चाहते है। इनसे समाज को हर घडी सावधान रहना चाहिए—इन्हें सामाजिक दण्ड देने के लिए उसे सदा सन्नद्ध रहना चाहिए। ये अनेक रूपो मे दिखाई पड़ते है। कोई गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डका पीटता दिखाई देता है, कोई देश हितैषिता का लम्बा चोगा पहने देशोद्धार की पुकार करता पाया जाता है।"

इस उद्धरण मे यह स्पष्ट है कि शुक्लजी में सात्त्विकता से अनुराग और कृत्रिमता से विरक्ति है। इन दोनो गुणो के मूल मे विद्यमान उनकी सामाजिक वृत्ति भी विशेष उल्लेखनीय है। लोक-कल्याण-भावना उनके जीवन का एक प्रमुख तथ्य है। हम उनके जीवन-दर्शन मे, साहित्यिक विश्लेषण में, सर्वत्र इसी भावना को अन्तर्निहित देख सकते है। यदि वे भावों मे से 'करुणा' को महत्त्व देते है; यदि वे 'क्रोध' जैसे उग्रभाव की आवश्यकता का प्रतिपादन करते है; यदि वे राम-साहित्य को कृष्ण-साहित्य से अधिक प्रधानता देते है, यदि वे मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य मे अपनी रुचि प्रदर्शित करते है; यदि वे काव्य मे उग्रभावों के वर्णन मे भी उत्कर्ष की कल्पना करतेहै; यदि वे छायावादी रचनाओं के प्रति अपनी आंशिक विरक्ति झलकाते है; यदि वे ऐकान्तिक प्रेम के चित्रण से लोक जीवन-सश्लिष्ट प्रेम के वर्णन को अधिक महत्त्व प्रदान करते है, यदि वे गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म, लोकधर्म और विश्वधर्म के रूप में धर्म की भूमियाँ कल्पित करते है; यदि वे रूप सौन्दर्य के साथ कर्म सौन्दर्य की भी प्रतिष्ठा करना चाहते है; यदि वे शील गुण को सबसे अधिक श्रद्धेय समझते है; यदि वे 'उत्साह' की गणना सद्गुणों मे करते है; यदि वे पाप के फल को छिपाने वाले को पाप छिपाने वाले की अपेक्षा अधिक अपराधी सिद्ध करते है; यदि वे राम के जीवन के साथ रावण के जीवन में भी उपयोगिता की सृष्टि कर लेते है; यदि वे

निर्गुण भक्ति के समक्ष सगुण भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते है; यदि वे भक्ति के सामाजिक महत्त्व को; इसकी लोक-हितकारिणी शक्ति को स्वीकार करते है, यदि वे कलाओं में साधन-सम्पन्नता की अपेक्षा उनसे पड़ने वाले मनोहारी प्रभाव का अधिक मूल्य आँकते है, यदि वे पक्के राग गाने वालों के स्वर संधान को आठ अंगुल मुँह फैलाना या स्वरग्राम की लम्बी-चौड़ी कवायद कहते है, यदि वे सच्चा विद्वान् उसे ही समझते है जो ज्ञान का भण्डारी भी हो और उपयोग-कर्त्ता भी हो; यदि वे नीतिवादी है और काव्य में व्यावहारिक उपयोगिता का अनुसधान करते है; यदि वे सदाचारी एवं लोकोपकारी के प्रति नतमस्तक होना परम कर्तव्य मानते है तो केवल इसीलिए कि वे लोकवादी है, लोक-सग्रह की भावना मे ओत-प्रोत है। उनकी सामाजिकता उनके सारे कृतित्व पर सघनता से प्रतिच्छायित है। उनके व्यक्तित्व का समाहार इसी लोकवाद मे किया जा सकता है। लोक मगल भावना ने उनके व्यक्तित्व को चार चाँद लगा दिये है। वह हमारे लिए अनुकरणीय एवं उपादेय बन गया है।

प्रकृति-प्रेम—शुक्लजी के व्यक्तित्व की समीक्षा करते हुए यदि उनके प्रकृति-प्रेम की चर्चा न की जाए तो यह समीक्षा अधूरी कहलाएगी। लोक-संग्रह की भावना के समान उनके प्रकृति-प्रेम ने भी उन्हे अत्यन्त गहराई के साथ प्रभावित किया है। शुक्लजी के जीवन से प्रकृति का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वे प्रकृति के अनन्य प्रेमी थे। बाल्यकाल से ही उनका यह प्रकृति-प्रेम उत्कट रूप में प्रकट होने लगा था। वनस्पतियों में विहार करना, कलकल-निनाद करती जलधारा का चिरकाल तक अवलोकन करना, लता-विटपों के शाखा-पल्लवों की हरीतिमा से उल्लसित होना, सघन द्रुमों की शीतल छाया में निरन्तर विश्राम करना, पर्वतों की चोटियो पर विहार करना उनके बाल्यकाल के जीवन का प्रमुख अग था। यह प्रकृति-प्रेम आजीवन उनमे स्थिरता से विद्यमान रहा। बड़ी आयु मे भी वे यथावसर वन-विहार का आनन्द उठाने में प्रवृत्त होते रहे। उनका यह प्रकृति-प्रेम उनके लेखों में भी यथास्थान उभरता परिलक्षित होता है। 'लोभ और प्रीति'

शीर्षक लेख में सच्चे देश-प्रेम की व्याख्या के प्रसंग मे उनकी ये पक्तियाँ उनके हृदय मे बीज रूप से विद्यमान प्रकृति-प्रेम को ही झलकाती है। वे कहते है—"बाहर निकलो तो आँखे खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे है, नाले झाड़ियो के बीच से कैसे बह रहे है, टेसू के फूलो से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुण्ड चरते है, चरवाहे तान लडा रहे है, अमराइयो के बीच मे गाँव झाँक रहे है।" एक-एक शब्द से प्रकृति-प्रेम की मधुर धारा प्रवाहित हो रही है। प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ के प्रति उनके हृदय मे आकर्षण है। वे प्रकृति के मधुर, कोमल तथा सुरूप पदार्थो मे ही आकृष्ट नही होते अपितु उनके लिए भीषण, कठोर तथा कुरूप प्राकृतिक दृश्य भी विमोहक बन जाते थे। वे उन लोगों मे से नही थे जिन्हे प्रकृति के सामान्य पदार्थो मे तल्लीन होने मे असभ्यता की गध आती है। उक्त लेख मे ही वे अपने एक लखनवी मित्र की चर्चा करके ऐसे लोगों के प्रति अरुचि प्रदर्शित कर देते हे। वे लिखते है—"मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुन्दर एक छोटी-सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे एक छोटा-सा जंगल है, जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत-से है। वसन्त का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—"महुओ की कैसी मीठी महक आ रही है।" इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोक कर कहा, "यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिए लोग देहाती समझेंगे। मै चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन मे बडा भारी बट्टा लगता है।"

यह स्पष्ट है कि शुक्लजी प्रकृति के पदार्थो के प्रति अपनी रुचि प्रकट करने मे सकोच नहीं करते थे। काव्य सिद्धान्तो के विवेचन मे भी उनका यह प्रकृति-प्रेम छिपा नही रह सका है। उन्हे इस बात का खेद है कि हिन्दी की कविताओं मे प्राकृतिक दृश्यो का वह सूक्ष्म वर्णन नही मिलता, जो सस्कृत की प्राचीन कविताओ मे पाया जाता है। वे काव्य मे प्रकृति का आलम्बन रूप मे वर्णन देखना चाहते है। प्रकृति के नाना रूपों को वे रसात्मक-बोध के के योग्य समझते हैं। उनकी धारणा के अनुसार अनेक प्रकार के प्राकृतिक

दृश्यो के दर्शनकाल मे हम एक मधुर भावना की अनुभूति करते है और यह काव्य मे प्रसिद्ध रसात्मक अनुभूति से किसी भी रूप मे कम नही है। शुक्लजी को अपने इस प्रकृति-प्रम पर बड़ा गर्व है। मृत्यु के कुछ ही दिन पूर्व मिर्जा-पुर के कवि-सम्मेलन मे उनका यह गर्व इन शब्दों मे साकार हो गया था—
"मै मिर्जापुर को एक-एक झाड़ी, एक-एक टीले से परिचित हूँ। उसके टीलो पर चढा हूँ। वचपन मेरा इन्ही झाड़ियों की छाया में पला है। मैं इसे कैसे भूल सकता हूँ। लोगों की अन्तिम कामना रहती है कि वे काशी मे मोक्ष-लाभ करे, किन्तु मेरी अन्तिम कामना यही है कि अन्तिम समय मेरे सामने मिर्जापुर का वही प्रकृति का दिव्य खण्ड हो, जो मेरे मन मे भीतर-बाहर बसा हुआ है।"

उक्त विवेचन के माध्यम से हमने शुक्लजी के निजी व्यक्तित्व के चित्र की रेखाओ को अधिक स्पष्ट करने का उपक्रम किया है। उनका यह निजी व्यक्तित्व हमारे लिए अत्यन्त उपादेय है। इसी के आधार पर हम उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के मर्म को हृदयगम करने में समर्थ हो सकेंगे। शुक्लजी की गम्भीरता, अध्ययनशीलता तथा अन्तर्दृष्टि ने साहित्यिक क्षेत्र मे उन्हे वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की है। उनकी व्याख्यात्मक प्रवृत्ति इन्ही गुणों का रूपान्तर है। उनकी कृतियो मे वर्गीकरण की प्रवृत्ति का, तुलनात्मक दृष्टि-कोण का; क्रमबद्धता तथा अन्विति का समावेश इसी मूल प्रवृत्ति के कारण से हुआ है। उनकी समाजिकता, सकोचशीलता तथा सात्त्विकता ने उन्हे नीतिवादी एव मूल्यवादी बनने की प्रेरणा दी है। उनके बौद्धिक प्रयासो के चिन्तन प्रधान लेखों के. नीरस क्षेत्र को सरस, सुरम्य एव चित्ताकर्षक बनाने मे उनकी विषम जीवन-परिस्थितियों में दबी पडी हास्य-व्यग्य वृत्ति ने उल्लेख-नीय सहायता की है। यदि उनकी कृतियों मे भारतीय जीवन की, भारतीय सिद्धान्तो की; भारतीय एव शास्त्रीय भक्ति की; भारतीय काव्य परम्प-राओं की प्रशसा मिलती है तो उसका श्रेय उनकी आत्म-सम्मान की वृत्ति को दिया जा सकता है। उनका प्रकृति-प्रेम भी धन्य है जिसने उन्हे सच्चा देश-भक्त तथा भारतीय परम्पराओ का अनुरागी बना दिया है। पाश्चात्य

साहित्य के नवीन-नवीन भक्ति तथा काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों की चकाचौंध मे यदि उनकी दृष्टि मन्द एवं अशक्त नही हुई है; यदि इस नवीनता के भीषण अंधड़ मे भी वे अडिग रहे है तो केवल इसी भारतीयता के साथ दृढ़ा-सक्ति के कारण। भारत की अपनी प्राचीन सस्कृति सत्य को ग्रहण करने और असत्य के परित्याग का अमर सन्देश देती है। उनकी भारतीयता इस सन्देश को क्रियात्मक रूप देने मे उन्हे सदा प्रवृत्त करती रही है। सत्य सर्वदा तथा सर्वत्र ग्राह्य होता है यह सूत्र वाक्य शुक्लजी के साहित्यिक चिन्तन का आधार बन गया है। यदि वे काव्य समीक्षा मे समन्वयवादी है तो इसी सत्य तत्परता के कारण। निस्सन्देह उन्हे पुरातन-साहित्य-सरोवर प्रिय है, परन्तु उसमे व्याप्त मलिनता, रूढ़ि की काई ग्राह्य नही है। यदि इस प्राचीन-साहित्य-सरोवर मे नवीन जल-संचार से रूढि की मलिनता दूर की जा सकती है तो उन्हे इस नूतन धारा के अगीकरण में तनिक भी सकोच नही है। वे इस सरोवर मे से भ्रान्त धारणाओ, मान्यताओं के झाड-झखाड को उखाड फेकने मे भी हानि की आशंका नही करते है। उनकी भारतीयता उस स्थिति मे भी अक्षुण्ण रहती है। हसक्षीरन्याय मे उन्होने पाश्चात्य नवीन काव्य सिद्धान्तो के ग्राह्य एव सारपूर्ण तथ्यो को ग्रहण करके अपनी साहित्यिक उदारता एवं वैज्ञानिक निष्पक्षता का परिचय दिया है। अपने इसी व्यक्तित्व के कारण शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य मे अपना स्थान एक सफल गद्य-लेखक के रूप में, निबन्धकार के रूप मे, समालोचक के रूप मे तथा काव्य मीमासक आचार्य के रूप मे बना लिया है। हम उनके इसी व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि को लेकर उनके दार्शनिक मन्तव्यो, साहित्यिक मान्यताओं, आलोचना पद्धतियो, निबन्धों तथा अन्यान्य साहित्यिक कृतियों का विश्लेषण करने का प्रयत्न करेगे। इस प्रकार हम हिन्दी गद्य साहित्य के विकास में श्री रामचन्द्र शुक्ल की देन का मूल्यांकन करने मे सक्षम हो जाएँगे।

शुक्ल जी के दार्शनिक मन्तव्य

शुक्लजी की कृतियों की साहित्यिक समीक्षा के लिए उनके दार्शनिक मन्तव्यो का पर्यालोचन परमावश्यक है। उनकी कृतियों मे स्थान-स्थान पर प्रासगिक रूप से ये मन्तव्य बिखरे मिलते है। स्वतन्त्र रूप से 'दर्शन शास्त्र' के विषय को उन्होने नहीं लिया है। उनका प्रधानतम उद्देश्य तो साहित्यिक समीक्षा ही है, फिर भी उनके मन्तव्यों का निर्धारण किया जा सकता है।

दार्शनिकता का मूल—दर्शन, विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र भिन्न-भिन्न है, फिर भी इन सब के मूल मे प्रकृति से मानव का सम्पर्क ही है। मानव का जन्म प्रकृति की गोद में होता है और वह उसके द्वारा पालित-पोषित होकर वृद्धि प्राप्त करता है। प्रकृति के इस सहज सम्पर्क से मानव-मन में दो रूपों में प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती है। एक रूप मे वह दर्शनशास्त्र का विषय बन जाती है, क्योंकि इसका आधार बुद्धि होती है। इस रूप में आश्चर्यमयी प्रकृति मानव के ज्ञान केन्द्र को आन्दोलित करती है। वह यह सोचने लगता है कि इस नानाविध सृष्टि का निर्माता या नियन्ता कौन है? उसका स्वरूप कैसा है? उसका अधिवास कहाँ है? मानव की इस सृष्टि मे क्या स्थिति है? आत्म और अनात्म मे क्या अन्तर है? इस प्रकार अनेक प्रश्न उसे गम्भीर बौद्धिक चिन्तन मे तात्त्विक विश्लेषण में—प्रवृत्त कर देते है। मानव की इसी ज्ञानमूलक प्रवृत्ति का ही एक रूप विज्ञान कहलाता है। जिस समय यह प्रवृत्ति आत्म-अनात्म में कोई मौलिक अन्तर न मानकर उसके गोचर रूप का विश्लेषण करने मे निरत रहती है। तब वह विज्ञान के स्वरूप का विधान करती है। इसके विपरीत जब वह जीव और अजीव का भेद सिद्धान्ततः स्वीकार करके इनके पारस्परिक सम्बन्ध

का अनुसन्धान करने के लिए जीव रूप के विश्लेषण में प्रवृत्त करती है तब मानव दर्शनशास्त्र की रचना करने लगता है। फलतः प्रकृति का भौतिक दर्शन विज्ञान का विषय है और आध्यात्मिक दर्शन दर्शनशास्त्र का विषय माना जा सकता है। दोनो के मूल मे, निश्चित रूप से, प्रकृति विद्यमान रहती है। इसी प्रकार साहित्य के मूल मे भी प्रकृति का अस्तित्व निर्विवाद है, जब हम प्रकृति का दर्शन तात्त्विक रूप मे नही करते अपितु हृदय की अनुभूति के अनुरूप करने लगते है तब हम साहित्यिक सृष्टि करने लगते है। यह स्पष्ट है कि प्रकृति मानव की बौद्धिक व मानसिक प्रतिक्रियाओ के मूल मे निर्विवाद रूप से अन्तर्निहित रहती है।

शुक्ल जी की दार्शनिकता का रहस्य व स्वरूप—शुक्ल जी के प्रकृति-प्रेम ने उनके अन्दर दार्शनिक प्रतिभा को विकसित किया है। वे मूलतः साहित्यिक है। वे मानव जीवन में हृदयवृत्ति के अस्तित्व से प्रभावित है। दर्शन और विज्ञान दोनो ही उनकी साहित्यिक भावधारा के दृढ किनारे है। इन्ही दोनों के नियन्त्रण में उनका साहित्यिक चिन्तन गतिशील होता है। यही कारण है कि उन्होने प्रकृति का विभिन्न रूपो में दर्शन किया है। जब वे जर्मन वैज्ञानिक हेकल की Riddle of the Universe का अनुवाद 'विश्व प्रपच' नामक पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करते है तथा उसमे वर्णित आधुनिक विज्ञान व [illegible] विषयो को स्पष्ट करने के लिए अपना प्राक्कथन हमारे सम्मुख रखते है तब हम उन पर प्रकृति के विज्ञान सम्मत स्वरूप की छाया देखते है और यह अनुभव करने लगते है कि वे भौतिक-वादी है और अनात्मवादी आधिभौतिक सिद्धान्तो के समर्थक है। इसके साथ ही जब हम उन्हे यह स्वीकार करता देखते है कि आत्म और अनात्म के परस्पर सम्बन्ध का यथातथ्य विश्लेषण अभी तक विज्ञान नही कर सका है और वैज्ञानिक निरन्तर प्रयत्न करने के उपरान्त अभी तक यह जानने में असमर्थ रहे है कि जीव-तत्त्व का उपादान कारण क्या है फलत. वे अपनी प्रयोगशालाओ मे जीव-तत्त्व नही बना सके है, तब हमें वे जीव-तत्त्व की पृथक् सत्ता स्वीकार करते परिलक्षित होते है। उन्होने चेतन प्रकृति का

जीव-तत्त्व का—भी दर्शन किया है। उनके मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध इसी दर्शन के उदाहरण कहे जा सकते हैं। इन निबन्धों मे हम उन्हे प्रकृति का आध्यात्मिक दर्शन करते पाते है। इनको पढते समय हमे यह सन्देह नही होता कि शुक्ल जी आत्म-तत्त्व को स्वीकार नही करते है। आज उनके सम्बन्ध मे कुछ आलोचको की धारणा बनती जा रही है कि वे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के समर्थक है। इन आलोचको की धारणा का आधार उनका अनुवाद-ग्रन्थ ही है। अनुवादक के तटस्थ रूप पर ध्यान न देने से ही यह धारणा निश्चित रूप प्राप्त कर सकती है। केवल अनुवाद करने के कारण से ही हम यह निश्चित रूप से नही कह सकते कि अनुवादक शतप्रतिशत अनूदित-ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय से सहमत है। इस अनूदित-ग्रन्थ की भूमिका भाग के आधार पर हम कोई निश्चित मत स्थापित नही कर सकते है। निस्सन्देह, 'विश्व-प्रपच' की भूमिका मे से कई ऐसे उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते है जिनसे शुक्लजी का भूतवाद-अनात्मवाद—आभासित होता है परन्तु यह उनकी प्रतिपाद्य विषय के साथ तल्लीनता-मात्र है। वे अनुवाद करते समय भी वर्ण्य विषय को इतनी विशदता तथा पूर्ण अधिकार के साथ प्रस्तुत करते है कि वे वर्णन उनकी अपनी धारणा से प्रसूत प्रतीत होने लगती। हॉ, हम इतना अवश्य मान सकते है कि इस अनात्मवाद ने, आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानो ने उनकी चेतना मे भारतीय परम्पराओं तथा भारतीय दर्शन एव साहित्य द्वारा सस्थापित आस्थाओ को बड़े तीव्र आघात से झकझोरा है। उनकी वश-परम्परागत धारणा अपने चिर-स्थान सेहिली अवश्य है परन्तु आगे बढकर किसी अन्य स्थान पर वह दृढता से टिक नही सकी है। यही कारण है कि उनके स्वतन्त्र लेखो मे, साहित्यिक समीक्षाओं मे अनात्मवाद की छाया दृष्टिगोचर नही होती है। 'काव्य मे प्राकृतिक दृश्य' तथा काव्य में रहस्यवाद आदि निबन्ध उक्त बात का पूर्ण समर्थन करते प्रतीत होते है।

शुक्ल जी के अन्यान्य निबन्धों, भक्ति विषयक मान्यताओं की सर्वथा उपेक्षा करके केवल 'विश्वप्रपच' नामक अनुवादग्रन्थ की भूमिका के आधार

पर ही कोई निर्णय करना शुक्ल जी के प्रति अन्याय करना है। निस्सन्देह, इस वैज्ञानिक युग मे, मानव बुद्धि को चकित करने वाले नूतन वैज्ञानिक आविष्कारो के काल मे, रहने वाला कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति किसी अबौद्धिक धारणा को स्वीकार करने का दुस्साहस नही कर सकता है। शुक्ल जी भी इसके अपवाद नही है। अध्यात्मवादी आस्तिको के अन्ध-विश्वास उन्हे प्रिय नही हो सकते है। हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते है कि शुक्ल जी उसी बात को स्वीकार करना चाहते है जिसका आधार ज्ञान हो। तात्त्विक दर्शन के बिना विश्वास मात्र पर अवलम्बित प्रकृति, जीव तथा ब्रह्म का कोई स्वरूप व लक्षण उनकी वैज्ञानिक प्रतिभा को ग्राह्य नहीं हो सकता है।

भक्ति के विकास पर अपनी धारणाओ को प्रस्तुत करते हुए शुक्ल जी ज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन करते है। उनका यह एक सिद्धान्त वाक्य है कि ज्ञान प्रसार के भीतर ही भक्ति होती है। वे कहते है—"हमारे यहाँ भक्तिमार्गियो की ओर से ज्ञान क्षेत्र की ऐसी अवहेलना नही हुई, भक्ति ने ज्ञान का काम अपने ऊपर नही लिया। गीता का उपदेश तो यही रहा कि जानते चलो, भक्ति करते चलो और कर्म करते चलो। ज्ञान प्रसार के भीतर ही भक्ति होती है। जहाँ तक हम ईश्वर को जान पाते है वही तक उसकी भक्ति कर सकते है। उपनिषदों ने ब्रह्म के व्यापक स्वरूप का ज्ञान कराकर तब उपासना का मार्ग खोला है।" इसी प्रसग मे आगे चलकर वे तत्त्व-चिन्तन को अनिवार्यता प्रदान करते हुए लिखते है—"भक्ति मार्ग अपने विशुद्ध रूप मे धर्मभावना का भावात्मक या रसात्मक विकास है। यह विकास उपास्य ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा के उपरान्त ही होता है। स्वरूप की यह प्रतिष्ठा तत्त्व चिन्तन या ज्ञान की प्रकृत पद्धति के द्वारा ही हो सकती है और सर्वत्र हुई है। परोक्ष के सम्बन्ध मे, ईश्वर के सम्बन्ध मे, मूल नित्य सत्ता के सम्बन्ध मे जो बाते कही जाएँगी वे वास्तव मे शुद्ध बुद्धि की क्रिया द्वारा ही प्रस्तुत मानी जा सकती है। रागात्मिका वृत्ति द्वारा, भावोन्माद द्वारा, ऐसी बाते तो दूर रहे, साधारण बाते भी नही मानी जा

सकती।"

युग की वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने तत्त्वचिन्तन को महत्त्व प्रदान कर दिया है। शुक्लजी ने उस परोक्ष सत्ता के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करने का तो साहस नही किया। हॉ, उसके प्रति प्रचलित धारणाओ का शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण अवश्य किया है। इन धारणाओ मे जितना अश उन्हे बुद्धि प्रक्रिया के अनुकूल प्रतीत हुआ है, अथवा आधुनिकतम विज्ञान क्षेत्र के अनुसन्धानो की सीमा से परे दृष्टिगोचर हुआ है, उसके प्रति उनकी आस्था का अभाव प्रमाणित नही किया जा सकता है। ईश्वर, ब्रह्म या परमार्थ-तत्त्व के सम्बन्ध मे जितनी बातें ज्ञान-प्रक्रिया के साथ सीधा तथा स्वाभाविक सम्बन्ध रखने वाली है उनके प्रति शुक्लजी अनास्था प्रकट नही करते, इसके विपरीत जो केवल भावोन्माद है, हृदयोद्गार है उस पर विश्वास प्रकट करना उनके लिए कठिन था। अनेक रूपात्मक जगत् का जितना अश व्यक्त है, जितना अंश विज्ञान द्वारा बोधगम्य है उतने अश के प्रति किसी प्रमाण या तर्क की अपेक्षा नही है, परन्तु जो अव्यक्त है, परोक्ष है, जिसके प्रति विज्ञान भी हमारी कुछ सहायता नही कर पाया है, उसको स्वीकार करने के लिए शुक्लजी ज्ञान, तर्क व अनुमान का आश्रय लेना अनिवार्य समझते है। यही कारण हे कि 'विश्वप्रपंच' की भूमिका को छोड़कर अन्यत्र स्थलों पर वे ज्ञान सम्मत एवं तर्कानुमोदित ब्रह्म के अस्तित्व व स्वरूप का विरोध नही कर सके है। शुक्लजी ने मानव ज्ञान को अज्ञान सापेक्ष माना है। अतएव वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इस नाम रूपात्मक जगत् के बीच परमार्थ तत्त्व का शुद्ध स्वरूप पूरा-पूरा निरूपित नही हो सकता है। उनकी यह धारणा है कि मानव-ज्ञान के इस सापेक्ष स्वरूप को देखकर आजकल के बड़े-बड़े विज्ञान-विशारद इतनी दूर पहुँचकर ठिठक गए है। आगे का मार्ग उन्हे दिखाई ही नही पड़ता। फलत. हम यह कह सकते है कि शुक्लजी ईश्वर और जीव का सर्वथा निषेध नही करना चाहते। इस विषय मे वे विज्ञान की असफलता को भी अंगीकार करते है। इस अध्यात्म क्षेत्र मे मानव-बुद्धि के आश्रय से ही विचरण हो सकता है। उनकी धारणा

यह है कि जगत् के इन बदलते हुए नाना रूपो की तह मे कोई एक नित्य, अपरिच्छिन्न और अपरिणामशील सत्ता है, मनुष्य की सोचने वाली बुद्धि ज्ञान-विकास की उन्नत दशा में अवश्य इस बात तक पहुँचती है। ये भक्ति के विकास पर विवेचना करते हुए यह स्वीकार करते है—"सान्त से असन्तोप भी सभ्य दशा को पहुँची हुई मनुष्य जाति के लिए स्वाभाविक है। जब उसकी बुद्धि इस विराट् विश्व की ओर देखती है तब उसकी अनन्तता और प्रवाह नित्यता का अनुमान बँधता है और वह सान्त रूपो के चिन्तन से सन्तुष्ट न होकर अनन्त और नित्य समष्टि के चिन्तन की ओर बढ़ती है।" यह स्पष्ट है कि शुक्लजी इस परोक्ष सत्ता के अस्तित्व मे अनुमान को प्रमाण मान कर चले है।

ईश्वर—ईश्वर के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र एव निरपेक्ष चर्चा शुक्लजी ने कही नही की है। यही कारण है कि हम शुक्लजी के सम्बन्ध मे कोई सर्व-सम्मत निश्चित मत की स्थापना नही कर सकते है। भक्ति तथा काव्य-सम्बन्धी विवेचनों में यद्यपि उन्होने विषय का प्रतिपादन वैज्ञानिक तटस्थता से किया है तथापि बीच-बीच मे उनका हृदय उचकता-झाँकता अवश्य प्रतीत होता है। हम ऐसे ही स्थलों को अपना आधार बनाकर किसी मत की स्थापना करने के लिए विवश है। उनके हृदय की अभिव्यक्ति करने वाले विभिन्न स्थलों का गम्भीर विश्लेषण यह सकेतित करता है कि शुक्लजी आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानो से अत्यन्त प्रभावित है। उनकी प्रवृत्ति नवीन वैज्ञानिक अनुसन्धानों के निष्कर्षो को स्वीकार करने की ओर ही है। फिर भी हम यह नही कह सकते कि उनकी चेतना से आस्तिकता का अंश सर्वथा उच्छिन्न हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी भारतीय अध्यात्म भावनाओ से प्रभावित चेतना ईश्वर के अस्तित्व का सर्वथा प्रत्याख्यान करने को उद्यत न थी, परन्तु उसके अवैज्ञानिक, तर्क विरुद्ध स्वरूप को भी स्वीकार नही करना चाहती थी। यही कारण है कि भक्ति विषयक अनेक वादो की चर्चा करते समय उन्होने ईश्वर सम्बन्धी अनेक मिथ्या कल्प-नाओ के प्रति अपनी अनास्था प्रकट कर दी है। इसके साथ ही ईश्वर की

सत्ता के सम्बन्ध मे अनादिकाल से मानव-हृदय जो स्वाभाविक अनुभूति करता चला आया है उसका सहसा प्रत्याख्यान भी उनके लिए सम्भव नहीं था। इसीलिए भारतीय भक्ति क्षेत्र के ब्रह्म के स्वरूप की चर्चा करते समय उनका हृदय रमता प्रतीत होता है। भारतीय भक्ति-पद्धति का जिस रूप मे विश्लेपण व समर्थन उन्होने किया है उसे देखते हुए हमे उनको आस्तिक एव अध्यात्यवादी स्वीकार करना पड़ता है। सर्वथा नास्तिक, अनात्मवादी या भौतिकवादी उस रूप मे ब्रह्म तथा उसकी भक्ति की विवेचना नही कर सकता है।

'विश्व प्रपच' की भूमिका मे शुक्लजी ने लिखा है—"इसमे सन्देह नही कि विकास-सिद्धान्त के नियमो की चरितार्थता के लिए वैज्ञानिक निरन्तर प्रयत्न करते जा रहे है; जिससे मार्ग की कठिनाइयां बहुत-कुछ दूर होती जा रही है। निर्जीव से सजीव द्रव्य की उत्पत्ति को ही लीजिए। अब लोग यह देखने लगे है कि रासायनिको को सजीव द्रव्य की योजना मे अब तक जो असफलता होती आई है वह इस कारण कि सजीव द्रव्य के मूल मे आदिम रूप की उन्हे ठीक धारणा ही नही रही है।" उद्धरण के अन्तिम वाक्य मे विज्ञान की असफलता का सकेत है। क्योकि भौतिक विज्ञान अभी तक चेतना का पूरा रहस्य हृदयंगम नही कर सका है; अतएव शुक्लजी इसके सम्बन्ध में प्रचलित मतों के विश्लेपण में प्रवृत्त हुए है। इस क्षेत्र में विज्ञान की अपेक्षा उन्होंने सहज तर्क का आश्रय लिया है और वे इस परिणाम पर पहुँचे है कि मनुष्य की बुद्धि और हृदय ने मिलकर ईश्वर की प्रतिष्ठा की है। 'काव्य मे रहस्यवाद' इस लेख की निम्नलिखित पंक्तियाँ उक्त कथन का समर्थन करती है—

"यदि यह कहा जाए कि ईश्वर को किसी ने नही देखा है, पर ईश्वर-भक्ति बराबर होती आई है तो इसका उत्तर यह है कि ईश्वर को ज्ञेय बना कर ही उसकी उपासना और भक्ति का आरम्भ हुआ है। ईश्वर को प्रेमपूर्ण दयालु, पिता या स्वामी के रूप मे अन्त-करण के सामने रखकर ही प्रेम या भक्ति का चरम आलम्बन मनुष्य जाति ने खड़ा किया है।"

इस उद्धरण से यही सकेत मिलता है कि वे ईश्वर-प्रतिष्ठा मे, उसके स्वरूप व गुणो के प्रतिपादन मे मनुष्य की सहज बुद्धि तथा अन्त.करण की सहजवृत्ति के महत्त्वपूर्ण योग को स्वीकार करते है । यही बात 'श्रद्धा-भक्ति' के प्रसग मे कही गई है—"ज्ञानक्षेत्र मे ईश्वर की खोज मे हम उतने ही घेरे मे करेगे जितने मे इन्द्रियो की सहायता लेकर बुद्धि पहुंचती है और कर्म क्षेत्र मे उसकी भावना हम उसे उतने ही भावो से परिमित करके करेगे जितने की हमारे मन मे जगह है ।" वे यह मानते है कि मनुष्य अपने-आप को उस सर्वात्मा का सर्वोत्तम अश समझता है अत. मानव-समाज की स्थिति रक्षा के लिए उसे जिन गुणो की आवश्यकता प्रतीत होती है उन सबकी प्रतिष्ठा वह उस सर्वात्मा मे कर देना चाहता है । अपनी आत्मा मे दया, दाक्षिण्य, प्रेम आदि स्थिति-रक्षा विधायक गुणो का अस्तित्व देखकर वह उस सर्वात्मा मे भी इन उदात्त गुणो की चरम सीमा स्वीकार करने के लिए विवश हो जाता है और उसे वह परम दयालु, परम प्रेममय, मन्युस्वरूप समझने लगता है । वे कहते है—"अपने व्यवहार पथ मे आश्रय-प्राप्ति के निमित्त मनुष्य के लिए ईश्वर की स्वानुरूप भावना ही सभव है । स्वानुभूति ही द्वारा वह उस परमानुभूति की धारणा कर सकता है ।"

ईश्वर के अस्तित्व मे प्रत्यक्ष प्रमाण के न होने के कारण भले ही शुक्लजी की तर्कणा परम सत्ता को स्वीकार करने मे बाधक बन जाए परन्तु उनकी हृदय वृत्ति इस तर्कणा का पूर्णत: साथ देती प्रतीत नही होती उनकी हृदय वृत्ति ईश्वर की आवश्यकता को निस्संकोच स्वीकार करने को उद्यत है । भक्ति के स्वरूप पर विचार करते हुए उन्होने स्थान-स्थान पर यह सकेत दिया है कि ईश्वर की सत्ता-स्वीकृति से मानव-मन मे उदात्त नैतिक गुणों की प्रतिष्ठा की जा सकती है । उनका हृदय यह स्वीकार करता प्रतीत होता है कि ईश्वर मे आस्था रखने से मानव-उच्च भाव भूमि पर अधिष्ठित हो सकता है । 'तुलसी का भक्ति मार्ग' शीर्षक लेख का निम्नलिखित अश इसी बात का समर्थन करता है—

"प्रभु के महत्त्व के सामने होते ही भक्त के हृदय मे लघुत्व का अनुभव

होने लगता है। उसे जिस प्रकार प्रभु का महत्त्व वर्णन करने मे आनन्द आता है, उसी प्रकार अपना लघुत्व वर्णन करने मे भी। प्रभु की अनन्त शक्ति के प्रकाश में उसकी असामर्थ्य का, उसकी दीन-दशा का बहुत साफ चित्र दिखाई पड़ता है और वह अपने ऐसा दीन-हीन नसार मे किसी को नही देखता। प्रभु के अनन्तशील और पवित्रता के सामने उसे अपने मे दोष-ही-दोष और पाप-ही-पाप दिखाई पड़ने लगते है। इस अवस्था को प्राप्त भक्त अपने दोषो, पापो और त्रुटियो को अत्यन्त अधिक परिमाण मे देखता है और उनका जी खोल कर वर्णन करने मे बहुत-कुछ सन्तोष लाभ करता है। दम्भ, अभिमान, छल, कपट आदि मे से कोई उस समय बाधक नही हो सकता। इस प्रकार अपने पापो की पूरी सूचना देने से जी का बोझ ही नही सिर का बोझ भी कुछ हलका हो जाता है। भक्त के सुधार का भार उसी पर न रहकर बॅट-सा जाता है।"

अनेक उद्धरण इस बात का स्पष्ट सकेत करते है कि ईश्वर की सत्ता यदि वैज्ञानिक अन्वेषणों के माध्यम से सिद्ध नही हो सकती और यदि मानव की तर्कणा शक्ति उसके अस्तित्व को स्वीकार करने मे बाधक भी बनती है तो भी मानव की हृदय वृत्ति उसे स्वीकार करके अनन्त सुख का उपार्जन कर लेती है। शुक्लजी की धारणा है कि यदि मानव अपने हृदय मे भगवान् के लोकरजनकारी रूप की प्रतिष्ठा कर ले तो उसके आलम्बन से मानव कल्याण-मार्ग की ओर आप-से-आप आकर्षित हो सकता है। वे लिखते है—

"इसी हृदय-पद्धति द्वारा मनुष्य में शील और सदाचार का स्थायी संस्कार जम सकता है। दूसरी कोई पद्धति है ही नही। अनन्त शक्ति और अनन्त सौन्दर्य के बीच मे अनन्तशील की आभा फूटती देख जिसका मन मुग्ध न हुआ, जो भगवान् की लोक रजक मूर्ति के मधुर ध्यान मे कभी लीन न हुआ, उसकी प्रकृति की कटुता बिलकुल दूर नही हो सकती।"

आस्तिक हृदय से ही ये पक्तियाँ निकल सकती है। इसलिए हम यह निस्संकोच कह सकते है कि शुक्लजी हृदय से आस्तिक है। आधुनिक

विज्ञान ने उनके मस्तिष्क को अवश्य प्रभावित किया है, हृदय को नही। उनके हृदय ने ही उन्हे भगवत्स्वरूप निर्धारण मे प्रवृत्त किया है। इस कार्य मे उनके विज्ञान से अभिभूत मस्तिष्क ने पर्याप्त सहयोग दिया है। उनकी वैज्ञानिक चेतना ने प्रचलित भगवान् के स्वरूप के विश्लेषण के उपरान्त एक ऐसे स्वरूप की प्रतिष्ठा की है, जिसे उनकी बुद्धि और हृदय वृत्ति स्वीकार करती परिलक्षित होती है। यह कहा जा सकता है कि उनकी वैज्ञानिक चेतना और आस्तिक हृदय वृत्ति मे एक समझौता हो गया है। इस समझौते के परिणामस्वरूप वे ब्रह्म के अवैज्ञानिक स्वरूप का तो प्रत्याख्यान कर देते है, परन्तु वे प्रत्यक्ष प्रकृति की विशाल वेदी पर भगवान् के व्यक्त और गोचर रूप की प्रतिष्ठा देखना चाहते है अर्थात् वे सारे बाह्य जगत् को भगवान् का व्यक्त स्वरूप स्वीकार करते परिलक्षित होते है। 'काव्य मे रहस्यवाद' की निम्नलिखित पक्तियाँ इस बात का समर्थन करती है—

"इस प्रकार जब प्रकृति की विशाल वेदी पर अव्यक्त रूप मे उसके भीतर (Immanent) या बाहर (Transcandent) नही—भगवान् के व्यक्त और गोचर रूप की प्रतिष्ठा हो गई तब काव्यमयी उपासना या भक्ति की धारा फूटी जिसने मनुष्यों के सम्पूर्ण जीवन को उसके किसी एक खण्ड या कोने को ही नही—रसमय कर दिया।" इसी प्रसग मे आगे चलकर वे लिखते है—"सारा बाह्य जगत् भगवान् का व्यक्त स्वरूप है। समष्टि रूप मे वह नित्य है, अतः 'सत्' है; अत्यन्त रजनकारी है, अतः 'आनन्द' है। अतः इस 'सदानन्द' स्वरूप का वह प्रत्यक्ष अश जो मनुष्य की रक्षा मे (बना रहने देने अर्थात् सत् को चरितार्थ करने मे) और रजन से (सुख और मंगल का विधान करने में) अपार शक्ति के साथ प्रवृत्त दिखाई पड़ा, वही उपासना के लिए, हृदय लगाने के लिए, लिया गया।"

ब्रह्म का वह स्वरूप जो मानव हृदय का सुगमता से विषय नही बन सकता है वह शुक्लजी की चेतना को ग्राह्य नहीं है। उनकी धारणा यह है कि ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता मानव हृदय के संचरण क्षेत्र में नही है। इसी धारणा के ही कारण उन्होने निर्गुण-उपासना के प्रति अपनी अरुचि प्रकट

की है। ब्रह्म के सम्बन्ध में निर्गुण, असीम आदि शब्दो के प्रयोग का तात्त्विक विश्लेषण करते हुए वे लिखते है कि—

"अव्यक्त, निर्गुण, असीम इत्यादि निषेधवाचक शब्दो का अभिप्राय केवल इतना ही है कि जहाँ तक ब्रह्म हमारी परिमित बुद्धि का व्यक्त है, जिस सीमा तक हमारा ज्ञान पहुँच सकता है, जिस गुण समूह तक हमारी अनुभूति जा सकती है, उसके आगे भी वह अनन्त है, उसके आगे उसका स्वरूप न जाने कैसा है, उसके आगे उसके गुण न जाने क्या है। अतः व्यक्त और ससीम को ही लेकर भक्त ध्यान करने बैठता है, पर उसमे यह भावना और जोड़ देता है कि वह यही तक नही है, इसके आगे भी न जाने क्या और कहाँ तक है।"

शुक्लजी इस व्यवहार क्षेत्र से परे ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व को प्रेम या भक्ति का विषय नहीं मानना चाहते। उसे वे केवल चिन्तन का विषय मान सकते है। उनकी हृदय वृत्ति तो ब्रह्म-दर्शन के लिए इसी व्यक्त नाम रूपात्मक एवं गोचर जगत् में ही ब्रह्म की लीला के दर्शन करना चाहती है। उनकी बुद्धि वृत्ति ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता को स्वीकार करने मे कोई उपयोगिता नहीं समझती दूसरी ओर उनकी हृदय वृत्ति ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्दस्वरूप को ग्रहण करने के लिए उद्यत है परन्तु व्यक्त जगत् के माध्यम से ही। उन्होने श्री वल्लभाचार्य जी के दार्शनिक मन्तव्यो पर प्रकाश डालते हुए अपनी रुचि और अरुचि का परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप से संकेत कर दिया है। उनका गम्भीर अध्ययन करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वे इसी गोचर दृश्य जगत् मे ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप का दर्शन करना चाहते है। वे शुद्धाद्वैतवादी आचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त का परोक्ष रूप से समर्थन भी करते है।

श्री वल्लभाचार्य जी का सिद्धान्त है कि अक्षर (ब्रह्म) अपनी आविर्भाव-निरोभाव की अचिन्त्य शक्ति से जगत् के रूप मे परिणत भी होता है और उसके परे भी रहता है। ब्रह्म का यह परिणाम रूप अर्थात् जगत् असत् या मिथ्या नहीं है, वह भी सत् है। ब्रह्म के विकार या परिणाम ये नाम रूप

ब्रह्म से अनन्य है, उसी प्रकार जैसे मिट्टी से बने घड़े आदि भिन्न-भिन्न होने पर भी मिट्टी से अनन्य है, सोने के बने हुए कड़े, कुण्डल इत्यादि गहने भिन्न-भिन्न होने पर भी सोने से अनन्य है। कारण से बना हुआ कार्य उससे अनन्य होता है मिथ्या नही होता। इस आविर्भाव-तिरोभाव के सिद्धान्त का समर्थन शुक्लजी ने अपने 'काव्य मे लोक मगल की साधनावस्था' मे किया है। वे लिखते है—

"सत्, चित् और आनन्द-ब्रह्म के इन तीन स्वरूपो में से काव्य और भक्तिमार्ग 'आनन्द' स्वरूप को लेकर चले। विचार करने पर लोक मे इस आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएं पाई जाएँगी—साधनावस्था और सिद्धावस्था। अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे ब्रह्म के 'आनन्द' स्वरूप का सतत आभास नही रहता, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इस जगत् मे न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसन्त-विकास रहता है, न सुख समृद्धि पूर्ण हास-विलास।"

शुक्ल जी इस सारे विश्व व्यापार को ब्रह्म की लीला कहते है और वह मानते है कि यह सम्पूर्ण जगत्-प्रवाह ब्रह्म के रक्षण पालन और रजन से चल रहा है। उनकी यह धारणा है कि लोक के रक्षण और पालन में 'ब्रह्म' अपने सत्स्वरूप का प्रकाश करता है और रंजन द्वारा अपने 'आनन्द' स्वरूप का। इस आनन्दस्वरूप को सत्स्वरूप से भिन्न नही किया जा सकता है। ब्रह्म का यह स्वरूप उन्हे तुलसी की रामभक्ति मे पूर्णतया चरितार्थ होता दृष्टिगोचर हुआ है अतएव सूर की कृष्णभक्ति की अपेक्षा तुलसी की रामभक्ति का स्वरूप उन्हें अधिक मान्य रहा है। कृष्ण भक्ति मे केवल रजक रूप को ही ग्रहण किया गया है। ब्रह्म के पालक रूप का प्रतिपादन शुक्ल जी बड़े सशक्त शब्दो मे करते है और उसे तात्त्विक मानते है। वे लिखते है—

"अब प्रश्न यह हो सकता है कि ईश्वर का पालक और रक्षक रूप ही क्यों लिया गया। क्या यह रूप केवल भक्ति के व्यवहार के लिए आरोप-मात्र है? नही, यह तात्त्विक रूप है, आरोप मात्र नही है। यद्यपि भगवान्

की शक्ति क्षय और नाश भी करती है, पर एक बात है। क्षय का परिणाम नाश कभी और कही होता है, पर रक्षा के परिणाम पालन का प्रवाह अखण्ड और नित्य है। विश्व के भीतर असख्य खण्ड प्रलय होते रहते हैं—न जाने कितने लोक नष्ट होते रहते है—पर समष्टि रूप मे विश्व या जगत् बराबर चला चलता है। अतः पालक स्वरूप ही सत्स्वरूप है, नाशक रूप असत्, अनित्य और क्षणिक है।"

ब्रह्म के इस पालक रूप के साथ-ही-साथ शुक्ल जी उसके रजक रूप का भी समर्थन करते है। ब्रह्म की इस आनन्दकला के दर्शन भी इसी व्यक्त जगत् मे होते है। जगत् की सुख-समृद्धि, शान्ति-व्यवस्था, हास-विलास, आमोद-प्रमोद, सौन्दर्य-माधुर्य, भूति-प्रभूति, सुषमा-लालिमा में ब्रह्म की आनन्दकला के साक्षात् दर्शन सिद्ध हो जाते है, परन्तु दुःख-पीडा, कलह-क्लेश, रुदन-मर्दन, युद्ध-चीत्कार, रुदन-क्रन्दन, ध्वंस-विनाश मे आनन्दकला का तिरोभाव रहता है। लोक मे फैली दु.ख की छाया को हटाने मे ब्रह्म की आनन्दकला शक्तिमय, भीषण एव प्रचण्ड रूप धारण करती है और धीरे-धीरे अमंगल-विनाश की गहन घटा का आवरण चीरती हुई वह एक भव्य रूप मे प्रकट होने लगती है। अतएव उसकी भीषणता, कटुता तथा उग्रता मे भी सौम्यता, मधुरता तथा कोमलता रहती है। कहने का अभि-प्राय यह है कि शुक्ल जी की ईश्वर-भावना इस व्यक्त एवं गोचर जगत् की उपेक्षा नही कर सकती। यह जगत् ब्रह्म से भिन्न नही। ईश्वरोपासना अथवा भक्ति की दृष्टि से यह विश्व सर्वथा ग्राह्य है, त्याज्य एव उपेक्षणीय नही है। उनके भक्ति सम्बन्धी लेखों मे ऐसा झलकता है कि वे प्रकृति के इस व्यापक प्रसार मे ही भगवान् के दर्शन करने के लिए प्रेरणा देते है। विश्व मे जिस व्यक्ति या वस्तु से लोक का कल्याण और रंजन होता है, यह समझना चाहिए कि उस व्यक्ति या वस्तु के रूप मे भगवान् ही हमारा कल्याण कर रहे है और रजन कर रहे हैं। यही धारणा शुक्ल जी को अव-तारवाद के समर्थन मे प्रेरित करती परिलक्षित होती है। उनकी ये पक्तियाँ प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है—"मनुष्य का इस जगत् के साथ

जो अनेक रूपात्मक सम्बन्ध है उस सम्बन्ध को भगवत्सम्बन्ध के रूप मे प्रकाशित करने के लिए ये अवतार पृथ्वी पर आए है। माता-पिता जिस प्रेम से वालक की रक्षा और पालन करते है, पति-पत्नी जिस प्रेम मे एक दूसरे को अनुरजित करते है, भाई-भाई जिस प्रेम की प्रेरणा मे एक-दूसरे को सहारा देते है, जिस करुणा मे प्राणियो की रक्षा की जाती है, जिस क्रोध से जन समाज को पीडित करते हुए आततायियो और अत्याचारियो का दमन किया जाता है, वह प्रेम, वह करुणा, वह क्रोध, भगवान् का प्रेम, भगवान् की करुणा और भगवान् का क्रोध है।" इस वैज्ञानिक युग मे शुक्ल जी ईश्वर के किसी ऐसे स्वरूप को मानने को उद्यत नही है जो इस व्यक्त जगत् की अवहेलना करता हो अथवा मानव-हित के लिए अनुपयोगी हो। अवतार के मूल मे उन्हे व्यक्त जगत् का सम्बन्ध तथा मानव-हित का प्रतिपादन दिखाई दिया है अतएव वे इसका समर्थन कर देते है। अवतारवाद यह सन्देश देता है कि भगवान दूर नही है, हमारे जीवन में मिले हुए है। 'ईश्वर हमसे दूर है,' 'निर्गुण है,' 'वह विना पैर के चल सकता है', 'विना हाथ के मार सकता है 'और' सहारा दे सकता है' इत्यादि उक्तियाँ शुक्लजी की ईश्वर-भावना के अनुकूल नही है। अवतारवाद भगवान् के दर्शन इसी व्यक्त जगत् में कराने का आश्वासन देता है अतएव वे इसका समर्थन करते है और कहते है—"जब भगवान् मनुष्य के पैरों से दीन दुखियो की पुकार पर दौड़कर आते दिखाई दे और उनका हाथ मनुष्य के हाथ के रूप मे दुष्टों का दमन करता और पीडितो को सहारा देता दिखाई दे, उनकी आँखे मनुष्य की आँखे होकर आँसू गिराती दिखाई दे तभी मनुष्य के भावो की तृप्ति हो सकती है।"

विज्ञान मानव बुद्धि पर अकुश रख सकता है, परन्तु उसके हृदय को अपने नियन्त्रण मे नही रख सकता है। शुक्ल जी भले ही अपने वौद्धिक चिन्तन मे ईश्वर सत्ता को स्वीकार न करना चाहे, परन्तु उनकी,हृदय वृत्ति उसका सर्वथा प्रत्याख्यान नही कर सकी है। इसी वृत्ति ने ईश्वर सम्बन्धी धारणाओ मे से अपने वौद्धिक चिन्तन के अनुरूप ईश्वर के स्वरूप के समर्थन

की प्रेरणा दी है। पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट की ईश्वर भावना के समान शुक्ल जी भी व्यवहार पक्ष मे ईश्वर-तत्त्व को स्वीकार करते प्रतीत होते है। वे काण्ट की इस धारणा के समीप प्रतीत होते है कि शुद्ध बुद्धि के द्वारा तो नाम रूपात्मक जगत् से परे वस्तु-तत्त्व तक हम नही पहुँच सकते, पर व्यवहार बुद्धि द्वारा पहुंच जाते है। इच्छा या कर्मेच्छा पारमार्थिक वस्तु का आभास देती है अर्थात् मानव हृदय किसी पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति द्वारा आत्मसन्तोष प्राप्त करने का उपक्रम करता है। परमार्थ पक्ष मे शुक्ल जी भी आधुनिक भौतिकवादी हेकल तथा विकासवादी डारविन की विचारधाराओ से अत्यन्त गम्भीरता से प्रभावित है, अतएव अनात्मवादी-आधिभौतिक पक्ष के सिद्धान्त ग्रन्थ Riddle of the universe (विश्व-प्रपच) की भूमिका मे कही-कही उनके द्वारा ऐसी बाते कह दी गई है कि हम उन्हे शुद्ध अनात्मवादी, भौतिकवादी समझने की भूल कर सकते है। उदाहरण के लिए ईश्वर के सम्वन्ध में उनकी निम्नलिखित पक्तियाँ हमें चकित कर सकती है—

"ईश्वर साकार है या निराकार, लम्वी दाढी वाला है कि चार हाथ वाला, अरवी बोलता है कि सस्कृत, मूर्ति पूजने वालों से दोस्ती रखता है कि आसमान की ओर हाथ उठाने वालों से, इन वातो पर विवाद करने वाले अव केवल उपहास के पात्र होगे।" इसी प्रकार सृष्टि के जिन रहस्यों को विज्ञान खोल चुका है उनके सम्वन्ध मे जो प्राचीन पौराणिक कथाएँ और कल्पनाएँ—छः दिन मे सृष्टि-रचना की उत्पत्ति, आदम-हौवा का जोड़ा, चौरासी लाख योनि इत्यादि है, वे अव ढाल तलवार का काम नही दे सकती।"

इस प्रकार की अन्यान्य ईश्वर विरोधी उक्तियो को देखकर सामान्यतः शुक्ल जी को भी अनात्मवादी, नास्तिक कहा जा सकता है, परन्तु उनके सारे साहित्य को, साहित्यिक आलोचनाओ का तुलनात्मक अध्ययन तथा गम्भीर विश्लेषण के द्वारा यह निर्णय समुचित एव युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता है। इन उक्तियो से हम केवल इतना ही कह सकते है कि वे विश्व

के ईश्वर-सम्बन्धी विभिन्न मतों, सम्प्रदायों में प्रचलित अवैज्ञानिक एवं निर्मूल अन्धविश्वासो, भ्रान्त धारणाओ को उपहासास्पद समझते है और विज्ञान-अविरोधी, तर्कसम्मत ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा देखना चाहते है। विश्वप्रपंच की भूमिका मे उनका यह कथन कि सब मतों और सम्प्रदायों मे धर्म और ईश्वर की जो सामान्य भावना है उसी का पक्ष अब शिक्षित पक्ष के अन्तर्गत आ सकता है—हमारी बात का समर्थन करता है। भक्ति के स्वरूप व विकास के सम्बन्ध मे चर्चा करते हुए अथवा सूरदास तथा तुलसीदास की काव्य-सम्बन्धी विशेपताओं का विवेचन करते हुए उन्होने अपनी इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

प्रकृति—तुलसी की भक्ति पद्धति की प्रशंसा करते हुए वे इस व्यक्त जगत् अथवा प्रकृति के महत्त्व को स्वीकार करते है—"अत· यदि परमात्मा को, भगवान को देखना है तो उन्हें व्यक्त जगत् के सम्बन्ध से देखना चाहिए। इस मध्यस्थ के बिना आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध व्यक्त ही नही हो सकता।" शुक्ल जी के दार्शनिक मन्तव्यों पर विचार करते समय आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने वाली प्रकृति के प्रति उनकी धारणाओं और मान्यताओं से भी परिचय प्राप्त करना उपयोगी होगा।

शुक्ल जी ने इस प्रकृति को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता के रूप में वर्णित किया है और इसे ब्रह्म की प्रत्यक्ष विभूति भी कहा है। इसी आधार पर प्रकृति की प्रत्येक गति मे उन्हे सौन्दर्य और मगल के दर्शन होते है। इस प्रकार प्रकृति उनकी रागात्मिका वृत्ति के साथ सीधा सम्बन्ध रखती प्रतीत होती है। प्रकृति का प्रत्येक कुरूप-सुरूप, कोमल-कठोर, भीषण-मधुर, सौम्य-प्रचण्ड पदार्थ उनके अनुराग का, आकर्षण का पात्र है। साहित्यिक आलोचनाओ के प्रसगो मे प्रकृति के प्रति उनके बौद्धिक दर्शन का आभास नहीं मिलता है। 'विश्व प्रपच' की भूमिका मे प्रकृति का तात्त्विक विवेचन शुक्ल जी ने किया है। इस विवेचन का मूल आधार आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धान ही है। इस सारे विवेचन पर विकासवाद के सिद्धान्तों की छाया

निर्विवाद रूप से परिलक्षित होती है। उनकी अपनी खोज या मत-स्थापना का कोई प्रयास प्रमाणित नहीं होता अतः शुक्ल जी की प्रकृति सम्वन्धी दार्शनिक धारणा को स्पष्ट करने के लिए हम भारतीय दर्शनशास्त्र में वर्णित प्रकृति के स्वरूप का तथा विकासवाद और विज्ञान के क्षेत्र में स्वीकृत स्वरूप का सक्षिप्त परिचय करवा कर उनकी प्रकृति सम्वन्धी निजी प्रवृत्ति तथा स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

भारतीय दर्शनशास्त्र मे जड और चेतन का भेद स्वीकार किया गया है और प्रकृति को निर्जीव एव अचेतन माना गया है। साख्य दर्शनकार कपिल मुनि ने इस प्रकृति के प्रथम दो भेद प्रकृति और विकृति के नाम से किये है और फिर आठ प्रकृतियाँ और सोलह विकृतियाँ स्वीकार की है। जिसके आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न हो उसको प्रकृति कहा गया है और जिसके आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न न हो उसको विकृति नाम दिया गया है। विकृति स्वरूप से स्थूल, अव्यापक एवं व्यक्त होती है और प्रकृति सूक्ष्म, व्यापक तथा अनुमानगम्य होती है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ये पाँच भूत और श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना तथा घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ तथा गुदा ये पाँच कर्मेन्द्रिय और मन ये सोलह विकृतियाँ है। ये अव्यापक, स्थूल एव व्यक्त है। इनसे आगे कोई नया द्रव्य नही वनता है। इसी प्रकार मूल प्रकृति, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की तन्मात्राएँ, अहकार और महत्तत्त्व ये आठ प्रकृतियाँ है। मूल प्रकृति को छोड़कर शेष सात प्रकृति-विकृति दोनो है। शब्दादि की तन्मात्राओं से पाँच भूतों की सृष्टि होती है अतः ये प्रकृतियाँ भी, परन्तु इनकी उत्पत्ति 'अहकार' प्रकृति से होती है अत. ये विकृतियाँ भी है। इसी प्रकार अहंप्रकृति महत्तत्त्व से उत्पन्न होती है अतः वह विकृति भी है। इसी क्रम से महत्तत्त्व से भी व्यापक, सूक्ष्म प्रकृति का अनुमान करके भारतीय सांख्य दर्शन पच्चीसवें चेतन तत्त्व पुरुष का प्रतिपादन करता है। सांख्य दर्शन में वर्णित चौबीस जड़ तत्त्व तीन गुणों वाले है। सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण परिणाम-शील है अर्थात् अपने पहले धर्म को छोड़कर किसी दूसरे धर्म को ग्रहण करने

वाले हैं। यह परिणाम भी दो प्रकार का होता है—साम्य और विषम। तीन गुणो का साम्य परिणाम ही अनुमान गम्य, अव्यक्त अर्थात् प्रधान मूल प्रकृति अथवा केवल प्रकृति है। भारतीय दर्शन शास्त्र के अनुसार उस प्रधान मूल प्रकृति मे चेतन तत्त्व से एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न होकर इन तीन गुणो के अन्दर विषम परिणाम उत्पन्न कर देता है और यही प्रथम जड़ तत्त्व महत्तत्त्व है। इसी मे अन्य जड तत्त्व सत्ता मे, आते है और यह व्यक्त अनेक रूपात्मक जगत् दृष्टिगोचर होने लगता है।

आधुनिक विज्ञान क्षेत्र का विकासवाद का सिद्धान्त इस चेतन परम-तत्त्व की आवश्यकता नही समझता है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्त पदार्थो का आदि और मूल कारण 'ईथर' है। उसी की तरंगावली से विद्युत् प्रकाश, शब्द और गर्मी पैदा होती है। उसी के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों को 'इलैक्ट्रोन' कहते है। इन एलैक्ट्रोनों के संघात से ही विद्युत् होती है और यही शक्ति (Energy) के रूप से स्थूल आकार मे 'मैटर' (Matter) कहलाती है। 'मैटर' की विरल दशा को 'गैस' तरल दशा को लिक्विड और ठोस दशा को 'सालिड' कहते है। ईथर से उत्पन्न ये पदार्थ घनीभूत होकर और आकर्षणानु कर्षण के नियम से चक्राकार गति में हो जाते है। कुछ दिनो में वही चक्र सूर्य हो जाता है। सूर्य मे गर्मी और गति के कारण चक्कर (ring) पड़ जाते है और पृथक् होकर दूसरे ग्रह बन जाते है। उन ग्रहों से दूसरे उपग्रह वनते है। इसी प्रकार के ग्रहों में से हमारी पृथ्वी भी एक ग्रह है और पूर्वोक्त रीति मे ही वनी है। इसका बनाने वाला कोई ईश्वर या परमात्मा मानने की आवश्यकता नहीं। वह पृथ्वी पहले गर्म थी, धीरे-धीरे ठण्डी हुई, समुद्र बने, उनमें भूमि निकली और जीवन प्रारम्भ हुआ। जड मे ही जीवित प्राणी पेदा हो गए। कहने का अभिप्राय यह है कि आधुनिक विज्ञान सजीव और निर्जीव का भेद स्वीकार नहीं करता। वैज्ञानिकों के मन मे यह सजीवता भी एक प्राकृतिक पदार्थ है, क्योकि यह चेतन केवल प्रोटोप्लाज्म (Protoplasm) है। यह एक तरल पदार्थ है जो कि अलातद्रव्य (Carbon), जलीय तत्त्व (Hydrogen), नाइट्रोजन

(Nitrogen), फासफोरस (Phosphorus) आदि बारह भौतिक पदार्थों से ही बना है। इस प्रकार जीव-तत्त्व भी भौतिक पदार्थों का ही परिणाम है और प्रकृति सर्वथा स्वतन्त्र रूप मे ही इस चराचर जगत् की सृष्टि कर देती है इसके लिए किसी चेतन परम-तत्त्व के मानने की आवश्यकता नही। भारतीय दर्शनशास्त्र और आधुनिक विकासवाद अथवा भौतिकवाद में मौलिक अन्तर जड़ से चेतन को पृथक मानना ही है। इन दोनो वादों के सामान्य विवेचन को समक्ष रखते हुए हम शुक्लजी की प्रकृति सम्बन्धी धारणाओ को समझ सकते है। शुक्ल जी इस व्यक्त जगत् के मूल तत्त्व प्रकृति को नित्य मानते है। 'विश्वप्रपच' की भूमिका मे वे लिखते है—"विश्व में जितना द्रव्य है उतना ही सदा मे है और सदा रहेगा—उतने से न घट सकता है, न बढ सकता है।" भारतीय दर्शन धारा मे भी प्रकृति को अनादि एव नित्य तत्त्व माना गया है। प्रकृति की नित्यता मे, उनके गुणों की परिणाम-शीलता मे आधुनिक वैज्ञानिकों तथा भारतीय दार्शनिको मे कोई मौलिक अन्तर नहीं है। शुक्लजी की स्थिति भी इस सम्बन्ध मे सर्वथा स्पष्ट है। यह मूल तत्त्व स्वयं गति करने लगता है अथवा इसमे गति देने के लिए किसी परम चेतन तत्त्व की आवश्यकता है इस सम्बन्ध मे शुक्लजी का झुकाव वैज्ञानिक पक्ष की ओर ही परिलक्षित होता है। वे प्रकृति को स्वभाव से ही गतिशील मानते है। वे कहते है—

"द्रव्य और शक्ति (गति) का नित्य सम्बन्ध है। एक की भावना दूसरे के बिना हो नही सकती। न शक्ति के बिना द्रव्य रह सकता है और न द्रव्य के आश्रय के बिना शक्ति कार्य कर सकती है। अपने चारों ओर जो कुछ हम देखते है वह सब द्रव्य और शक्ति का ही कार्य है।"

आधुनिक वैज्ञानिकों के ईश्वर सम्बन्धी कल्पनाओ तथा भौतिक शक्तियों के आकर्षण व विकर्षण (अपसरण) के सिद्धान्तो के प्रति भी शुक्लजी की आस्था प्रतीत होती है। भूत और शक्ति के परस्पर शाश्वत सम्बन्ध की चर्चा करने के उपरान्त शुक्लजी लिखते है—"शक्ति की इस दोमुही (आकर्षण-विकर्षण) चाल से जगत् की स्थिति है। यदि शक्ति अपने एक

ही रूप मे कार्य करती तो जगत् की अनेकरूपता न रहती, या यो कहिए कि जगत् ही न होता।"

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शुक्लजी की भारतीय दार्शनिको की विचारधारा के प्रति सर्वथा अनास्था नही है। इन भौतिक-विज्ञान-वादो के प्रति आस्था केवल विरोधी प्रमाणों के अभाव के कारण से ही है; अन्यथा उनके अन्त:करण मे संस्कार रूप से भारतीय दार्शनिकों की आस्थाएँ विद्यमान है। इन्ही सस्कारो के कारण ही वह स्थान-स्थान पर अपने निबन्धो मे दर्शनशास्त्र में प्रतिपादित तथ्यों को अपने पक्ष के समर्थन के लिए प्रस्तुत कर देते है। 'काव्य मे लोकमगल की साधनावस्था' शीर्षक निवन्ध मे साख्यदर्शन में प्रतिपादित तीग गुणों की तथा परम चेतन तत्त्व की चर्चा भी कर दी है—"जवकि अव्यक्तावस्था से छूटी हुई प्रकृति के व्यक्त स्वरूप जगत् मे आदि से अन्त तक सत्त्व, रजस्, और तमस् तीनों गुण रहेगे तव समष्टि रूप मे लोक के वीच मंगल का विधान करने वाली ब्रह्म की आनन्दकला के प्रकाश की यही पद्धति हो सकती है कि तमोगुण और रजोगुण दोनों सत्त्वगुण के अधीन होकर उसके इशारे पर काम करे।" यही आस्था उन्हे वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद की प्रशंसा मे प्रवृत्त करती है। भौतिक विज्ञान में परमाणु (Atoms) का बड़ा महत्त्व है। नवीन विज्ञान बतलाता है कि प्रत्येक परमाणु कई इलैक्ट्रोनों से बना है। इलैक्ट्रोन एक-दूसरे से चिपकते नही प्रत्युत दूर-दूर रहते है। जिस प्रकार हमारे तारा-गण दूर-दूर रहकर भी एक तारापिण्ड या सौर जगत् कहलाते है। इसी तरह अनेक इलैक्ट्रोनो से बना हुआ ऐटम भी है। इन परमाणुओ के सम्वन्ध में शुक्लजी के विश्वास का आधार आधुनिक भौतिक विज्ञान ही है। वे लिखते है—

"परमाणु का प्रत्यक्ष नही होता। परमाणु की वात छोड़ दीजिए अणुओं की सूक्ष्मता भी कल्पनातीत है। तीव्र से तीव्र सूक्ष्मदर्शन यन्त्र उनका दर्शन नही करा सकते। उनका निरुपण उनके कार्यो द्वारा गणित आदि के सहारे से ही किया जाता है। जल का ही अणु लीजिए जो इच के

१/५००००००००० वे भाग के वरावर होता है। अव इस अणु की योजना करने वाले परमाणुओ की सूक्ष्मता का इसी से अन्दाजा कर लीजिए। विद्युदणु तो उनसे भी सूक्ष्म है। हिसाव लगाया गया है कि हाइड्रोजन के एक परमाणु में १६००० और रेडियम के एक परमाणु मे १६०००० विद्युदणु होते है। इन विद्युदणुओ के वीच का अन्तर उसकी सूक्ष्मता के हिसाव से वहुत अधिक होता है—उतना ही होता है जितना सौर जगत् के ग्रहो के वीच होता है। अपने परमाणु जगत् के अन्तरिक्ष मे ये परस्पर शक्ति सम्वद्ध होकर निरन्तर उसी प्रकार वेग से भ्रमण करते रहते है जिस प्रकार सौर जगत में ग्रह-उपग्रह भ्रमण करते है। इसी का नाम है—'भवचक्र'। परमाणु के भीतर भी वही व्यापार हो रहा है। जो व्रह्माण्ड के भीतर। 'अणोरणीयान् महतो महीयान् वाली वात समझिए।"

भारतीय वैशेषिक दर्शन में परमाणुवाद का उल्लेख हुआ है। इस दर्शन के सिद्धान्तानुसार सारे स्थूल पदार्थो के मूल उपादान कारण निरवयव सूक्ष्म परमाणु है। पृथ्वी, जल आदि भूतो के अपने-अपने निरवयव सूक्ष्म एव नित्य परमाणु है। उपादान कारणभूत इन परमाणुओं के परस्पर संयोग को इन भूतो की उत्पत्ति मे साधारण कारण माना गया है और इसके अतिरिक्त चेतन आत्म तत्त्व को भी पृथक् द्रव्य के रूप मे स्वीकार किया है। शुक्लजी ने वैशेषिक के परमाणुवाद की प्रशसा करके भारतीय दर्शन के प्रति अपनी आस्था का सकेत दिया है, परन्तु चेतन तत्त्व के प्रति उनकी धारणा वैज्ञानिक भौतिकवादियो के अनुरूप है। वे लिखते है—"मूलभूतों और परमाणुओं का सम्वन्ध वैशेषिक ने उसी रीति से निर्धारित किया है जिस रीति से आधुनिक रसायन शास्त्र ने—यह हमारे लिए कम गौरव की वात नही।" इस आस्था के रहने पर भी वे भौतिकवादियो के सिद्धान्त से प्रभावित है और वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणुओं को निरवयव एवं अखण्ड स्वीकार नही करते। आधुनिक वैज्ञानिको के अनुसन्धान के परिणामस्वरूप आज यह सिद्ध हो गया है कि परमाणुओ (Atoms) के भी खण्ड किये जा सकते है। अतएव शुक्लजी इन अनु-

सन्धानों के प्रति अपनी सहमति प्रकट करते हुए परमाणुओं के खण्ड-खण्ड होने के प्रमाणों का उल्लेख करते है—"पर इधर युरेनियम रेडियम आदि कई नए मूल द्रव्यो के मिलने से ऐसे प्रमाण भी मिल गए है।" शुक्लजी परमाणु तत्त्व के सम्बन्ध मे तो वैज्ञानिको की खोज के प्रति पूर्ण सहमत प्रतीत होते है, परन्तु सजीव और निर्जीव के सम्वन्ध मे उनकी आस्था का स्वरूप स्पष्ट नही, क्योंकि वह निश्चयात्मक नही है। उन्हे इस बात की सम्भावना अवश्य प्रतीत होती है कि यदि वैज्ञानिक अनुसन्धान इसी प्रकार से आगे बढते चले गए तो आशा है कि एक दिन विज्ञान आत्म-अनात्म के अन्तर को समाप्त कर देगा। वे अपने युग मे इस अन्तर का अभाव नहीं देख सके है। भविष्य में उसकी सम्भावनामात्र कर सके है। उनका यह निम्नलिखित कथन प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत है—

"पहले के वैज्ञानिको का परमाणुओ के भीतर की गतिशक्ति की ओर ध्यान नही था, इसमे द्रव्य की मूल व्यष्टियों को समझने के लिए उन्हे शक्ति का वाहर से आरोप करना पड़ता था। पर अव, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रेडियम के मिलने से परमाणु के भीतर विद्युच्छक्ति के केन्द्रों का पता मिल गया है, जिससे सजीव और निर्जीव द्रव्य का अन्तर वहुत कुछ कम हो गया है।" इस सम्वन्ध में शुक्लजी रासायनिको की असफलता से अनभिज्ञ नही है। वे यह स्वीकार करते है कि अभी तक उन्हे सजीव द्रव्य के मूल आदिम रूप की ठीक धारणा नहीं हो सकी है। सजीव द्रव्य के इस आदिम रूप को केवल पुरातन पौराणिक कथाओ के आधार पर या केवल भारतीय दार्शनिको के प्रमाण पर ही सिद्ध नही किया जा सकता है। इसके लिए वैज्ञानिक प्रयोगो के आधार की अपेक्षा है। यदि आत्मवादी कही अपने अनुसन्धानो से चैतन्य की नित्य सत्ता सिद्ध कर दे तो भौतिकवाद को विवश होकर आत्मवादियो की भावना के आगे सिर झुकाना पड़ेगा।

जीव—भारतीय दार्शनिको ने चेतन जीव तत्त्व की सत्ता स्वीकार की है। जीवों के शरीर के सम्वन्ध मे भी भारतीय विश्वास है कि जीवो के कर्मानुसार परमेश्वर शरीर देता है। ससार मे जितने भी प्राणी है उन सब

की अपनी अलग स्थिति है। अपने-अपने कर्मों के अनुसार जीव को विभिन्न योनियाँ प्राप्त होती है। इसके विपरीत विकासवाद इस स्थिर योनि के सिद्धान्त को स्वीकार नही करता। विकासवाद की धारणा के अनुसार पृथ्वी पर चेतन वस्तु उत्पन्न हुई और धीरे-धीरे बढती चली गई। पहले वहाँ न वनस्पति थी और न जन्तु, किन्तु दोनो को उत्पन्न करने वाली चेतनता थी। यह ध्यान रहे कि यह चेतनता जड़ प्रकृति से ही उत्पन्न होती है। उस चेतनता की एक शाखा एक कोष्ठधारी अमीवा (Amoeba) बन गई। ये अमीवा इतने बढे कि उनके खाने-पीने की दिक्कत होने लगी। वे नाना प्रकार के प्रयत्न करने लगे। उनकी सन्तति जो शारीरिक प्रयत्न और मानसिक अभ्यास मे बलवान् थी और जीवन सग्राम मे बच गई वह फिर बढी। भोजन की तगी के कारण सग्राम जारी रहा और बहुत दिन के बाद मरते-बचते तथा परिस्थिति के अनुसार आकार-प्रकार बदलते-बदलते मछली, मडूक, सर्प, पक्षी, बैल, बन्दर, बनमानव और मानव उत्पन्न हुए। जीव की उत्पत्ति तथा विभिन्न रूपो को धारण करने के सम्बन्ध मे शुक्लजी उक्त विकासवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते है। वे पौराणिक अन्ध-विश्वासों को स्वीकार नही करते। वे यह नही मानते कि जीव की योनियाँ स्थिर है और उनकी सख्या आदि से ही चौरासी लाख है। वे तो विकास-वाद के समान ही एक जाति के जीवो से ही दूसरी जाति के जीवों की उत्पत्ति स्वीकार करते है। 'विश्व प्रपच' की भूमिका के ये शब्द प्रमाण स्वरूप है—

"विकास-सिद्धान्त के पहले लोगों का विश्वास था कि इस समय पृथ्वी पर जितने प्रकार के जीव है सबके सब सृष्टि के आदि में एक साथ ही उत्पन्न किये गए। डारविन ने यह दिखाकर कि एक ही प्रकार के आदिम क्षुद्र जीवो से क्रमश नाना प्रकार के जीवोंका विधान होता आया है स्थिर-योनि सिद्धान्त का पूर्णरूप से खण्डन कर दिया है।"

विकासवाद के जीव-विकास सम्बन्धी इस सिद्धान्त का समर्थन उन्होने प्रकृति के गुणात्मक परिवर्त्तन के नियम से किया है और इस सम्बन्ध मे

प्राचीन चार्वाक मत की चर्चा भी की है। इस मत के अनुसार किण्व या खमीर से मदशक्ति के समान चैतन्य उत्पन्न होता है। शुक्लजी भी सजीवता या जीवन को किण्व परम्परा ही स्वीकार करते है। जीवो के अनेक रूपात्मकता के मूल मे प्रकृति के गुणात्मक परिवर्तन के नियम का उल्लेख करते है। वे कहते है—

"एक प्रकार के जन्तु से दूसरे प्रकार के जन्तु एकबारगी तो उत्पन्न नही हो गए। दोनों के बीच की वश-परम्परा मे ऐसे जन्तु रहे होगे जिनमे थोडे-बहुत दोनो के लक्षण रहे होगे। इस प्रकार के मध्यवर्ती जन्तु कुछ तो अब भी मिलते है और कुछ की ठठरियाँ भूगर्भ मे मिलती है।"

शुक्लजी उक्त लेखो मे विकासवाद का स्पष्ट समर्थन प्राप्त होता है। इसी समर्थन के प्रसग मे उन्होंने चर-अचर पदार्थों के भेद को भी स्वीकार नही किया है और वे तथाकथित अचर पेड़-पौधों में भी जीवत्व को स्वीकार करते है! वे लिखते है—

"पहले लोग समझते थे कि जन्तु चर है और पौधे अचर। मनुस्मृति मे लिखा है कि उद्भिज्ज: स्थावरास्सर्वे वीजकाण्ड प्ररोहिण:। पर वास्तव मे चर-अचर का भी भेद नही है। वहुत से ऐसे जन्तु है जो अचर है जैसे स्पंज, मूँगा आदि और वहुत से ऐसे सूक्ष्म समुद्री पौधे होते है जो वरावर चलते फिरते है।"

उक्त वर्णनों से यह स्पष्ट है कि शुक्लजी ने जीव-विकास के स्वतन्त्र खोज नही की। केवल विकासवाद के सिद्धान्तो तथा खोजो को अपनी धारणा का आधार वनाया है। भारतीय धारणा केवल प्रयत्न को जीवन का लक्षण नही मानती, उसमें इच्छा, रागद्वेप, सुख-दु:ख, धर्म-अधर्म की सत्ता भी अनिवार्यत. स्वीकार की जाती है। पौधों मे सुख-दु:ख की सवेदना शुक्लजी ने भारतीय वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र वसु के कथनानुसार स्वीकार की है। शुक्लजी की वैज्ञानिक दृष्टि प्राचीन और धार्मिक विश्वासो के अनुसार यह मानने के लिए उद्यत नही है कि प्रभु-परमात्मा ने जिस जीव को जिस योनि के योग्य समझा उसको उसी योनि मे उत्पन्न किया। इससे यह भी स्पष्ट

है कि वे यह भी नही मान सकते कि इस सृष्टि की उत्पत्ति का प्रधान कारण जीवो के कर्म और परमेश्वर का न्याय ही है। उनकी दृष्टि मे इस उक्ति में भी कोई सार नही कि जीव अनादिकाल से कर्म करते चले आ रहे है और परमात्मा भी अनादिकाल से उनको कर्मफल देता चला आ रहा है।

मानव—जीव-विकास-प्रक्रिया मे शुक्लजी ने अपनी प्रवृत्ति विकासवाद की मान्यताओ की ओर प्रदर्शित की है, परन्तु सकल जीवों मे श्रेष्ठ मानव के स्वरूप, कर्त्तव्य आदि के सम्बन्ध मे चर्चा करते हुए वे नैतिकता के प्रबल समर्थक सिद्ध होते है। विकासवाद की मान्यताएँ उन्हे कर्म सौन्दर्य के अंगीकरण से दूर नही कर सकी है। चार्वाक मत या वैज्ञानिक विकासवाद उनकी बुद्धि-वृत्ति को ही प्रभावित कर सके है। उनकी हृदय-वृत्ति उस प्रभाव से कुछ मुक्त अवश्य रही है और वह भूतवादी वैज्ञानिकों की भाँति मानव को पशुतुल्य देखने से रोकती रही। उनकी कल्पना मे मानव अत्यन्त उत्कृष्ट प्राणी है, सामान्य पशुरूप नही है। यद्यपि वह विश्वविधान का क्षुद्र चेतन अश है तथापि उससे प्राणी एवं जीव तत्त्व की उच्चकोटि की सत्ता का बोध होता है। वह जीवन विकास की चरम सीमा है। मानव मे दो वृत्तियाँ बुद्धि और हृदय मूलरूप से विद्यमान है। इन दोनों वृत्तियों को रागात्मिकतावृत्ति और बोधवृत्ति भी कहा जा सकता है। मानवता का पूर्ण विकास इन दोनों वृत्तियों के सामंजस्य अर्थात् मेल मे है। सम्पूर्ण मानवता इन्ही दो वृत्तियो के आधार पर टिकी हुई है। अपने भाव या मनोविकार शीर्षक लेख मे शुक्लजी लिखते है—

"अनुभूति के द्वन्द्व ही से प्राणी के जीवन का प्रारम्भ होता है। उच्च प्राणी मनुष्य भी केवल एक जोड़ी अनुभूति लेकर इस ससार में आता है।" बच्चे के छोटे-से हृदय मे पहले सुख और दु.ख की सामान्य अनुभूति भर के लिए जगह होती है। पेट का भरा या खाली रहना ही ऐसी अनुभूति के लिए पर्याप्त होता है। जीवन के प्रारम्भ मे इन्ही दोनो के चिह्न हँसना और रोना देखे जाते है। पर ये अनुभूतियाँ बिलकुल सामान्य रूप मे रहती है विशेष-विशेष विषयो की ओर विशेष-विशेष रूपो मे ज्ञानपूर्वक उन्मुख नही होती।

मानव का यह प्रारम्भिक स्वरूप पशु-तुल्य होता है। इस रूप के मूल मे केवल रागात्मिका वृत्ति अपने दो रूपों—सुख-दुःख के साथ रहती है, परन्तु आयुवृद्धि के साथ-साथ शिशुमानव को जब नाना विषयो का अपनी दूसरी वृत्ति बुद्धि के द्वारा बोध होने लगता है तो उसकी मूल दोनों अनुभूतियों के विभिन्न विकार उत्पन्न होने लगते है। इन्हे ही मनोविकार या भाव पुकारा जाता है। मानवता का विकास यही से प्रारम्भ होता है। पशुता और मानवता का मेल इसी बिन्दु पर होता है। इसके विस्तार के साथ ही मानवता का स्वरूप प्रस्फुटित होने लगता है। मानवता और पशुता के अन्तर को शुक्लजी इसी रूप मे ग्रहण करते है। हृदयवृत्ति और बुद्धिवृत्ति के परस्पर सहयोग से मानव-प्राणी का जो स्वरूप उद्भावित होने लगता है वह अन्यचेतन प्राणियों की अपेक्षा अत्यन्त उच्चकोटि का होता है। 'कविता क्या है' शीर्षक लेख मे मनुष्यता की उच्चभूमि का निर्देश करते हुए शुक्लजी ने मानवता सम्बन्धी उक्त धारणा को इन शब्दों मे अभिव्यक्त किया है—

"पशुत्व से मनुष्यत्व मे जिस प्रकार अधिक ज्ञान प्रसार की विशेषता है उसी प्रकार अधिक भाव प्रसार की भी। पशुओं के प्रेम की पहुँच प्राय अपने जोड़े, बच्चो या खिलाने-पिलाने वालों तक ही होती है। इसी प्रकार उनका क्रोध भी अपने सताने वालो तक हो जाता है, स्ववर्ग या पशुमात्र को सतानेवालो तक नही पहुँचता। पर मनुष्य में ज्ञानप्रसार के साथ-साथ भावप्रसार भी क्रमशः बढ़ता गया है। अपने परिजनो, अपने सम्बन्धियों, अपने पड़ोसियो, अपने देशवासियो क्या मनुष्यमात्र और प्राणीमात्र तक से प्रेम करने भर की जगह उसके हृदय मे बन गई है। मनुष्य की त्योरी मनुष्य को ही सताने वाले पर नही चढती, गाय, बैल और कुत्ते-बिल्ली को सताने वाले पर भी चढती है। पशु की वेदना देखकर भी उसके नेत्र सजल होते है।"

मनोविकार —उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि शुक्लजी की धारणा के अनुसार मानवता के लिए ज्ञानप्रसार तथा भावप्रसार की अत्यन्त आवश्यकता है। मानव अपनी ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा अपने पार्श्ववर्ती विश्व का शनैः-शनैः ज्ञान प्राप्त करने लगता है और यही ज्ञान उसके हृदय मे विभिन्न

भावो के संचार के लिए मार्ग खोलता है। शुक्लजी का इस सम्बन्ध में यह एक सिद्धान्त वाक्य है कि ज्ञानप्रसार के भीतर ही भावप्रसार होता है। मानव को इस ज्ञानप्रसार ने उच्चकोटि का प्राणी बना दिया है। अन्य प्राणियो के समान उसकी सुख-दु:खमूलक अनुभूतियाँ विभिन्न विषयो के ज्ञान का आश्रय पाकर विविध रूपो को धारणा करने लगती है। ये ही विविध रूप, भाव या मनोविकार कहलाते है। वे इस सम्बन्ध मे लिखते है—

"अत: हम कह सकते है कि सुख और दु:ख की मूल अनुभूति ही विषय भेद के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा इत्यादि मनोविकारो का जटिल रूप धारण करती है।······मनोविकारो या भावों की अनुभूतियाँ परस्पर तथा सुख या दु:ख की मूल अनुभूति से ऐसी ही भिन्न होती है जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा अपने सयोजक द्रव्यो से भिन्न होती है। विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है।"

शुक्लजी मनोविकारों को मानव के लिए परमोपयोगी मानते है। मानव का काम सुख दु:खात्मक मूल अनुभूति से नही चल सकता है। उसके लिए इनके भोग से बनने वाले जटिल भावो—मनोविकारो की नितान्त आवश्यकता है। वे इन्हे ही समस्त मानव जीवन के प्रवर्तक रूप मे स्वीकार करते है। वे समझते है कि मनुष्य की प्रवृत्तियो की तह मे अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक रूप में पाए जाते है। आत्मरक्षा-आत्मरंजन, लोकरक्षा-लोकरंजन, समाज व्यवस्था-शासन व्यवस्था, धर्म भावना, साहित्यकला-विस्तार आदि सभी प्रकार की मानव प्रवृत्तियो के मूल मे ये ही मनोविकार अपने किसी न-किसी रूप में रहते है। यही कारण है कि उन्होने प्रधानतम मनोविकारों के स्वरूप व लक्षण बड़े विस्तार के साथ अपने निबन्धो में वर्णित किए है।

मनोविकारों का वर्गीकरण—मूल अनुभूतियों के आधार पर शुक्लजी ने मनोविकारों के दो वर्ग किये है। सुखवर्ग मे प्रेम, लोभ, उत्साह, श्रद्धा, भक्ति को परिगणित किया है और दु:ख वर्ग मे भय, करुणा, क्रोध, लज्जा,

घृणा तथा ईर्ष्या को परिगणित किया है। मानव के स्वरूप ज्ञान के लिए इनके स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है अतएव उन्होने इनके स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की है।

सुखवर्ग : प्रेम—सुखवर्ग मे सर्वप्रथम प्रेम और लोभ की चर्चा की जा सकती है। 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निवन्ध मे शुक्लजी ने प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रेम लोभ का एक सात्त्विक रूप है। उनका प्रेम का लक्षण यह है—

"विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्त्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते है······लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख है। कहीं कोई अच्छी चीज सुनकर दौड़ पड़ना लोभ है। किसी विशेप वस्तु पर इस प्रकार मुग्ध रहना कि उससे कितनी ही अच्छी-अच्छी वस्तुओ के सामने आने पर भी उस विशेष वस्तु से प्रवृत्ति न हटे, रुचि या प्रेम है।····साधारणतः मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।"

यह स्पष्ट है कि शुक्लजी प्रेम को व्यक्तिनिष्ठ मानते है, वस्तुनिष्ठ नहीं। यही कारण है कि उन्होंने जन्मभूमि के प्रेम, घर के प्रेम, स्वदेश प्रेम को स्थान-लोभ मात्र स्वीकार किया है। वे इन्हे लोभ का प्रशस्त रूप तो मानते है परन्तु प्रेम-भाव के अन्तर्गत नही मानते। अपनी इस धारणा के आधार को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने व्यक्ति और वस्तु के प्रति भावना के अन्तर को स्पष्ट किया है। वे लिखते है— 'वस्तु लोभ के आश्रय और आलम्बन, इन दो पक्षो मे भिन्न-भिन्न कोटि की सत्ताएँ रहती है पर प्रेम एक ही कोटि की दो सत्ताओ का योग है, इससे कही अधिक गूढ़ और पूर्ण होता है।"

प्रेम के स्वरूप की इस विलक्षणता पर प्रकाश डालते हुए उन्होने प्रेम के आश्रय अर्थात् प्रेमी के स्वरूप की भी चर्चा की है। वस्तु लोभ का आश्रेय अर्थात् लोभी वस्तु के भीतर चेतना नही देखता अतएव वह उस पर अपना

प्रभाव डालने का यत्न नहीं करता, परन्तु व्यक्ति-लोभी अर्थात् प्रेमी अपने प्रिय की अन्तर्वृत्ति पर प्रभाव डालने मे तत्पर रहता है। वे लिखते हैं—"प्रभाव डालने की यह वासना प्रेम उत्पन्न के साथ ही जगती है और बढ़ी चली जाती है। किसी वस्तु पर लुब्ध होकर कोई इस चिन्ता मे नही पड़ता कि उस वस्तु को मालूम हो जाए कि वह उस पर लुब्ध है पर किसी पर लुब्ध या प्रेमासक्त होते ही प्रेमी इस वात के लिए आतुर होने लगता है कि प्रिय को उसके प्रेम की सूचना मिल जाए।··· · प्रेमी यह चाहने लगता है कि जिस प्रकार प्रिय मुझे अच्छा लगता है उसी प्रकार मै भी प्रिय को अच्छा लगूँ। वह अपना सारा अच्छापन किसी-न-किसी वहाने उसके सामने रखना चाहता है।"

प्रेम की पूर्णता के लिए दो हृदयो—आश्रय और आलम्वन की अभिन्नता परमावश्यक है। शुक्लजी के शब्दो में दो हृदयो की यह अभिन्नता अखिल जीवन की एकता के अनुभव-पथ का द्वार है। इसी एकता की, तुल्या-नुराग की प्रतिष्ठा के लिए प्रेमी प्रेम के प्रादुर्भाव काल से यत्नशील रहता है, क्योकि वह समझता है कि इसकी प्रतिष्ठा हो जाने पर ही उसके प्रेम को पूर्ण सफलता मिल सकती है। उन्होने इसी प्रसंग मे प्रेम के अत्यन्त विशुद्ध रूप की भी चर्चा की है। इस निखरे हुए प्रेम में तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा भी अनिवार्य नहीं रहती। वे कहते है—

"तुष्टि का विधान न होने से प्रेम के स्वरूप की पूर्णता मे कोई त्रुटि नही आ सकती। जहाँ तक ऐसे प्रेम के साथ तुष्टि की कामना या अतृप्ति का क्षोभ लगा दिखाई पडता है वहाँ तक तो उसका उत्कर्ष प्रकट नही होता। पर जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है या पहले ही से नही रहती, वहाँ प्रेम का अत्यन्त निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पडता है। ऐसे प्रेम की अविचल प्रतिष्ठा अत्यन्त उच्च भूमि पर होती है जहाँ सामान्य हृदयों की पहुँच नही हो सकती। इस उच्च भूमि पर पहुँचा हुआ प्रेमी प्रिय से कुछ भी नही चाहता है। ·· ··ऐसे प्रमी के लिए प्रिय की तुष्टि या सुख से अलग अपनी कोई तुष्टि या सुख रह ही नहीं

जाता। प्रिय का मुख-सन्तोप ही उसका सुख-सन्तोष हो जाता है।"

जिस प्रकार प्रेम के सामान्य और विशेप रूप की कल्पना शुक्लजी ने की है इसी प्रकार उन्होंने प्रेम के प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए प्रेम के दो भिन्न स्वरूपो में से एक स्वरूप के प्रति अपनी रुचि भी प्रदर्शित की है। वे लिखते है—

"प्रेम का प्रभाव एकान्त भी होता है और लोक-जीवन के नाना क्षेत्रो मे भी दिखाई पड़ता है। एकान्त प्रभाव उस अन्तर्मुख प्रेम मे देखा जाता है जो प्रेमी को लोक के कर्मक्षेत्र से खीचकर केवल दो प्राणियो के एक छोटे से ससार में वन्द कर देता है।"

शुक्लजी की रुचि लोक-जीवन से सश्लिष्ट प्रेम की ओर है। उन्हे वह ऐकान्तिक प्रेम ग्राह्य नही जो प्रेमी को रोगी वनाकर एक कोठरी मे वन्द कर देता है। लोक-जीवन-सश्लिष्ट प्रेम अपना मधुर और अनुरजनकारी प्रकाश जीवन-यात्रा के नाना पथो पर फेंकता है। इसी के प्रभाव से प्रेमी को अपने आस पास चारो ओर सौन्दर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है। इसी ज्योति से जगमगाते जगत् के बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म सौन्दर्य अपने प्रिय को दिखाना चाहता है। शुक्लजी की उपयोगितावादी प्रवृत्ति प्रेम के ऐसे ही स्वरूप को ग्रहण कर सकती है। उनकी यह प्रवृत्ति निम्नलिखित पक्तियों मे स्पष्ट झलकती है—

"हम उस प्रेम का अधिक मान करते है जो एक सजीवन रस के रूप मे प्रेमी के सारे जीवन-पथ को रमणीय और सुन्दर कर देता है, उसके सारे कर्मक्षेत्र को अपनी ज्योति से जगमगा देता है। जो प्रेम जीवन की नीरसता हटाकर उनमे सरसता ला दे, वह प्रेम धन्य है। जिस प्रेम का रंजनकारी प्रभाव विद्वान् की वुद्धि, कवि की प्रतिभा, चित्रकार की कला, उद्योगी की तत्परता, वीर के उत्साह तक वरावर फैला दिखाई दे, उसे हम भगवान् का अनुग्रह समझते है।"

शुक्लजी ने प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए तुलनात्मक पद्धति से भी उपयोग लिया है। करुणा और प्रेम मे एक समता यह है कि ये दोनो

वृत्तियाँ कोमल है और दूसरों को द्रवित करने वाली है। द्रवित करने की प्रक्रिया में विषमता है। दूसरे के हृदय मे प्रेम का सचार करने के लिए विभिन्न विशेषताओ तथा चेष्टाओं की आवश्यकता रहती है। इस पर भी यह निश्चय नही होता कि उनसे दूसरे मे भाव-सचार हो ही जाएगा। दूसरी ओर करुणा का पात्र होने के लिए केवल अपनी पीड़ा का प्रदर्शन मात्र पर्याप्त होता है। यही कारण है कि प्रेमी अपने प्रिय के अन्त करण मे प्रेम-सचार करने के लिए सर्वप्रथम करुणा उत्पन्न करने का प्रयास किया करता है। इसी प्रकार प्रेम का श्रद्धा से भी अन्तर होता है। उनके शब्दों मे श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त। प्रेम मे घनत्व अधिक है और श्रद्धा मे विस्तार। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण। प्रेम मे कोई मध्यस्थ नही, पर श्रद्धा मे मध्यस्थ अपेक्षित है।

शुक्लजी ने प्रेम के कारणो पर भी प्रकाश डाला है। सामान्यत: रूप-लोभ को प्रेम का प्रवर्त्तक माना जाता है। प्राय. किसी के उत्कृष्ट रूप-गुण पर मुग्ध होकर ही मानव उसका प्रेमी बन जाता है परन्तु इससे भिन्न साहचर्य भी प्रेम का कारण होता है। इस साहचर्यजन्य प्रेम मे यह विशेषता होती है कि इसका वेग साहचर्यकाल में तो कुछ अवसरो पर ही रह-रहकर व्यक्त होता है, पर वियोग-काल मे बराबर उमडा रहता है। भाई-बहन, पिता, पुत्र, इष्ट मित्र से लेकर चिर-परिचित पशु-पक्षी तक का प्रेम इसी प्रकार होता है। देश-प्रेम भी इसी साहचर्य-जन्य भाव का ही एक रूप है।

प्रेम की अन्य सब भावो से विलक्षणता का सकेत भी शुक्लजी ने किया है। वे कहते है—

"यही एक ऐसा भाव है जिसकी व्यजना हँसकर भी की जाती है और रोकर भी, जिसके व्यजक दीर्घ नि:श्वास और अश्रु भी होते है तथा हर्ष-पुलक और उछल-कूद भी। इसके विस्तृत शासन के भीतर आनन्दात्मक और दु:खात्मक दोनों प्रकार के मनोविकार आ जाते है।······कोई और भाव ऐसा नही है जो आलम्बन के रहने पर तो एक प्रकार की मनोवृत्तियाँ और चेष्टाएँ उत्पन्न करे और न रहने पर बिल्कुल दूसरे प्रकार की।"

लोभ—के भी दोनों सुखात्मक और दु खात्मक पक्ष होते है। लोभ का स्वरूप शुक्लजी ने इन शब्दो मे वर्णित किया है—

'किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध मे मन की ऐसी स्थिति को जिसमे उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पडे, लोभ कहते है।"

रुचिकर वस्तु की प्राप्ति की स्थिति मे लोभ सुखात्मक है परन्तु उसके अभाव से या अभाव की आशका से वही दुःखात्मक हो जाता है। लोभ का दुःखात्मक पक्ष सुखद वस्तु की अप्राप्ति मे अथवा अभाव की स्थिति मे स्पष्ट होता है। सामान्यतः लोभ आनन्द स्वरूप ही है, क्योंकि उसका प्रथम संवेदनात्मक अवयव किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उससे बहुत सुख या आनन्द का अनुभव होना है। मानव का यह लोभ तभी प्रकट होता है जब इस सवेदनात्मक अवयव के साथ इच्छात्मक अवयव का सयोग होता है। जब तक मनुष्य किसी आनन्दप्रद वस्तु की प्राप्ति की, उसे दूर न करने की, उसकी रक्षा की इच्छा प्रकट नही करता तब तक उसका लोभ व्यक्त नहीं होता है। लोभ के इन पक्षो के अतिरिक्त शुक्लजी ने लोभ के अवयवों की भी व्याख्या प्रस्तुत की है। लोभ का सबसे प्रधान अग प्रिय वस्तु की इच्छा है। स्थिति भेद से इच्छा के भी दो रूप होते है—(१) प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा (२) दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा। इनमे से प्रथम सुखद एव रुचिकर वस्तु की प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा के भी दो रूप होते है। हम ऐसी वस्तु को प्राप्त करके उसे या तो अपने इतना समीप रखना चाहते हैं, जितना किसी अन्य के न हो या हम केवल इतने सम्पर्क की इच्छा करते है, जितना बहुत से लोग एक साथ रख सकते है। सामीप्य की इच्छा के इन दो रूपों के कारण लोभ के मूल स्वरूप में भी अन्तर पड जाता है। यदि हम किसी ऐसी लुभावनी वस्तु को जिसे अन्य लोग भी चाहते है, अपने अत्यन्त समीप रखना चाहते और अन्य लोगों को उसके पास तक नही आने देते तो यह लोभ विरोधग्रस्त एव प्रतिषेधात्मक होगा। जिस वस्तु को सब लोग अपने पास रखना चाहते है, वह बहुत से लोगों को एक मैदान

में लाकर खड़ा कर देती है। इस प्रकार की इच्छा वाला लोभ मानवों के पारस्परिक संघर्ष का कारण बन जाता है। इसके विपरीत यदि हम किसी सुखप्रद वस्तु से लुब्ध होकर भी अपने उतने ही सान्निध्य में रखना चाहते है जितने मे अन्य किसी के मन मे विरोध उत्पन्न नही होता और अन्य लोग भी हमारे समान ही उससे सम्पर्क रख सकते है तो लोभ का यह रूप विरोध-ग्रस्त न होकर सद्भाववर्धक होगा। लोभ सम्बन्धी इच्छा का दूसरा रूप रक्षा की इच्छा अर्थात् सुखप्रद वस्तु को दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा है। रक्षा की इच्छा के भी दो प्रकार होते हैं--(१) स्वायत्त रक्षा की इच्छा, (२) स्वनिरपेक्ष रक्षा की इच्छा। इन दोनों प्रकारों के कारण भी लोभ के पूर्ववर्णित विरोधग्रस्त तथा सद्भाववर्धक ये दो रूप हो जाते है। स्वायत्त रखने की इच्छा प्रायः अनन्य उपयोग या उपभोग की वासना से सम्बद्ध रहती है, इससे वह कभी-कभी लोगो को खटकती है और लोग उसका विरोध करते है। ऐसी स्थिति में भी यदि संरक्ष्य वस्तु के उपयोग या उपभोग में अन्य जनों को कोई बाधा नही पहुँचती है तो किसी एक का उसे अपनी रक्षा मे रखना दूसरे को बुरा नही लगता। दूसरी ओर स्वनिरपेक्ष रक्षा की इच्छा लोभ को ऐसा रूप प्रदान करती है, जिससे परस्पर मेल की वृद्धि होती है। यह इच्छा मानव समाज को एकता के सूत्र में बँधने मे सहायक बन जाती है।

लोभ के स्वरूप के उक्त विश्लेपण को दृष्टि में रखते हुए शुक्लजी ने लोभ के निन्द्य तथा प्रशस्त रूप की भी चर्चा की है। जो लोभ दूसरे की सुख-शान्ति या स्वच्छन्दता का बाधक होता है अधिकतर वही निन्द्य समझा जाता है। पूर्व वर्णित विरोधग्रस्त लोभ इसी प्रकार का होता है। इसी प्रसग में उन्होने लोभ के विषय के दो भेद वर्णित किये है। अच्छा खाना, अच्छा कपड़ा, अच्छा घर तथा धन लोभ के सामान्य विषय है। आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के अनुसार धातुनिर्मित सिक्को मे अथवा मुद्रांकित कागज के टुकड़ों मे सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराने की शक्ति प्रतिष्ठित हो गई है अतएव ये ही सिक्के या टुकड़े प्रत्येक मानव के लोभ के सामान्य विषय बन

गए है। फलतः इन सिक्को का लोभ विरोधग्रस्त हो गया है। लक्ष्य की इस एकता से समाज मे एक-दूसरे से मुद्राओं के लिए संघर्ष की वृद्धि होने लगी है। शुक्लजी के शब्दो में यदि मनुष्य समाज मे सबके लोभ के लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते तो लोभ को बुरा कहने वाले कही न मिलते। ऐसी स्थिति मे एक के लोभ से दूसरे को कोई कष्ट न पहुँचता। विरोधग्रस्त लाभ का विषय यदि विशेष हो जाता है तो उसकी यह सदोषता अपेक्षाकृत कम हो जाती है। वे कहते है--"यदि किसी को गुलाबजामुन या विशेष बूटी की छींट बहुत अच्छी लगे और वह उसे प्राप्त करना या न देना चाहे तो उसके इस लोभ पर बहुत कम लोगों का ध्यान जाएगा और जिनका ध्यान जाएगा भी उन्हे वह खटकेगा नही। ऐसे लोभ को वह रुचि कहेगे।"

यह स्पष्ट है कि शुक्लजी सामान्य विषयगत प्रतिषेधात्मक लोभ को विशेष-विषय-गत लोभ की अपेक्षा अधिक निन्द्य समझते है। विशेष-विषय-गत लोभ के स्वरूप को उन्होने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"एक लोभ से दूसरे लोभ का निवारण भी होता है जिससे लोभी में अन्य वस्तुओ के त्याग का साहस आता है। विशेष-विषय-गत लोभ यदि बहुत प्रबल और सच्चा हुआ तो लोभी के त्याग का विस्तार बहुत बड़ा होता है। लोभ तो उसे एक विशेष निर्दिष्ट वस्तु से है अत. उसके अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओ का त्याग वह उसके लिए कर सकता है। विश्वामित्र एक गाय के लिए अपना सारा राज-पाट देने को तैयार हो गए थे। अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है।

लोभ को प्राय. दुर्गुण माना जाता है। शुक्लजी ने इस मनोविकार के एक प्रशस्त रूप की भी चर्चा की है। सबको सुख तथा आनन्द देने वाली कई ऐसी वस्तुएँ होती है जिनकी रक्षा के लिए सब मिल सकते है, उसके प्रति लोभ होने पर परस्पर एकता रह सकती है। ऐसी स्थिति उसी अवस्था मे उत्पन्न हो सकती है जबकि एक की इच्छा दूसरे की इच्छा की बाधक न होकर साधक हो। तब एक ही वस्तु का लोभ रखने वाले बहुत से लोग सद्भाव के साथ रह सकेगे। यदि एक सम्प्रदाय के लोग अपने धर्मस्थान

की रक्षा की इच्छा रखते है और यह चाहते है कि यह सब प्रकार से सुसज्जित एवं सुरक्षित हो जाए तो यही इच्छा उनमे एकता का सूत्र बन जाएगी। घर का प्रेम ग्राम का प्रेम, देश का प्रेम इसी प्रकार के प्रशस्त लोभ के उदाहरण कहे जा सकते है। लोभ के इस प्रशस्त रूप का उल्लेख शुक्लजी ने इन शब्दो मे किया है—

"लोभ का सबमे प्रशस्त रूप वह है जो रक्षामात्र की इच्छा का प्रवर्त्तक होता है, जो मन मे यही वासना उत्पन्न करता है कि कोई वस्तु बनी रहे चाहे वह हमारे किसी उपयोग मे आए या न आए।"

लोभ का मानव जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव का स्वरूप भी उन्होने वर्णित किया है। लोभ की उत्पत्ति किसी वस्तु से मिलने वाले सुख की सम्भावना से होती है, अतएव उस वस्तु की ओर लोभी का ध्यान निरन्तर बना रहता है। उसकी प्राप्ति, सन्निधि या निरन्तर उपभोग भी मानव को तृप्त नही करता। लोभ के परिणामस्वरूप एक अन्य वृत्ति हृदय में उत्पन्न होती है जिसे 'असन्तोष' कहते है। धन का लोभ इसी प्रकार का है। इसकी प्राप्ति होने पर भी और प्रगति की इच्छा बराबर जगी रहती है जिससे मनुष्य सदा आतुर और प्राप्ति के आनन्द मे विमुख रहता है। उसका सारा अन्तःकरण सदा अभावमय रहता है। उसके लिए उस वस्तु का होना न होना एक समान हो जाता है। लोभ की अतिशयता से उत्पन्न होने वाले इस विकार का वर्णन शुक्लजी ने इस प्रकार किया है—

"असन्तोष अभाव कल्पना से उत्पन्न दु ख है अतः जिस किसी मे यह अभाव-कल्पना स्वाभाविक हो जाती है, सुख से उसका नाता सब दिन के लिए टूट जाता है। न किसी को देखकर वह प्रसन्न होता है और न उसे देखकर कोई प्रसन्न होता है।"

लोभ अपनी उचित सीमा का अतिक्रमण करके मानव की अन्य मनोवृत्तियों के दमन का कारण बन जाता है। इसी रूप के कारण वह अन्य सब मनोविकारों मे विलक्षण रूप धारण कर लेता है। पराकाष्ठा तक पहुँचा लोभ मानव के हृदय से रति, हास, करुणा, क्रोध, घृणा आदि सभी सहज

भावनाओं को निकाल देता है। फलतः उसमें से मानवता का ही लोप होने लगता है। लोभ की दमनकारी प्रवृत्ति का वर्णन शुक्लजी ने इन शब्दों में किया है—

"जो लोभ मान-अपमान के भाव को, करुणा और दया के भाव को, न्याय-अन्याय के भाव को, यहाँ तक कि अपने कष्ट-निवारण या सुखभोग की इच्छा तक को दवा दे, वह मनुष्यता कहाँ तक रहने देगा ?… … लोभियो का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नही होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते है, सुख की वासना का त्याग करते है, मान-अपमान मे समान भाव रखते है।"

शुक्लजी ऐसे लोभियों के अन्तःकरण को अर्धमृत मानते हैं। वे ऐसे लोभ को भी दूषित समझते है और मानवमात्र की अन्तर्वृत्तियों पर लोभ का शासन स्वीकार करते है। मानव की सुखानुभूति से उत्पन्न होने वाला यह मनोविकार मानव जीवन में दु ख की घनी छाया प्रसारित कर देता है।

उत्साह—उत्साह अपने मूल रूप मे आनन्द की उमग है, परन्तु इस उमग का लगाव जब तक क्रिया-व्यापार या उसकी भावना के साथ नही दिखाई पडता तब तक उसे उत्साह की संज्ञा नही दी जा सकती है। फलतः कर्ममात्र के सम्पादन में तत्परता पूर्ण आनन्द उत्साह का सूचक माना जाता है। शुक्लजी का उत्साह का लक्षण इसी धारणा का परिचायक है। वे कहते हैं—"साहसपूर्ण आनन्द की उमग का नाम उत्साह है।" उत्साह एक मिश्रित अनुभूति है। इसके अवयवो मे आनन्द की उमंग, धृति और साहस गिने जाते है। इसी प्रसग मे शुक्लजी ने 'धृति' और 'साहस' के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक अन्तर को भी स्पष्ट कर दिया है—

"चुपचाप बिना हाथ-पैर हिलाये घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन-से-कठिन प्रहार सह कर भी जगह से न हटना धीरता कही जाएगी।"

उत्साह मे ऐसे साहस और धैर्य का संचार होता है परन्तु इन दोनो के साथ आनन्दपूर्ण प्रयत्न की नितान्त आवश्यकता है। उत्साह का पूर्ण स्वरूप

आनन्द, साहस और धैर्य के योग से ही विकसित होता है। उत्साह के विषय-क्षेत्र पर यदि ध्यान दिया जाए तो उत्साह कर्म और उसके फल की मिली-जुली अनुभूति है। शुक्लजी के विचार मे उत्साही का ध्यान आदि से अन्त तक पूरी कर्म-शृंखला पर से होता हुआ उसकी सफलता-रूपी समाप्ति तक फैला रहता है। उत्साह का मूल अवयव आनन्द शुद्ध कर्मभावना से, फलभावना से तथा विषयान्तर से प्राप्त हो सकता है। आनन्द के इन तीन रूपो के आधार पर उन्होने उत्साह की उत्तम कोटि का निर्धारण किया है। उनकी दृष्टि में उत्तम कोटि का सच्चा उत्साह वही है जिसके मूल में शुद्ध कर्म-भावना से उत्पन्न आनन्द का योग रहता है। फल की इच्छा मात्र हृदय मे रखकर जो प्रयत्न किया जाएगा वह अभावमय और आनन्द शून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा। अतएव फलभावना से उत्पन्न आनन्द कर्म-पथ पर चलने के लिए निरन्तर प्रेरणा नही देता। इस स्थिति में फल-प्राप्ति की सम्भावना के अनुपात से ही उत्साह का वेग मन्द और तीव्र होता रहता है। यदि कभी यह सम्भावना मन्द हो जाती है तो उत्साह का वेग भी क्षीण पड़ जाता है। कर्म-भावना से उत्पन्न आनन्द की उमग से पूर्ण उत्साह फल-प्राप्ति की सम्भावना की अपेक्षा नही रखता, अतएव वह निरन्तर बना रहता है। शुक्लजी इसी उत्साह को वास्तविक उत्साह मानते है। वे लिखते है—

"कर्म-भावना-प्रधान उत्साह बराबर एकरस रहता है। फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दु खी होता है, पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था मे हो जाता है। अतः हम कह सकते है कि कर्म-भावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल-भावना-प्रधान उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।"

सच्चा उत्साही कर्म मे आनन्द की अनुभूति करता है और उसे निरन्तर उसी आनन्द से उत्तेजना होती रहती है, क्योकि उसे वह कर्म ही फलस्वरूप प्रतीत होता है। इसी प्रसग मे शुक्लजी ने विषयान्तर से प्राप्त आनन्द के योग से उत्पन्न होने वाले सामान्य कोटि के उत्साह का भी उल्लेख किया

है। वे कहते हैं—"कभी-कभी आनन्द का मूल विषय तो कुछ और रहता है, पर उस आनन्द के कारण एक ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है जो बहुत-से कामों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है।......इस हर्ष और तत्परता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं।"

उत्साह की मानव जीवन मे उपयोगिता निर्विवाद है। इसी के सहारे मानव जाति, देश, धर्म की रक्षा के लिए भीषणतम युद्धो मे भाग लेता है और प्राणों को सन्देह मे डाल देता है। घोर से घोर कष्ट सहने मे, हिम-मण्डित गगन-चुम्बी दुर्गम शैल-शिखरों तक पहुँचने मे, समुद्र की अथाह-जलराशि के लाँघने मे, ध्रुव देशो की यात्रा मे मानव की यही उत्साह वृत्ति सहायक सिद्ध हुई है। शारीरिक कष्टो के साथ ही साथ घोर मानसिक कष्टो को भी उत्साह के सहयोग मे ही मानव ने सहन किया है। इसी उपयोगिता का अनुभव करके शुक्लजी उत्साह की गिनती सद्‌गुणो मे करना चाहते है। इसीलिए वे परपीडन, डकैती आदि अकर्तव्य कर्मो के सम्पादन मे आनन्दपूर्ण उमंग को उत्साह नही कहना चाहते वह ऐसे साहस और आनन्द के योग को निन्द्य स्वीकार करते है। वे कहते है—

"आत्म रक्षा, पर-रक्षा, देश-रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमग देखी जाती है उसके सौन्दर्य को परपीड़न, डकैती आदि कर्मो का साहस कभी नहीं पहुँच सकता।"

श्रद्धा—सुखमूलक मनोविकारो मे श्रद्धा का भी परिगणन किया जाता है। शुक्लजी ने श्रद्धा की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से की है—

"किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण या शक्ति का विकास देखकर उसके सम्बन्ध मे जो एक स्थायी आनन्द पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ पूज्य बुद्धि का सचार है।" श्रद्धा मानव-हृदय मे आनन्दपूर्ण कृतज्ञता है और यह एक ऐसी वस्तु है जिसे मानव अपनी न्याय-बुद्धि को तुला से तोल कर श्रद्धेय के गुण-कर्म आदि के अनुपात से धारण करता है। यह एक प्रकार का मूल्य है जो कि हम किसी के सद्‌गुणों या सत्कर्मो के बदले मे देते है।

इस प्रकार शुक्लजी श्रद्धा के अवयवो में आदरभाव, कृतज्ञता, महत्त्व-स्वीकृति और आनन्द का प्रतिपादन करते है। जो व्यक्ति अन्य के प्रति पूज्य बुद्धि नहीं रख सकता, अन्य के उपकारों के बदले में अपने हृदय में कोमलता एव सद्भाव नही ला सकता और जो अन्य के महत्त्व को स्वीकार नही कर सकता उसके हृदय में श्रद्धा का सचार नही हो सकता है।

श्रद्धा के तीन विषय हो सकते है। हम किसी की सहज प्रतिभा को देखकर उसके प्रति पूज्य-बुद्धि धारण करके विशेष आनन्द की अनुभूति कर सकते है। इस प्रतिभा के दर्शन कलाकृतियों में, वैज्ञानिक आविष्कारों में तथा अन्यान्य क्षेत्रों में प्रदर्शित सफलताओ मे कर सकते है। श्रद्धा का दूसरा विषय शील एवं सदाचरण है। हम सदाचारी के प्रति भी श्रद्धा रख सकते है। इस स्थिति मे हम उसके कर्म सौन्दर्य से प्रभावित होकर उसके महत्त्व को आनन्द सहित स्वीकार कर लेते है और उसे यह निश्चय करवाते है कि उसके कर्म मानव-समाज के लिए सर्वथा हितकर है। श्रद्धा का तीसरा विषय साधन-सम्पत्ति है। हम किसी की साधन-सम्पन्नता से भी प्रभावित हो सकते है और उसके प्रति आनन्दपूर्ण आदरभाव रख सकते है। यदि कोई व्यक्ति सहज प्रतिभा के अभाव होने पर भी निरन्तर अभ्यास द्वारा साहित्य-संगीत आदि कलाओं मे, ज्ञान-विज्ञान मे, शारीरिक शक्ति-संचय मे सफलता प्राप्त कर लेता है तो वह भी हमारे इस भाव का विषय बन जाता है। भले ही वह इस साधन-सम्पन्नता का दुरुपयोग भी करे उसके प्रति आदर भाव रह सकता है। ऐसे व्यक्ति के प्रति जो श्रद्धा होती है वह साधन-सम्पन्नता पर होती है; साध्य की पूर्णता पर नही अर्थात् हम उसके अभ्यास-श्रम और बारीकी से ही प्रभावित होते है, मानव-हृदय पर प्रभाव डालने वाले कलासौन्दर्य का विचार हम इस स्थिति में नही करते।

शुक्लजी श्रद्धा के इन तीनो विषयों में से शील सम्बन्धिनी श्रद्धा को ही उत्तम समझते है। वे लिखते है—

"शील, कला और साधन-सम्पत्ति-श्रद्धा के इन तीनों विषयों मे से किसका ध्यान मनुष्य को पहले होना चाहिए और किसका पीछे। इसका

बेधड़क यही उत्तर दिया जा सकता है कि जन-साधारण के लिए शील का ही सबसे पहले ध्यान होना स्वाभाविक है; क्योकि उसका सम्बन्ध मनुष्य मात्र की सामान्य-स्थिति-रक्षा से है।"

अन्य मनोविकारों से श्रद्धा का अन्तर भी शुक्लजी ने स्पष्ट किया है। किसी के प्रति श्रद्धा करते समय हमारे सामने उसका सहज व्यक्तित्व मात्र नही रहता, उसके कर्म विशेष रूप से श्रद्धा के उपादान बन जाते है। इसके विपरीत प्रेम का आश्रय केवल प्रिय का शरीर या व्यक्तित्व हो सकता है अर्थात् हम उसके ऐसे गुणो से रीझ सकते है जिनमे इसका अपना कोई हाथ नही होता है। इसके अतिरिक्त प्रेम का कारण प्रायः अनिर्दिष्ट तथा अज्ञात रहता है पर श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है। शुक्लजी के शब्दों मे "श्रद्धा मे दृष्टि पहले कर्मो पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है और प्रीति मे प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मो आदि पर जाती है। एक में व्यक्ति के कर्मो द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरी में कर्मो को व्यक्ति द्वारा। एक मे कर्म प्रधान है, दूसरी मे व्यक्ति।"

प्रेम एक प्रकार से वैयक्तिक भाव है। इसमे घनत्व है विस्तार नही। प्रेमी प्रिय के जीवन को अपने जीवन से मिलाकर एक कर लेना चाहता है, वह उसके हृदय पर एकमात्र अपना अधिकार कर लेना चाहता है। इस प्रकार प्रेम का विस्तार-स्थल सर्वथा एकान्त है। इसके विपरीत श्रद्धा एक सामाजिक भाव है, उसका व्यापार-स्थल अत्यन्त विस्तृत है। श्रद्धावान् अपनी श्रद्धा के बदले मे श्रद्धेय से अपने लिए कुछ नही चाहता है क्योकि श्रद्धा ऐसे कर्मो के कारण से होती है जिनका शुभ प्रभाव अकेले श्रद्धावान् पर नही अपितु सारे मानव-समाज पर पड़ सकता है, अत. श्रद्धावान् की यह श्रद्धा एक प्रकार से मानव-समाज की ही प्रतिक्रिया समझी जा सकती है। श्रद्धा की इस सामाजिकता का उल्लेख शुक्लजी ने इस प्रकार किया है—"श्रद्धा की सामाजिक विशेषता एक इसी बात से समझ लीजिए कि जिस पर हम श्रद्धा रखते है उस पर चाहते है कि और लोग भी श्रद्धा रखे, पर जिस पर हमारा प्रेम होता है उससे और दस-पाँच आदमी प्रेम रखे—

इसकी हमें परवा क्या इच्छा ही नहीं होती, क्योंकि हम प्रिय पर लोभवश एक प्रकार का अनन्य अधिकार या इजारा चाहते है। श्रद्धालु अपने भाव मे संसार को भी सम्मिलित करना चाहता है, पर प्रेमी नही।"

श्रद्धा एक प्रकार से आनन्दपूर्ण कृतज्ञता ही है। कृतज्ञता और श्रद्धा मे एक सूक्ष्म अन्तर होता है। अपने साथ या किसी विशेष मनुष्य के साथ किए जाने वाले व्यवहार के लिए जो कृतज्ञता होगी वह श्रद्धा नही हो सकती। श्रद्धा की दृष्टि सामान्य की ओर रहती है विशेष की ओर नहीं। यही सामान्य दृष्टि श्रद्धा को कृतज्ञता से भिन्न कर देती है। श्रद्धा और दया मे भी अन्तर है। श्रद्धा सामर्थ्य के प्रति होती है और दया असामर्थ्य के प्रति।

श्रद्धा की उपयोगिता पर भी शुक्लजी की दृष्टि गई है। सर्वप्रथम श्रद्धा द्वारा मानव के कर्मो का मूल्याकन किया जा सकता है। जिन कर्मो के प्रति मानव-मन मे आनन्दपूर्ण आदरभाव की सृष्टि हो जाएगी। मानव उन कर्मो की सदा अभिलाषा करता रहेगा। वे उसके लिए महत्त्वपूर्ण हो जाएँगे। इस प्रकार श्रद्धा एक प्रकार से शुभाशुभ कर्मो के निर्धारण में एक स्वत: सिद्ध प्रमाण ठहर जाती है। शुक्लजी के शब्दो मे श्रद्धा धर्म की पहली सीढी है। इसके द्वारा ही मानव यह आनन्दपूर्वक स्वीकार कर लेता है कि कर्म के अमुक अमुक दृष्टान्त धर्म के है।

श्रद्धा मानव जीवन की कठिनाइयो को तरल बना देती है, उसकी उलझनों को सुलझा देती है। दूसरों की श्रद्धा ससार मे एक अत्यन्त वाछ-नीय वस्तु है। इसके द्वारा मानव समाज का मगल साधन होता है। श्रद्धेय अपने उदात्त चरित्र से अपने चारो ओर मगल-सृष्टि करना चाहता है। श्रद्धालु अपनी श्रद्धा द्वारा उसे इस मगल-विधान की सूचना देता है। श्रद्धालु की इस सूचना से श्रद्धेय को अपनी सामर्थ्य का बोध हो जाता है और उसमें उन सदाचरणों के करने मे उत्साह की वृद्धि होती रहती है फलत: मानव-समाज मे मगलश्री बढती रहती है। श्रद्धा की उपयोगिता उभय-पक्ष मे देखी जा सकती है। श्रद्धेय यदि अपने सदाचरणो से मानव-मुख का

विधान करता है तो श्रद्धालु भी अपनी श्रद्धा से उसके तथा अपने समाज के सुख का विधान कर देता है। यही कारण है कि शुक्लजी श्रद्धा-धारण को मानव का परम कर्त्तव्य स्वीकार करते है। उनकी धारणा है कि "सदाचारी के प्रति यदि हम श्रद्धा नही रखते तो समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नही करते। यदि किसी को दूसरो के कल्याण के लिए भारी स्वार्थ-त्याग करते देख हमारे मुँह से 'धन्य धन्य' भी न निकला तो हम समाज के किसी काम के न ठहरे, समाज को हमसे कोई आशा नही, हम समाज में रहने योग्य नही।"

भक्ति—शुक्लजी भक्ति को भी मानव की रागात्मिका वृत्ति स्वीकार करते है अर्थात् भक्ति भी मानव-हृदय का भाव या विकार है। उसे भी सुखवर्ग मे ही परिगणित किया जा सकता है। उनकी धारणा के अनुसार इस भाव विशेष की उत्पत्ति श्रद्धा और प्रेम के योग से होती है। इसका सघटन उन सब अवयवों मे होता है जो श्रद्धा और प्रेम मे रहते है। उनकी भक्ति की परिभाषा तथा व्याख्या इसी बात का समर्थन करती है। वे कहते है—

"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्यभाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। जब श्रद्धेय के दर्शन, श्रवण, कीर्त्तन, ध्यान आदि में आनन्द का अनुभव होने लगे—जब उससे सम्बन्ध रखने वाले श्रद्धा के विषयो के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होने लगे, तब भक्ति-रस का सचार समझना चाहिए।"

किसी के प्रति पूज्यभावना की वृद्धि से, उसके सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति से, उसकी सत्ता के विविध रूपों के साक्षात्कार की लालसा से, उसके सम्मुख अपनी दीनता-लघुता की स्वीकृति से, उसके प्रति अपने जीवन-सर्वस्व को समर्पित करने की कामना से, उससे कुछ आदान की इच्छा से मानव-हृदय में एक विलक्षण मनोविकार की अनुभूति होने लगती है उसे

ही भक्ति कहा जाता है। ये सब तथ्य ही भक्ति के विधायक अग माने जा सकते है। भक्ति के क्षेत्र तथा विषय के सम्बन्ध मे शुक्लजी कहते है कि—भक्ति हृदय से ही की जाती है। वही श्रद्धा प्रेम का सयोग होता है। बुद्धि से भक्ति करना नाक से खाना और कान से सूँघना है। सामान्यतः भक्ति का विषय भी मानव ही हो सकता है। मानव हितकारी उदात्त गुणो तथा कर्म समूहों को किसी अपने जैसे शरीरधारी अन्य मानव मे देखकर मानव स्वय उसके प्रति सर्वप्रथम श्रद्धा करने लगता है और धीरे-धीरे उसके हृदय मे अपने श्रद्धेय के प्रति प्रेम भावना उत्पन्न होने लगती है। इस प्रकार वही मानव उसकी भक्ति का भी भाजन बन जाता है। अब ये केवल श्रद्धालु या केवल प्रेमी ही नहीं रहता, वह भक्त बन जाता है। श्रद्धा और प्रेम दोनों मिलकर उसे नया रूप प्रदान कर देते है। श्रद्धा की प्रेरणा से वह उसकी महत्ता को स्वीकार कर लेता है, वह उसके प्रति पूज्य बुद्धि धारण कर लेता है, वह उसकी स्तुति-प्रशंसा करके आत्म-तुष्टि की अनुभूति करता है, परन्तु प्रेम उसमे घनिष्ठता प्राप्त करने की उसमे आतुरता उत्पन्न कर देता है। अब वह उसके महत्त्व की ओर अग्रसर होता है, वह उसके प्रति अपनी दीनता की चर्चा करता है। उसके जीवन मे इस दीनता-स्वीकृति से इतनी द्रवता उत्पन्न हो जाती है कि उसका अपना आपा ही विलीन हो जाता है। वह अपनी इस तल्लीनता के प्रभाव से अपना जीवन-सर्वस्व ही उसे सौंपने को उद्यत हो जाता है। इसी झोंक मे वह उससे याचना-विनय भी करता है। इस प्रकार वह महापुरुष उसकी भक्ति का आलम्बन बन जाता है। भगवान् भी भक्ति का विषय प्रसिद्ध है। शुक्लजी ने भगवद्-भक्ति की चर्चा की है, परन्तु उन्होने यह स्पष्ट कर दिया है कि भगवान् की भक्ति उसी अवस्था में हो सकती है जब कि हम उसे ऐसा स्वरूप दे सकें जो श्रद्धा और प्रेम का विषय बन सके। भगवान् का ऐसा स्वरूप जो इन दोनो भावों का आलम्बन नही बन सकता, भक्ति का भी आलम्बन नही बन सकता है। 'तुलसी की भक्ति पद्धति' शीर्षक लेख की ये पक्तियाँ प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है—

"इसी जगत् के बीच भासित होता स्वरूप ही प्रेम या भक्ति का आलवन हो सकता है। इस जगत् मे सर्वथा असम्बद्ध किसी अव्यक्त सत्ता से प्रेम करना मनोविज्ञान के अनुसार सर्वथा असम्भव है। भक्ति केवल ज्ञाता या द्रष्टा के रूप मे ही ईश्वर की भावना लेकर सन्तुष्ट नही हो सकती। वह ज्ञातृपक्ष और ज्ञेयपक्ष दोनो को लेकर चलती है।"

शाण्डिल्य सूत्र मे भक्ति का लक्षण—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वर में परानुरक्ति ही भक्ति है। यदि इस लक्षण को स्वीकार किया जाए तो हमे ईश्वर को ऐसा स्वरूप प्रदान करना होगा जो मानव-मन का विषय बन सके। शुक्लजी ने भगवद्भक्ति का प्रतिपादन करते हुए इसी तथ्य को अपने समक्ष रखा है। वे कहते है कि जिन गुणो को किसी मनुष्य मे देखकर हम उसके प्रति श्रद्धा करने लगते है उन्ही गुणों की ईश्वर मे प्रतिष्ठा करके हम अपने हृदय में भक्ति का संचार कर सकते है। यही कारण है कि मानव ने महापुरुषों मे श्रद्धाविधायक गुणो की अतिशयता देखकर उन्हे ही भगवान् का अवतार अर्थात् भगवान् का प्रतिरूप स्वीकार कर लिया है और उन्ही के प्रति अपनी भक्ति भावना का प्रकाशन किया है। उदाहरण स्वरूप राम, कृष्ण आदि अवतारों को लिया जा सकता है। इन अवतारों में परमात्मा की विशेष कलाओ के दर्शन करके भक्त हृदय उनके गुणश्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दन, सेवन में आनन्दपूर्ण हृदय से प्रवृत्त होता है। कभी उसके प्रति दास्यभाव, कभी सख्य भाव और कभी आत्म निवेदन प्रकट करने लगता है। भगवद्भक्ति का अस्तित्व इसी रूप में सम्भव हो सकता है।

शुक्लजी की दृष्टि मे ज्ञान-कर्म समन्वित भक्ति ही प्रशस्त भक्ति है। उनका यह सिद्धान्त वाक्य है कि ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भक्ति होती है। जहाँ तक हम ईश्वर को जान पाते है वही तक उसकी भक्ति कर सकते है। कोरे ज्ञान से मानव भक्त नही कहला सकता है। यदि कोई भगवान् के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके उससे तटस्थ रहता है तो वह भक्त नही हो सकता है। उसके ज्ञान की सार्थकता भक्ति में ही है। यदि वह अपने जाने हुए स्वरूप मे हृदय मे लीन होने लगता है; उस स्वरूप को स्पष्ट करने-

वाली एक-एक बात पर मुग्ध होता चलता है तो उसका ज्ञान हृदय का योग पाकर रसात्मक अनुभूति का रूप धारण कर लेता है। ज्ञान की यही रसात्मक अनुभूति भक्ति कहला सकती है। उनका यह अटल विश्वास है कि भक्ति का प्रारम्भ ही ज्ञानपूर्वक होता है। जिस भक्ति मे ज्ञान या चैतन्य का अभाव हो और उसके स्थान पर प्रेम का उन्माद मात्र रह जाए वह दूषित एव विकलॉग भक्ति है।

ज्ञान के समान कर्म भी प्रशस्त भक्ति का अंग है। कर्म से शुक्लजी का अभिप्राय अर्थशून्य वाह्य विधि विधानो तीर्थाटन, पर्वस्नान, तिलक-माला धारण, मत्र जाप आदि कर्मो से नही है। उनकी दृष्टि मे आत्म-कल्याण और लोक कल्याण-विधायक कर्म ही सच्चे कर्म है। इन सच्चे कर्मो से शून्य भक्ति दूषित हो जाएगी। अपनी इस धारणा का समर्थन वे गीता के इस उपदेश से करते है किजानते चलो, भक्ति करते चलो और कर्म करते चलो। उन्हे भक्ति की स्वाभाविक, सीधी एव सरल प्रक्रिया ही मान्य है। इसीलिए वे कहते है—

"कल्पना या भावना जिसमे विज्ञान का भीतरी साक्षात्कार होता है और भाव या रागान्मिकावृत्ति जिससे आनन्दानुभूति होती है, दोनों मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियॉ है। वस इन्ही दो स्वाभाविक वृत्तियों के सहारे भक्ति रस की निष्पत्ति हो जाती है। इसके सीधे-सादे विधान मे न इला पिंगला नाड़ियाँ है, न सहस्रार चक्र, न ब्रह्मरन्ध्र,न आसन, और न प्राणायाम।"

यही कारण है कि उन्होंने अन्तस्साधना, गुह्य-रहस्य भावना, मत्र-तत्र और उपचारों, अलौकिक सिद्धियों के प्रति अपनी अनास्था प्रकट की है। वज्र यानी सिद्धों और नाथ पंथियो के द्वारा अर्थशून्य वाहरी विधि विधान, तीर्थाटन आदि की निन्दा को वे उचित समझते है परन्तु लोक कल्याण विधायक कर्मो की अवहेलना तथा अन्तस्साधना का उपदेश उन्हे प्रिय नहीं। भक्ति सम्वन्घी लेखो मे सर्वत्र उनकी भक्ति के स्वरूप की निन्दा ही शुक्लजी ने की है। उनकी दृष्टि मे इन पथो ने हृदयपक्ष शून्य सामान्य अन्तस्साधना-मार्ग निकालने यत्न का किया था। इस अभाव को निर्गुण-

पथ के कबीर आदि सन्तों ने अनुभव किया फलतः उन्होने प्रचलित अन्त-स्साधना भक्ति मे रागात्मिका भक्ति और ज्ञान का योग किया परन्तु सच्चे कर्म की अवहेलना से भक्ति का विमल सर्वांगपूर्ण स्वरूप निर्गुण-पथ मे भी प्रकट नही हो सका। निर्गुण भक्ति मे निराकार ब्रह्म को भक्ति का विषय बनाया गया था। शुक्लजी की धारणा के अनुसार सगुण-साकार ब्रह्म ही भक्ति-प्रेम का विषय बन सकता है अतएव कबीर आदि की भक्ति भी उनकी दृष्टि मे प्रशस्त स्वरूपा नही हुई। सगुण भक्ति सम्प्रदायों मे राम भक्ति और कृष्ण भक्ति मिलती हैं। कृष्ण भक्ति मे भक्ति के दो प्रधान अवयवों मे से केवल एक प्रेम को ग्रहण किया गया, श्रद्धा को छोड़ दिया गया अर्थात् लोकरक्षक एव लोक कल्याणकारी कर्मो की उपेक्षा कर दी गई। अतएव शुक्लजी की चेतना भक्ति के इस स्वरूप की भी प्रशसा न कर सकी। भक्ति का सर्वांगपूर्ण एव निर्मल स्वरूप राम भक्ति मे ही उन्हे दृष्टिगोचर हुआ है। उनकी भक्ति सम्बन्धी धारणा का उदाहरण तुलसी की राम भक्ति ही है। 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' से उनकी ये पक्तियाँ प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है—

"कबीर का ज्ञानपक्ष तो रहस्य और गुह्य की भावना से विकृत मिलेगा, पर सूफियों से जो प्रेम उन्होने लिया वह तत्त्व सूफियों के यहाँ चाहे काम वासना ग्रस्त हुआ हो, पर निर्गुण पथ मे वह अधिकृत रहा। यह निस्सन्देह प्रशसा की बात है। वैष्णवो की कृष्ण भक्ति शाखा ने केवल प्रेम लक्षणा भक्ति ली, फल यह हुआ कि उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगाई। राम भक्ति शाखा मे भक्ति सर्वांगपूर्ण रही, वह इससे विकृत न होने पाई। तुलसी की भक्ति पद्धति मे कर्म, धर्म और ज्ञान का पूरा सामजस्य और समन्वय रहा है।"

शुक्लजी ने भक्ति को एक सामाजिक भाव स्वीकार किया है और इसे मानव-जीवन की विशद अभिव्यक्ति मे परोक्ष रूप से साधन वर्णित किया है। वे 'श्रद्धा-भक्ति' शीर्षक निबन्ध मे लिखते है—

"भक्ति के सामाजिक महत्त्व को; इसकी लोकहितकारिणी शक्ति

को स्वीकार करने मे किसी को आगा-पीछा नही हो सकता। सामाजिक महत्त्व के लिए आवश्यक है कि या तो आकर्षित करो या आकर्षित हो। जैसेइस आकर्षण-विधान के विना अणुओं द्वारा व्यक्त पिण्डों का आविर्भाव नही हो सकता, वैसे ही मानव-जीवन की विशद अभिव्यक्ति भी नही हो सकती।" यही आकर्षण-विधान भक्ति द्वारा सम्भव हो सकता है। यही कारण है कि ससार के वडे-वड़े महात्मा अपने आचरण द्वारा दूसरो को आकर्षित करके, उनमे अपने प्रति भक्ति-भावना उत्पन्न करके मानव-समाज के कल्याण साधन मे समर्थ हुए है। जव किसी समाज मे ऐसे भक्ति-भाजन महापुरुष का अवतार होता है तव जनसाधारण के लिए उस महा-पुरुष का आश्रय पाकर महत्त्व प्राप्ति सुगम हो जाती है। भक्ति भावना दुष्कर उच्च-पथ को सुकर वना देती है। भक्त स्वय ही, अनजाने ही, उस उच्च-पथ का अनुसरण करने लगता है। भक्ति की इस उपयोगिता का वर्णन शुक्लजी ने इस प्रकार किया है—"भक्ति मे किसी ऐसे सान्निध्य की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा हमारी महत्त्व के अनुकूल गति का प्रसार और प्रतिकूल गति का सकोच होता है। इस प्रकार का सामीप्य-लाभ करके हम अपने ऊपर पहरा विठा देते है—अपने को ऐसे स्वच्छ आदर्श के सामने कर देते है जिसमे हमारे कर्मो का प्रतिबिम्व ठीक-ठीक दिखाई पड़ता है।"

भक्ति एक प्रकार की प्रवृत्ति-विधायिका शक्ति है। यह केवल व्यक्ति-गत एकान्त साधना के रूप में नही है; व्यवहार क्षेत्र के भीतर लोकमगल की प्रेरणा करने वाली है। अपने मंगल और लोक के मगल का संगम भक्ति के भीतर दिखाई पड़ता है। इस भाव के सचार से मानव मे जीवन-धारण की अभिलाषा जागती है। निराशा का अन्धकार कभी उसके पथ में गतिरोध उत्पन्न नही करता है। हृदय की सरसता सम्पूर्ण जीवन को सरस बनाकर सौन्दर्यपूर्ण एवं आकर्षक वना देती है। अतएव यह भक्ति भाव मानव-जीवन के सर्वागपूर्ण विकास मे सहायक होने के कारण परम उपादेय माना जा सकता है।

दुःखवर्ग : भय—दु:खवर्ग के मनोविकारो मे भय, करुणा, क्रोध, लज्जा

घृणा तथा ईर्ष्या का विश्लेषण शुक्लजी के निवन्धों मे मिलता है। इनमें से भय का लक्षण उन्होने इन शब्दो मे दिया है—

"किसी आती हुई आपदा की भावना या दु ख के कारण के साक्षात्कार मे जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तम्भ कारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते है।"

भय के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि मानव के सम्मुख ऐसी स्थिति उपस्थित हो जिससे दु ख उत्पन्न होने की सम्भावना हो। दु:ख के कारण के प्रत्यक्ष होते ही मानव मे अपनी अक्षमता के कारण एक प्रकार का उद्वेग उत्पन्न होता है जो कि उसे दु खदायक परिस्थिति की पहुंच से वाहर होने की प्रेरणा देता है। यही उद्वेग वृत्ति भय कहलाती है। इस प्रकार भय के सयोजक अवयवों मे दु खजनक परिस्थिति से उत्पन्न क्लेश सहने की अक्षमता को और अपनी शक्ति के अविश्वास को परिगणित किया जा सकता है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भय का आलम्बन दु:ख का कारण है। शुक्लजी ने इस आलम्बन के दो रूप वर्णित किये है—असाध्य रूप और साध्य रूप। असाध्य आलम्बन या विषय वह है जिसका किसी प्रयत्न द्वारा निवारण असम्भव हो या असम्भव समझ पड़े। साध्य विषय वह है जो प्रयत्न द्वारा दूर किया या रखा जा सके। उन दो रूपों के मूल मे दो विशेषताओं का उल्लेख भी उन्होने किया है। परिस्थिति की विशेषता के कारण या मनुष्य की सहज प्रकृति की विशेषता के कारण भय का आलम्बन साध्य या असाध्य रूप को प्राप्त कर लेता है। कई वार मनुष्य अपनी अक्षमता के ज्ञान से तथा अपनी शक्ति पर भरोसा न होने के कारण क्लेश के कारण की अनिवार्यता मानने लगता है और भय वृत्ति की जकड़ मे पड जाता है। ऐसी स्थिति मे मानव भी भयवत्ता को सूचित करने वाले चिह्न—शरीर का प्रकम्पन तथा स्तब्धता—प्रकट होने लगते है। यदि मानव को अपनी शक्ति पर भरोसा होता है, प्रकृति मे साहस होता है तो उस दु खोत्पादक परिस्थिति से वच कर भाग निकलने के लिए वह प्रयत्नशील हो जाता है। उस समय पलायन आदि

व्यापार भय के द्योतक हो जाते है।

भय के आश्रय की चर्चा भी शुक्लजी ने की है। प्रत्येक प्राणी भीतरी आँख के कुछ खुलते ही अपने सामने मानो एक दु ख-कारण-पूर्ण ससार फैला हुआ पाता है जिसे वह क्रमश. कुछ अपने ज्ञान वल से और कुछ वाहु वल से थोडा वहुत सुखमय वनाता चलता है। ससार के नाना रूपो से ज्यो-ज्यों उसका परिचय वढता जाता है त्यो-त्यो उसकी धड़क खुलती जाती है। मानो वह अपने ज्ञान वल, हृदय वल और शरीर वल के परिचय से विश्व मे परि-व्याप्त दुःख की छाया को हटाना चाहता है। शुक्लजी ने अपने इसी जीवन दर्शन के आधार पर भय के अवयवो का परिगणन किया है। वे कहते है कि जगली और असभ्य जातियो मे भय अधिक होता है। उनके देवी-देवता भय के प्रभाव मे ही कल्पित होते है, किसी आपत्ति या दुःख से वचे रहने के लिए ही अधिकतर वे उनकी पूजा करते है। इस प्रकार भय और असभ्यता का गहरा सम्वन्ध शुक्लजी स्वीकार करते है। वे कहते है कि अतिभय और भयकारक का सम्मान असभ्यता के लक्षण है।

भय का दूसरा आश्रय अशिक्षित मानव है। वे ऐसा अनुभव करते है कि अशिक्षित होने के कारण अधिकाश भारतवासी भी भय के उपासक हो गए है। वच्चो को दुःख परिहार का ज्ञान या वल नही होता अतएव बच्चे भी भय के आश्रय माने जाते है। इन्ही कारणो से पशुओं में भी भय की मात्रा अधिकता से पाई जाती है। इसका अभिप्राय यह नही कि सभ्य एव प्रौढ मानव में भय की मात्रा नही होती। उसका कारण तथा स्वरूप भिन्न अवश्य हो जाता है। सभ्यता तथा शिक्षा के विकास व विस्तार के अनुपात से मानव के भय पर्याप्त कम हो गए है। सभ्य मानवों को भूतो का भय नही रहा, पशुओं के भय से भी मुक्ति मिल रही है, परन्तु मनुष्य के लिए मनुष्य का भय अभी तक वना हुआ है। सभ्यता ने मनुष्य के व्यापारों को इतना जटिल वना दिया है कि उसके दुःख के कारण भी गूढ और जटिल हो गए है। अव यही गूढ जटिल व्यापार भय के जनक वनते जा रहे है। सामान्यतः लोग धर्म-भय की प्रशसा करते है, परन्तु शुक्लजी की दृष्टि में भयमात्र एक दुर्गुण ही है,

वह प्रशसनीय नही है। उनकी धारणा है कि धर्म से डरने वाले भी प्रशसनीय नही है; प्रशसनीय तो वे है जो धर्म की ओर आर्कषित होते है, वे निर्भयता को ही उत्तम समझते है, परन्तु यह निर्भयता यत्नसाध्य ही होती है। निर्भयता—सम्पादन के लिए वे दो बाते परमावश्यक मानते है—उत्कृष्ट-शील और पुरुषार्थ सम्पन्न शक्ति। इन्ही दोनों गुणो के कारण भयजनक परिस्थितियों का नाश हो सकता है। इनमे से शील के रहने पर दूसरों को हमसे किसी प्रकार का भय या कष्ट न होगा और शक्ति के होने पर दूसरों को हमे कप्ट या भय पहुँचाने का साहस न हो सकेगा। ऐसी स्थिति मे ही निर्भयता सम्पादित की जा सकती है।

शुक्लजी ने भय का क्रोध मे तथा उत्साह से अन्तर को भी स्पष्ट किया है। क्रोध दु:ख के कारण के स्वरूप-वोध के विना नही होता पर भय के लिए कारण का निर्दिष्ट होना जरूरी नही। इतना भर मालूम होना चाहिए कि दु:ख या हानि पहुँचेगी। क्रोध दु:ख के कारण पर प्रभाव डालने के लिए आकुल करता है और भय उसकी पहुँच से वाहर होने के लिए। उत्साह के समान भय के सामने भी कठिन स्थिति रहती है, उत्साह के समान भय में भी प्रयत्न की मात्रा रहती है, परन्तु उत्माह में कठिन स्थिति के निश्चय से, साहस के योग से एक आनन्द मिश्रित वेग उतपन्न होता है, परन्तु भय मे कठिन स्थिति के निश्चय से, विवशता के योग से एक दु:खमिश्रित वेग उत्पन्न होता है। उत्साह में प्रयत्न का लक्ष्य कठिन स्थिति को दूर करना होता है, परन्तु भय मे प्रयत्न का लक्ष्य उस स्थिति से स्वय दूर होना होता है। इस प्रकार भय मानव जीवन मे बाधक स्वरूप ठहरता है उसे कर्म पथ से विचलित करता है, इसकी उपयोगिता उसी रूप में है कि मानव भय-संचार द्वारा दुर्जनों आततायियो के प्रयत्न को रोकने में सफल हो सकता है। समाज की व्यवस्था में, राज्य की मुव्यवस्था मे भय से पर्याप्त उपयोग लिया जा सकता है। दण्ड का भय और अनुग्रह का लोभ दिखाते हुए राज्य शासन तथा नरक का भय और स्वर्ग का लोभ दिखाते हुए धर्म शासन चलते आ रहे है।

भय के प्रसंग से शुक्लजी ने भय के हलके रूप आशंका का भी उल्लेख

किया है। दु:ख या आपत्ति का पूर्ण निश्चय न रहने पर उसकी सम्भावना मात्र के अनुमान मे आवेग शून्य, भय होता है उसे आशका कहा जाता है। दु:खात्मक भावों में आशका की वही स्थिति समझी जाती है जो सुखात्मक भावो मे आशा की। आशका भय का अपूर्ण रूप है।

करुणा :—दु:ख वर्ग मे करुणा को परिगणित किया जाता है। दूसरो के दु:ख के परिज्ञान मे मानव हृदय में जो दु:ख का वेग उत्पन्न होता है उसे करुणा कहा जाता है। करुणा का विषय दूसरे का दु:ख है अपना दु:ख नही। इस दु:ख का कारण दूसरा व्यक्ति अज्ञात तथा ज्ञात, प्रिय भी हो सकता है। करुणा का वेग व्यक्ति भेद से भिन्न-भिन्न मात्राओं मे उत्पन्न होता है। अज्ञात व्यक्ति के दु:ख को देखकर भी करुणा उत्पन्न होती है, परन्तु ज्ञात व्यक्ति के दु:ख से जो करुणा उत्पन्न होगी उसका वेग मात्रा में अपेक्षाकृत अधिक होगा। इसी प्रकार यदि कोई दु:खी व्यक्ति अपना प्रिय है तो उसके प्रति जो करुणा होगी वह मन में ज्ञात-अज्ञात व्यक्ति की अपेक्षा अधिक व्याकुलता उत्पन्न करेगी। अत: यह स्पष्ट है कि करुणा की तीव्रता सापेक्ष होती है। प्रिय से वियुक्त होने की स्थिति मे जो दु:ख होता है उसमें कभी-कभी करुणा का भी कुछ अंश मिला रहता है। इस स्थिति मे करुणा का विषय प्रिय का दु:ख न होकर प्रिय के सुख का अनिश्चय है। जो करुणा साधारण-असाधारण; ज्ञात-अज्ञात तथा प्रियजनों के वास्तविक दु:ख के परिज्ञान से होती है वही करुणा मानव हृदय मे अपने प्रियजनों के सुख के अनिश्चय मात्र से होती है।

करुणा की प्रवृत्ति क्रोध से विपरीत रूप में होती है। क्रोधी मानव क्रोध-भाजन की हानि की चेष्टा करता है, परन्तु करुणापूर्ण मानव करुणा-पात्र की भलाई की चेष्टा करता है इससे स्पष्ट है कि क्रोध की प्रवृत्ति हानि की ओर, करुणा की प्रवृत्ति भलाई की ओर रहती है। इस प्रकार भलाई की उत्तेजना सुख और दु:ख दोनों वर्ग के मनोविकारों से हो जाती है। सुख के वर्ग में ऐसा कोई मनोविकार नही जो अपने विषय की हानि की चेष्टा करे, परन्तु दु:ख की श्रेणी मे करुणा ऐसा भाव है जो अपने पात्र की भलाई की

उत्तेजना करता है

करुणा अप्रेष्य भाव है अर्थात् करुणा के बदले में करुणा उत्पन्न नहीं होती, परन्तु श्रद्धा या प्रीति उत्पन्न होती है। करुणा की उपयोगिता को देखकर शुक्लजी ने इसकी बडी प्रशंसा की है। उनकी दृष्टि मे, मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता की संस्थापिका करुणा ही है। करुणा ऐसे कर्मों की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है जिनसे दूसरो के दु:ख की निवृत्ति और सुख का साधन होता है। इसी कारण वे इसे एक सात्त्विक भाव मानते है। इसी से शील नामक सद्वृत्ति की उत्पत्ति होती है। दूसरो के सम्भाव्य दु:ख का ध्यान या अनुमान करके मानव ऐसी बातों या आचरणों से बचने का प्रयत्न करता है जिनसे दूसरो को दु ख पहुँच सकता है। यही प्रयत्न शील वृत्ति का परिचायक है। लोक रक्षा के लिए इस गुण की उपयोगिता अनिवार्य है। मनुष्य के अन्तःकरण मे सात्त्विक की ज्योति जगाने वाली यही करुणा है। सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है, क्योकि कर्मक्षेत्र मे परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देने वाली किसी-न-किसी रूप मे करुणा ही दिखाई देती है। शुक्ल-जी पाश्चात्य समाज शास्त्रियो की भावना के अनुसार परस्पर साहाय्य के व्यापार को बुद्धिकृत नही मानते है। मानव यदि दूसरों के दु.ख की निवृत्ति के लिए उनकी सहायता करता है तो यह विवेचना करके नही करता कि इनसे उसका अपना कल्याण होगा। निस्सन्देह दूसरो की सहायता करने से आत्मरक्षा एवं आत्मकल्याण की सम्भावना निश्चित रूप से विद्यमान रहती है। फिर भी यह निश्चित है कि ससार मे एक-दूसरे की सहायता बुद्धि की प्रेरणा से नही अपितु मानव-मन की करुणा नामक वृत्ति की प्रेरणा से ही की जाती है। यही कारण है कि करुणा सदा असहाय, असमर्थ तथा दु:खी लोगों के प्रति ही अधिकता से की जाती है। दु:खी व्यक्ति जितना ही असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी। शुक्लजी की धारणा के अनुसार परस्पर साहय्य के व्यापक उद्देश्य के धारण करने वाला मनुष्य का छोटा-सा अन्तःकरण नही विश्वात्मा है।

विशेषतया अपने परिचितों के थोडे क्लेश या शोक पर जो वेग रहित दु:ख होता है उसे 'सहानुभूति' कहते है। शिष्टाचार के रूप मे भी इस भाव का प्रयोग किया जा सकता है अतएव प्राय· इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नही समझा जाता है। शुक्लजी इसे छद्म-शिष्टता के रूप मे वर्णित करते है और यह कहते है कि यह मनुष्य के व्यवहार क्षेत्र से सच्चाई के अश को क्रमश चरती जा रही है।

क्रोध—मनोविकारों मे क्रोध का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्रोध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए शुक्लजी कहते है—"क्रोध दु ख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है।" दु ख के कारण की स्पष्ट धारणा के बिना क्रोध उत्पन्न नही हो सकता है। क्रोध का वेग बड़ा प्रवल होता है, अतएव कभी-कभी मनुष्य दु ख देने वाले की इच्छा-अनिच्छा का भी विचार नही करता और क्रोध प्रकट होने लगता है। क्रोध का आलम्वन पीड़क होता है। क्रोध की उग्र चेष्टाओं का लक्ष्य सर्वप्रथम पीड़ा पहुँचाने वाले मे भय का सचार करना होता है। हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति भय-सचार के अभाव मे ही प्रकट होती है। क्रोध मे एक अन्धापन रहता है। क्रोध करने वाला दु ख देने वाले की ओर तो देखता है, परन्तु अपनी ओर नही। इसीलिए कभी-कभी यह क्रोध करने वाले के लिए वड़ा अनर्थकारी सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त यदि दु ख के कारण के निर्धारण मे किसी प्रकार की भूल हो जाती है तो भी क्रोध हानिकर ही सिद्ध होता है।

क्रोध दु:ख के कारण पर प्रवल प्रभाव डालने मे प्रवृत्त करता है अतएव इसका आविर्भाव मानव-मन मे शैशवकाल की अवोधावस्था मे ही होने लगता है। यह अन्य सब मनोविकारों से फुर्तीला होता है अतएव यह अन्य कई मनोविकारो के साथ रहकर मानव-तुष्टि का विधायक वन जाता है। कभी यह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। क्रोध प्रेष्य भाव है अर्थात् एक का क्रोध दूसरो में भी क्रोध का सचार करता है।

शुक्लजी ने क्रोध की उपयोगिता भी स्वीकार की है। वे कहते है कि सामाजिक जीवन मे क्रोध की जरूरत वरावर पड़ती है। यदि क्रोध न हो

तो मनुष्य दूसरो के द्वारा पहुँचाए जाने वाले बहुत से कष्टो की चिर-निवृत्ति का उपाय ही न कर सके। इसकी अनुपयोगिता तभी स्पष्ट होती है जब कि यह अत्यन्त उग्र रूप मे प्रकट होकर मानव-बुद्धि को कुण्ठित कर देता है, मानव को अन्धा कर देता है। ऐसी स्थिति मे मानव उचित-अनुचित का, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का, परिस्थितियो के विवेक का, अपनी सबलता निर्बलता का ध्यान ही दूर कर देता है। यदि कारण के यथार्थ निश्चय के उपरान्त अपने उद्देश्य को भली भाँति समझने के पश्चात् उचित एव आवश्यक मात्रा मे क्रोध का प्रदर्शन किया जाता है तो यह अत्यन्त उपयोगी मनोविकार सिद्ध होता है।

क्रोध के प्रशस्त रूप की चर्चा भी शुक्लजी ने की है। वे कहते है कि क्रोध के प्रेरक दो प्रकार के दु:ख हो सकते है—अपना दु:ख और पराया दु ख। अपने दु ख के कारण जो क्रोध उत्पन्न होगा वह क्रोध का निद्य एवं त्याज्य रूप होगा। इसके विपरीत जो दूसरे दु:ख पर उत्पन्न होगा वह प्रशसनीय कहलाएगा। शुक्लजी के शब्दो मे क्रोधोत्तेजक दु ख जितना ही अपने सम्पर्क से दूर होगा, उतना ही लोक मे क्रोध का स्वरूप सुन्दर और मनोहर दिखाई देगा। दूसरे शब्दो में निर्विशेषता ही क्रोध में सौन्दर्य की सृष्टि कर देती है। ऐसा ही निर्विशेष क्रोध करुणा के आज्ञाकारी सेवक के रूप मे हमारे सामने आता है। लोक-व्यापी अत्याचार तथा दमन को दूर करने के लिए जब क्रोध प्रचण्ड अग्नि के रूप में प्रकट होता है तब उसे सात्त्विक तेज कहा जाता है। ऐसा क्रोध अन्धा नहीं होता उसमे तामस ताप नही होता है। ऐसा कोप तो धर्म कोप होता है। दण्ड ऐसे ही कोप का एक विधान होता है अत: राजदण्ड दूसरे शब्दों मे राजकोप है। वही राजकोप धन्य है जिसमें लोक कोप एव धर्मकोप मूलत: विद्यमान है।

क्रोध के कुछ अन्य रूप भी मानव-मन मे उत्पन्न होते है। वैर क्रोध का ही एक रूपान्तर है। शुक्लजी इसे क्रोध का अचार या मुरब्बा कहते है। दु:ख पहुँचने के साथ ही दु:खदाता को पीड़ित करने की प्रेरणा करने वाला मनोविकार क्रोध और कुछ काल बीत जाने पर प्रेरणा करने वाला

भाव वैर है। क्रोध का एक सामान्य रूप प्रतिकार कहलाता है। जब किसी ऐसे दुःख पहुँचाने वाले को कष्ट पहुँचाने का यत्न किया जाता है जिससे पुनः दुःख पहुँचने की सम्भावना नही होती तो यह व्यापार प्रतिकार कहलाता है। अधिकतर क्रोध इसी रूप मे प्रकट होता है। प्रायः क्रोध में आत्मरक्षा की भावना रहती है, परन्तु प्रतिकार रूप में स्वरक्षा की भावना का अभाव रहता है।

'अमर्ष' भी क्रोध का ही एक रूप है, परन्तु इसमें अन्य की बात की असह्यता से एक क्षोभ युक्त और आवेगपूर्ण अनुभूति मन मे उत्पन्न होती है। क्रोध में दुःख पहुँचाने वाले को भयभीत या पीडित करने की प्रवृत्ति रहती है, परन्तु अमर्ष की स्थिति मे दुःख पहुँचाने वाली बात पर और उसकी असह्यता पर विशेष ध्यान रहता है।

क्रोध का एक हलका रूप 'चिडचिडाहट' है। इसका कोई विशेष कारण नही होता है। यह एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है। शुक्लजी इसे विनोद की सामग्री के रूप मे भी वर्णित करते है। वे कहते है—"इसका स्वरूप उग्र और भयंकर न होने मे यह बहुतो के विशेषतः बालको के— विनोद की एक सामग्री भी हो जाती है।"

लज्जा—लज्जा भी दुःखमूलक मनोविकार है। दूसरों के चित्त मे बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियो का जो संकोच होता है उसी को शुक्लजी लज्जा कहते है। इस प्रकार 'लज्जा' का कारण अपनी बुराई, त्रुटि या दोष का हमारा अपना निश्चय नही दूसरे के निश्चय का निश्चय या अनुमान है जो हम बिना किसी प्रकार का प्रमाण पाए केवल अपने आचरण या परिस्थिति-विशेष पर दृष्टि रखकर ही कभी-कभी कर लिया करते है। 'लज्जा' के लिए यह आवश्यक नही कि हम अपने को दोषी समझे या दूसरा हमे दोषी या बुरा समझें। उसके लिए इतना ही आवश्यक है कि हम स्वयं यह समझने लग जाएँ कि दूसरा हमें बुरा या दोषी समझता है।

'लज्जा' का अनुभव एक प्रकार के दुःख का अनुभव है अतः इसकी

उपयोगिता बुराई से मनुष्य को दूर रखने मे देखी जा सकती है। राजसी वृत्ति वाला लोकलाज के भय से अपने-आपको कुकर्मो से बचा सकता है। लज्जाशील मानव बुराई को हृदय से निकाल नहीं सकता है केवल दूसरो को अच्छे न लगनेवाले कर्म वह दूसरो की दृष्टि से दूर रखकर करना चाहता है। इस प्रकार वह दूसरो के हृदय मे अज्ञान की प्रतिष्ठा करके स्वय अन्धकार मे ही आगे बढना चाहता है। दूसरों का भय उसे छिपने-छिपाने की प्रेरणा तो करता है,परन्तु हृदय से कुप्रवृत्ति के सॅस्कारो को ही दूर करने के लिए उत्तेजित नही करता यह कार्य लज्जा का एक अन्य रूप 'ग्लानि' कर देती है। अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता आदि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियो मे जो शैथिल्य आता है वह 'ग्लानि' का लक्षण है। 'ग्लानि' अन्त करण की शुद्धि का एक प्राकृतिक विधान है। उसके उद्गार मे अपने दोष, अपराध, तुच्छता, बुराई इत्यादि का लोग नि.संकोच कथन कर देते है। इस अवस्था मे दुराव या छिपाव की प्रवृत्ति नही रहती। यही कारण है कि दुष्प्रवृत्ति को दूर करने मे 'लज्जा' की अपेक्षा 'ग्लानि' का अधिक महत्त्व है। शुक्लजी इसी बात का उल्लेख करते हुए कहते है—

"दूसरो का भय हमे भगा सकता है, हमारी बुराई को नही। दूसरो से हम भाग सकते है, पर अपने से नही। जब अपने को हम अच्छे न लगेगे तब सिवा इसके कि हम अच्छे हों या अच्छे होने की आशा करे, आत्मग्लानि से बचने का और कोई उपाय न रहेगा पर जिनके अन्तःकरण मे अच्छे सस्कारों का बीज रहता है, ग्लानि उन्ही को होती है।"

यदि मनुष्य लज्जा के कारण किसी काम मे प्रवृत्त नही होता तो उसे दूसरो से निन्दा की आशका रहती है। इस आशका वृत्ति का ग्लानि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता अतएव ग्लानि की स्थिति में हम स्वयं अपने प्रति बुरी धारणा करने लगते है। इसी धारणा की निश्चयात्मक स्थिति मे हमे दुष्कर्म से रोकने में सहायक हो जाती है। इसीलिए शुक्लजी 'ग्लानि' को 'लज्जा' का प्रशस्त रूप एवं मानव जीवन के लिए उसे उपयोगी स्वीकार करते है। वे सात्त्विक वृत्ति वाले उत्तम कोटि के मनुष्यों में ही इसकी

स्थिति मानते है।

लज्जा का एक हलका रूप 'सकोच' भी होता है जो किसी काम को करने से पहले ही होता है। कर्म पूरा हो जाने के उपरान्त इस भाव की स्थिति नही मानी जाती, तब उसे 'लज्जा' ही कहा जाता है। 'सकोच' इस बात के ध्यान या ग्राशका से होता है कि जो कुछ हम करने जा रहे है वह किसी को अप्रिय या वेढगा तो न लगेगा, उससे हमारी दु:शीलता या धृष्टता तो न प्रकट होगी। मानव क्रियाओं का प्रतिवन्धक होने के कारण 'सकोच' शील का एक प्रधान अग, सदाचार का एक सहज साधक और शिष्टाचार का एकमात्र आधार माना जा सकता है। शुक्लजी कहते है—

"जिसमे शील सकोच नही वह पूरा मनुष्य नही। वाहरी प्रतिवन्धों से हमारा पूरा शासन नही हो सकता—उन सव वातो की रुकावट नही हो सकती जिन्हे हमे न करना चाहिए। प्रतिवन्ध हमारे अन्तःकरण मे होना चाहिए। ··बुद्धि द्वारा प्रवृत्ति जवरदस्ती रोकी जाती है पर लज्जा, सकोच आदि की अवस्था मे प्राप्त होकर प्रवर्त्तक मन आपसे आप रुकता है। चेष्टाएँ आपसे आप शिथिल पड जाती है। यही रुकावट सच्ची है।"

लज्जा और सकोच की अधिकता मानव जीवन के लिए विशेष उपयोगी नही होती है। इनकी अतिशयता से व्यवहार तथा शिष्टाचार का निर्वाह भी कठिन हो जाता है। जैसे वहुत से लडको को प्रणाम करने मे लज्जा मालूम होती है। ऐसी लज्जा किसी काम की नही होती।

लोक में लज्जा को स्त्रियो का भूषण माना जाता है। उसका कारण केवल यही है कि स्त्रियाँ चिरकाल से पुरुषो के आश्रय मे रहती आई है; इसलिए उन्हें इस बात का ध्यान विशेष रहता है कि उनकी कोई त्रुटि पुरुषो के सामने न आने पाए। इसी वात के कारण उनके मन मे प्राय यह आशका वनी रहती है कि कही हम अप्रिय न लगे। यही आशका उनमे चिरस्थायी होकर लज्जा के रूप मे हो गई है। पुरुष ने नारी की इस दुर्बलता को चिरस्थायिनी वनाने के लिए उसे भूषण रूप मे वर्णित करना प्रारम्भ किया। फलत: आज स्त्रियो के रूप रंग के समान उनकी लज्जा भी

पुरुषों के लिए आनन्द और विलास की सामग्री बन गई है ।

घृणा—'लज्जा' प्रवृत्ति मे प्रतिबन्ध खड़ा कर देती है, परन्तु घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखला देती है, अतएव घृणा का यह लक्षण किया जाता है कि अरुचिकर विषयो के उपस्थित होने पर अपने ज्ञानपथ मे उन्हे दूर रखने की प्रेरणा करने वाला जो दु ख होता है उसे 'घृणा' कहते है ।

घृणा का लक्ष्य आश्रय का अपना हृदय है, उसीकी क्रियाओं का निर्धारण यह करती है । घृणा के विषय सामान्यतया दो प्रकार के होते है—स्थूल और मानसिक । स्थूल विषयो मे सभी भद्दे, असुन्दर पदार्थ आ जाते है जिनका सम्बन्ध हमारी आँख, कान और नाक इन तीन इन्द्रियों से होता है । ये स्थूल विषय प्राय सब मनुष्यों के लिए समान होते है । सुरूप और कुरूप, मधुर स्वर और कटु स्वर, सुगन्ध और दुर्गन्ध के विषय मे प्राय॰ एकमत रहता है । मानसिक घृणा के विषय मे पर्याप्त मतभेद रहता है । चेतन मानव अपने मन मे बाह्य पदार्थो, गुणों तथा व्यापारों के प्रति कुछ धारणाएँ संस्कार रूप से रखता है । इन सस्कारों का निर्माण अशत॰ अपनी सहज वृत्ति द्वारा और अशत. शिक्षा तथा सामाजिक तथा अन्यान्य परिस्थितियों द्वारा होता है । अपने सस्कारो के अनुरूप आदर्शो के प्रतिकूल जब कोई पदार्थ, गुण या व्यापार मानव के सम्मुख उपस्थित होता है तब उसे ऐसे पदार्थो, गुणों या व्यापारो से दूर रहने की दु खमूलक प्रवृत्ति होने लगती है । इस घृणा के आलम्बन मानसिक विषय होते है । मानसिक घृणा के कुछ विषय ऐसे भी होते है जिनमे प्रायः कोई मतभेद मानव समाज मे दृष्टिगोचर नही होता हैं । वेश्यागमन, जुआ, मद्यपान, स्वार्थपरता, कायरता, आलस्य, लम्पटता, पाखण्ड, अनधिकार चर्चा, मिथ्याभिमान आदि इसी प्रकार के सर्व सामान्य मानसिक घृणा के विषय है । इन सर्व सामान्य विषयों के सम्बन्ध मे भी कभी-कभी मतभेद उपस्थित हो जाता है । यह मतभेद इन विषयों की मात्रा के आधार पर होता है । एक ही वस्तु, गुण या व्यापार किसी मात्रा मे श्रद्धा का विषय और किसी मात्रा में घृणा का विषय बन जाता है । यदि दृढता और हठ, धीरता और आलस्य, सहनशीलता और भीरुता, उदारता और

अपव्ययिता, मितव्ययिता और कृपणता आदि विषयों के बीच की सीमा सब मानवों के मन मे एक समान रहती तो यह मतभेद दृष्टिगोचर न होता। इसी आधार पर शुक्लजी कहते है—

"घृणा के विपय में मतभेद का एक और कारण ग्राह्य और अग्राह्य होने के लिए विपय मात्रा की अनियति है। सृप्टि मे बहुत-सी वस्तुओ के बीच की सीमाएँ अस्थिर है। एक ही वस्तु, व्यापार या गुण किसी मात्रा मे श्रद्धा का विषय होता है, किसी मात्रा मे अश्रद्धा का। इसके अतिरिक्त शिक्षा और सस्कार के कारण एक ही मात्रा का प्रभाव प्रत्येक हृदय पर एक ही प्रकार का नही पडता। यह नही है कि एक बात एक आदमी को जहाँ तक अच्छी लगती है वहाँ तक दूसरे को भी अच्छी लगे।"

अपने सस्कारो के कारण मानव कई स्थूल और मानसिक विपयों पर अपनी ओर से कुछ आरोप कर लेता है। इन्ही आरोपो के कारण वह किसी विषय को अरुचिकर समझकर उससे घृणा करने लगता है। शुक्लजी की धारणा है कि भिन्न-भिन्न मत वालो मे जो परस्पर घृणा देखी जाती है वह अधिकतर ऐसे ही आरोपों के कारण। एक के आचार-विचार से जब दूसरा घृणा करता है। तब उसकी दृष्टि यथार्थ मे उस आचार-विचार परनहीं रहती है अपितु अपनी ओर से आरोपित घृणा के सामान्य आधारों मे से किसी एक पर रहती है। इसीलिए वे कहते है—"मूसाई और ईसाई लोग देव पूजको से इसलिए घृणा नही करते कि वे छोटी वस्तुओं पर श्रद्धा-भक्ति करते है, बल्कि यह समझकर कि वे उनके जमीन और आसमान बनाने वाले खुदा से दुश्मनी किये बैठे है। अपने बनाने और पालने वाले से वैर ठानना कृतघ्नता है अतः उनकी घृणा आरोपित कृतघ्नता के प्रति है, देवपूजा के प्रति नही।"

शुक्लजी ने घृणा का क्रोध से अन्तर स्पप्ट करते हुए कहा है कि घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखलाती है और क्रोध प्रवृत्ति का। क्रोध का विषय पीड़ा या हानि पहुँचाने वाला होता है, इससे क्रोधी उसे नष्ट करने मे प्रवृत्त होता है। घृणा का विषय इन्द्रिय या मन के व्यापार में संकोच मात्र उत्पन करने

वाला होता है। घृणा का विषय हमे घृणा का दु ख पहुँचाने के विचार से सामने उपस्थित नही होता, पर क्रोध का चेतन विषय हमे आघात या पीडा पहुँचाने के उद्देश्य से हमारे सामने उपस्थित होता है या समझा जाता है। यही कारण है कि घृणा विषय से दूर ले जाने वाली है और क्रोध हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर विषय के पास ले जाने वाली है।

क्रोध के वैर रूप से भी घृणा भिन्न होती है। वैर का आधार व्यक्तिगत होता है, घृणा का सार्वजनिक। यही कारण है कि आजकल की बनावटी सभ्यता या शिष्टता में 'घृणा' शब्द वैर या क्रोध को छिपाने का भी काम दे जाता है। वैर करना एक छोटी बात समझी जाती है, अतः वैर के स्थान पर 'घृणा' का नाम लेने से बदला और बचाव दोनों हो जाते है। 'घृणा' और 'भय' की प्रवृत्ति यद्यपि एकसी है तथापि दोनों में अन्तर है। भय का विषय भावी हानि का अत्यन्त निश्चय करने वाला होता है और घृणा का विषय उसी क्षण इन्द्रिय या मन के व्यापारों मे सकोच उत्पन्न करने वाला है। कहीं-कही 'घृणा' क्रोध का शान्त रूपान्तर मात्र प्रतीत होती है। महात्मा लोग क्रोधपूर्ण बातों को सुनकर भी शान्त रहते है, परन्तु क्रोध प्रकट करने वाले के प्रति उदासीनता से व्यवहार करते है। साधारण लोग भी इसी प्रकार की उदासीनता घृणित व्यक्तियों के प्रति प्रदर्शित कर दिया करते है। यही कारण है कि आजकल सभ्यता या शिष्टता के व्यवहार में घृणा को उदासीनता के नाम से छिपाने का यत्न किया जाता है। इन दोनों वृत्तियों मे भी अन्तर है। जिस बात से हमे घृणा है, हम उस बात के लिए व्याकुल रहते है कि वह बात न हो, परन्तु जिस बात से हम उदासीन है उसके विषय मे हमें परवा नही रहती, वह चाहे हो, चाहे न हो। यही दोनों में अन्तर है।

'घृणा' कोई उपयोगी मनोविकार नही है, क्योंकि यह एक प्रेष्य मनोविकार है। प्रेष्य मनोवेग सजाततीय सयोग पाकर बहुत जल्दी बढते है। घृणा मे घृणा उत्पन्न होकर समाज-व्यवस्था मे बाधा उपस्थित कर सकती है। अतः शुक्लजी कहते है कि इस भाव से बहुत सावधान रहना चाहिए

और लोगों को वहुत समझ-बूझकर उसे स्थान देना और प्रकट करना चाहिए, क्योंकि यदि हमारी घृणा अज्ञानवश ऐसी वस्तुओं से है जिनसे हमें लाभ पहुँच सकता है तो उनके अभाव का कष्ट हमे भोगना पडेगा। शारीरिक बल और शिक्षा आदि से जिन्हें घृणा है वे उनके लाभों से वञ्चित रहेंगे। किसी बुद्धिमान् मनुष्य से जो मन मे घृणा रखेगा वह उसके सत्संग के लाभों से हाथ धोएगा।

ईर्ष्या—'ईर्ष्या' भी एक अनावश्यक मनोविकार है। 'ईर्ष्या' के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए शुक्लजी ने लिखा है कि जैसे दूसरे के दुःख को देख दुःख होता है वैसे ही दूसरे के सुख या भलाई को देखकर भी जो एक प्रकार का दुःख होता है उसे 'ईर्ष्या' कहते है। जब किसी विषय मे अपनी स्थिति को सुरक्षित रख सकने या समुन्नत कर सकने के निश्चय मे अयोग्यता या आलस्य आदि के कारण कुछ कसर रहती है तभी इस इच्छा का उदय होता है कि किसी व्यक्ति विशेष की स्थिति उस विषय मे हमारे तुल्य या हमसे बढकर न होने पाए। यही इच्छा 'ईर्ष्या' के दुःख को उत्पन्न करने मे सहायक हो जाती है। 'ईर्ष्या' के इसी स्वरूप को दृष्टि मे रखते हुए वे इसे मूल मनोविकार नही मानते अपितु एक मिश्रित मनोविकार स्वीकार करते है। उनके विश्लेषण के अनुसार ईर्ष्या की संप्राप्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से होती है। जब हम अपनी उन्नति के लिए प्रयत्न नही करते तभी हमारा ध्यान दूसरो की उन्नति की ओर जा सकता है और इसी अवस्था मे यदि हमारा अभिमान साथ मिल जाए तो हम दूसरो की उन्नति से दुःखी होने लगते है। अभिमान एक व्यक्तिगत गुण है। यदि व्यक्ति को अपने गुणो-धन, ऐश्वर्य तथा शक्तियों का परिज्ञान है और इसी निजी गौरव की अनुभूति से वह अपने में गर्व की अनुभूति भी करता है तो कोई बुराई की वात नही, परन्तु जब उसमें अपने इन विशिष्ट गुणो के प्रदर्शन की इच्छा उत्पन्न होती है तो यह एक बुराई का रूप धारण करने लगता है। यदि उसे इस बड़ाई के आनन्द का चसका लग जाएगा और वह हर घड़ी इसका अनुभव करना चाहेगा, उसे प्रकट किया करेगा तो यह एक

प्रकार का दुर्व्यसन हो जाएगा और 'अहकार' के नाम से पुकारा जाएगा। जिस किसी के चित्त मे इस प्रकार अहकार घर करेगा, उसमे अपने चारों ओर अपने से घटकर धन, मान, गुण या वल देखने की स्थायी इच्छा स्थापित हो जाएगी और जो वस्तु उसे प्राप्त है उसे दूसरों को भी प्राप्त करते देख उसे कुढन होगी। इसी कुढन का नाम 'ईर्ष्या' है। इस प्रकार अभिमान हर घड़ी वड़ाईकी भावना भोगनेका दुर्व्यसन है 'ईर्ष्या' उसकी सहगामिनी है।

उक्त कुढन की उत्पत्ति अपनी असमर्थता से उत्पन्न निराशा से भी हो सकती है। जव हम यह देखते है कि हम किसी वस्तु को प्राप्त नही कर सकते और उसके अभाव मे लोगो की दृष्टि मे हम ऊँचे नही कहला सकते परन्तु दूसरा व्यक्ति उसी वस्तु को प्राप्त करके लोगों की दृष्टि मे हममे ऊँचा वन रहा है तव हमे एक प्रकार की निराशा उत्पन्न होती है। यही निराशा, अभिमान और आलस्य का प्रश्रय पाकर हमारी इस इच्छा को वलवती करने लगती है कि यह दूसरा व्यक्ति उस वस्तु को प्राप्त न करता तो अच्छा था। उसके पास उस वस्तु को देखना हमारे लिए असह्य हो जाता है और मन मे 'ईर्ष्या' की कुढन सचारित होने लगती है।

'ईर्ष्या' के तीन पक्ष होते है—आश्रय, आलम्वन और द्रष्टा समाज। आश्रय के दो रूप होते है—एक असम्पन्न और दूसरा सम्पन्न। असम्पन्न रूप वह है जिसमे ईर्ष्या करनेवाला दूसरे को ऐसी वस्तु प्राप्त करते देख दुखी होता है जो उसके पास नही है। ऐसे दुःख मे आलस्य या असामर्थ्य से उत्पन्न नैराश्य, दूसरे की प्राप्ति से अपनी सापेक्षिक छोटाई का वोध, दूसरे की असम्पन्नता की इच्छा, और अन्त मे इस इच्छा की पूर्ति मे वाधक उस दूसरे व्यक्ति पर एक प्रकार का मीठा क्रोध, इतने भावों का मेल रहता है। इसके विपरीत सम्पन्न दशा वह है जिसमें जो वस्तु हमे प्राप्त है उसे दूसरे को भी प्राप्त करते देख हमे दु.ख होता है। असम्पन्नता मे दूसरे को अपने से वढकर होते देख दुःख होता है। सम्पन्न दशा में दूसरे को अपने बराबर होते देख दु.ख होता है। सम्पन्न की ईर्ष्या में आकांक्षा बढी-चढी होती है।

आलम्वन की दृष्टि से यदि ईर्ष्या के स्वरूप पर विचार करे तो यह

स्पष्ट होता है कि सम्वन्धियों, वालसखाओं, सहपाठियों और पड़ोसियों के बीच ईर्ष्या का विकास अधिक देखा जाता है। 'ईर्ष्या' उन्ही से होती है जिनके विषय मे यह धारणा होती है कि लोगो की दृष्टि हमारे साथ-साथ उन पर भी अवश्य पड़ेगी। अपने से दूरस्थ होने के कारण अपने साथ-साथ जिन पर लोगो के ध्यान जाने का निश्चय नही होता उनके प्रति 'ईर्ष्या' उत्पन्न नही होती।

'ईर्ष्या' का तीसरा पक्ष द्रष्टा समाज है। 'ईर्ष्या' करने वाले और 'ईर्ष्या' के पात्र के अतिरिक्त स्थिति पर ध्यान देने वाले समाज की आवश्यकता है। इसी समाज की धारणा पर प्रभाव डालने के लिए 'ईर्ष्या' की जाती है। इस प्रकार 'ईर्ष्या' सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है। इसके प्रभाव से हम दूसरे की बढ़ती से अपनी कोई वास्तविक हानि न देखकर भी व्यर्थ दुःखी होते है। समाज में पड़ते ही मनुष्य देखने लगता है कि उसकी स्थिति दोहरी हो गई है। वह देखता है कि 'मैं यह हूँ' और 'मै यह समझा जाता हूँ।' इस दोहरेपन से उसका सुख भी दोहरा हो जाता है और दुःख भी। जव हम अपने विषय मे दूसरों की झूठी धारणा और अपनी स्थिति के सापेक्ष रूपमात्र से सन्तोष करना चाहते है तभी वुराइयों के लिए जगह होती है और 'ईर्ष्या' की राह खुलती है।

'ईर्ष्या' से आश्रय को लाभ नही पहुँचता है। 'ईर्ष्या' का दुख प्रायः निष्फल ही जाता है क्योकि अधिकतर जिस वात की 'ईर्ष्या' होती है वह ऐसी वात होती है जिस पर हमारा वश नही होता है। शुक्लजी की दृष्टि मे मानव जीवन के लिए यह वृत्ति अनिष्टकारिणी है। वे उसे ऐसी वुराई मानते है जिसका वदला यदि मिलता है तो कुछ अधिक ही मिलता है। वे इसे प्रकृति के कानून में एक पाप या जुर्म स्वीकार करते है। प्रायः मनुष्य अपने पाप को छिपाता है। 'ईर्ष्या' भी ऐसा ही पाप है जिसको प्रत्येक मानव छिपाना चाहता है। इसीलिए वे इसे एक अत्यन्त लज्जावती वृत्ति कहते है। यह अपने धारण कर्ता के सामने भी मुँह खोलकर नही आती। इसका कोई वाहरी लक्षण धारण कर्त्ता पर नही दिखाई देता। यह एक ऐसी कुत्सित

वृत्ति है कि सभा-समाज मे, मित्रमण्डली मे, परिवार में, एकान्त कोठरी मे कही भी स्वीकार नही की जाती।

'ईर्ष्या' का एक ऐसा रूप भी है जिससे मानव जीवन मे कुछ लाभ भी दृष्टिगोचर होता है। उसे 'स्पर्द्धा' कहा जाता है। 'ईर्ष्या' व्यक्तिगत होती है परन्तु 'स्पर्द्धा' वस्तुगत। स्पर्द्धा मे किसी सुख, ऐश्वर्य, गुण या मान से सम्पन्न किसी व्यक्ति को देख अपनी त्रुटि पर दुःख होता है फिर उसकी प्राप्ति की एक प्रकार की उद्वेगपूर्ण इच्छा उत्पन्न होती है। यहाँ अपनी त्रुटि पर दुःख होता है 'ईर्ष्या' के समान दूसरे की सम्पन्नता पर नही फलतः शुक्लजी यह समझते है कि 'स्पर्द्धा' ससार मे गुणी, प्रतिष्ठित और सुखी लोगो की सख्या मे कुछ बढती करना चाहती है और ईर्ष्या कमी। यदि ईर्ष्या अप्राप्त वस्तु ही के लिए होती तब इसके दोष मे कुछ कमी मानी जा सकती परन्तु यह तो उस अवस्था मे भी मानव को जलाती रहती है जब कि वह वस्तु-सम्पन्न होता है, अतएव सम्पन्न दशा की ईर्ष्या का अनौचित्य निर्विवाद है।

शुक्लजी का जीवन दर्शन : मानव मन—शुक्लजी ने इन मनोविकारों के विश्लेषण मे मानव सम्बन्धी अपने दर्शन व चिन्तन को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत कर दिया है। इस विश्लेपण के आधार पर हम यह जान सकते है कि शुक्लजी ने इन मनोविकारो की मानव जीवन मे क्या स्थिति अनुभव की है तथा इनका प्रभाव किस रूप मे अपनी धारणा मे स्वीकार किया है। गम्भीर विश्लेषण के उपरान्त यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे मानव को मन के अधीन समझते है। इन मनोविकारो के कारण ही वह सबल और दुर्बल होता है। भलाई और बुराई के द्योतक ये मनोविकार ही है। मानव-मन के स्वरूप के सम्बन्ध मे उनकी धारणा को 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध की अधोलिखित पक्तियो से समझ सकते है—

"यही बाहर हँसता-खेलता, रोता-गाता, खिलता-मुरझाता जगत् भीतर भी है जिसे हम मन कहते है। जिस प्रकार यह जगत् रूपमय और गतिमय है उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का सघात ही है।"

शुक्लजी मन को छठी इन्द्रिय मानते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वे भारतीय दर्शन शास्त्र के अनुसार यह स्वीकार करते है कि जिस प्रकार बाह्य रूपादि ज्ञान के साधन नेत्रादि इन्द्रिय है उसी प्रकार मन सुख-दुखादि के ज्ञान का साधन रूप इन्द्रिय ही है। यही सारी इन्द्रियो का सहायक और सुख-दु.खादि का अनुभव कराने वाला है।

मानव का विकास—मानव के विकास के मूल मे भी शुक्लजी ने इन इन्द्रियो को ही कारण माना है। वे 'काव्य में रहस्यवाद शीर्षक निबन्ध मे लिखते है—"आरम्भ मे मनुष्य की चेतन सत्ता इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप मे ही अधिकतर रही। पीछे ज्यो-ज्यो सभ्यता बढती गई त्यो-त्यो मनुष्य की ज्ञान-सत्ता बुद्धि व्यवसायात्मक होती गई है। अब मनुष्य का ज्ञान क्षेत्र बुद्धि व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत विस्तृत हो गया है।"

इस युक्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शुक्लजी इस सम्बन्ध में भौतिक विकासवादी सिद्धान्तों से ही प्रभावित है। 'विश्व प्रपच' की भूमिका भी इसी पक्ष का समर्थन करती है। इसमें उन्होंने अपनी इस धारणा का संकेत दिया है कि मनुष्य जाति असभ्य दशा से उन्नति करते-करते सभ्य दशा को प्राप्त हुई है। मानव की आत्मरक्षा और लोकरक्षा की सहज प्रकृति ने ही उसे धीरे-धीरे उन्नत दशा प्रदान की है। आत्मरक्षा और लोक रक्षा का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। आत्मरक्षा ने लोक-रक्षा की प्रेरणा को उत्तेजना दी है और लोक रक्षा ने आत्म रक्षा की सम्भावना को निश्चित रूप प्रदान किया है। शुक्लजी मानव को लोकबद्ध प्राणी स्वीकार करते है और यह कहते है कि मानव का अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। इसी लोकबद्धता के कारण मनुष्य ज्यो ही समाज मे प्रवेश करता है, उसके सुख और दु.ख का बहुत-सा अश दूसरों की क्रिया या अवस्था पर अवलम्बित हो जाता है और उसके मनोविकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिए अधिक क्षेत्र हो जाता है। शुक्लजी के मनो-विकार सम्बन्धी विश्लेपण मे मानव की यही सामाजिकता सम्बन्धी धारणा

मूल आधार बन गई है। किसी मनोवृत्ति की उपयोगिता या अनुपयोगिता के सम्बन्ध में, उसकी सदोषता या निर्दोषता के सम्बन्ध में, उसकी अपवित्रता या पवित्रता के सम्बन्ध मे उन्होंने जो अपने निर्णय प्रस्तुत किए है वे सब मानव की सामाजिकता को आधार मानकर ही किए है।

धर्म-अधर्म—शुक्लजीकी धर्म-अधर्म सम्बन्धी मान्यताओ का भी सामाजिकता ही आधारभूत है। नैतिकता और धर्म के विकासके सम्बन्ध मे उनकी धारणा विकासवाद का आश्रय लेकर ही निर्मित हुई है। वे धर्म को सामाजिक नियमो के रूप में ग्रहण करते है। इसके लिए उन्होने किसी आध्यात्मिक शास्त्र की मान्यताओ को मुख्य रूप से आधार बनाने का यत्न नहीं किया है। उनकी धर्म-सम्बन्धी धारणा आत्मपक्ष और लोकपक्ष के समन्वय पर आधारित है। 'गोस्वामी तुलसीदास' की आलोचना करते समय उन्होने अपनी इस धारणा को इन शब्दो में स्पष्ट किया है—

"हमे अपनी अन्तर्वृत्ति भी शुद्ध और सात्त्विक रखनी चाहिए और अपने सम्बन्ध मे लोक की धारणा भी अच्छी बनानी चाहिए। जिसका प्रभाव लोक पर न पड़े उसे मनुष्यत्व का पूर्ण विकास नही कह सकते। यदि हम वस्तुतः सात्त्विक शील है, पर लोग भ्रमवश या और किसी कारण हमे बुरा समझ रहे है तो हमारी सात्त्विक शीलता समाज के किसी उपयोग की नही।" 'श्रद्धा' के विवेचन प्रसग मे भी उन्होने अपने धर्म का स्वरूप स्पष्ट किया है। उनके धर्म का आधार कोई ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तक नहीं अपितु लोक कल्याण एव समाज व्यवस्था की रक्षा ही है। इसी कारण वे शील को धर्म का पर्यायवाची समझते है। उनका विश्वास है कि शील या धर्म के सामान्य लक्षण ससार के प्रत्येक सभ्यजन समुदाय मे प्रतिष्ठित है। धर्म ही से मनुष्य-समाज की स्थिति है, अतः उसके सम्बन्ध मे किसी प्रकार का रुचिभेद, मतभेद आदि नहीं। किसी कर्म मे प्रवृत्त होने से पहले यह स्वीकार करना आवश्यक होता है कि वह कर्म या तो हमारे लिए या समाज के लिए अच्छा है। इस प्रकार की स्वीकृति कर्म (धर्म) की पहली तैयारी है। इस प्रकार वे धर्म के निर्णय की कसौटी हमारे सम्मुख प्रस्तुत

कर देते है। उनकी दृष्टि से श्रद्धा धर्म की पहली सीढी है, क्योकि इसके द्वारा हम आनन्दपूर्वक यह स्वीकार कर लेते है कि कर्म के अमुक-अमुक दृष्टान्त धर्म के है।

आध्यात्मिक धर्म की व्याख्या के मूल मे भी शुक्लजी की इसी धारणा का दर्शन होता है। 'मानस की धर्मभूमि' शीर्षक लेख मे उन्होने धर्म का लक्षण किया है और उसकी ऊँची-नीची भूमियों का उल्लेख किया है। इसके अनुसार ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति धर्म है। अखिल विश्व स्थिति मे इस धर्म के दर्शन हो सकते है। परिवार और समाज के छोटे क्षेत्रो मे लेकर समस्त भूमण्डल और अखिल विश्व तक इसी धर्म का प्रसार है। उनके कहने का अभिप्राय यही है कि अखिल विश्व की स्थिति-रक्षा ही पूर्ण धर्म है। यह पूर्ण धर्म पूर्ण-पुरुष या पुरुषोत्तम मे ही रहता है। जैसे ब्रह्म का सत्स्वरूप इस अखिल-विश्व की स्थिति-रक्षा करके पूर्ण धर्म का अधिष्ठाता कहलाता है, इसी प्रकार मानव भी विश्व रक्षा की भावना का अपने अन्तः-करण मे विस्तार करके धर्मात्मा कहला सकता है। इमी धारणा के आधार पर शुक्लजी ने धर्म की भूमियाँ प्रतिपादित की है। वे कहते है—

"धर्म की ऊँची-नीची कई भूमियाँ लक्षित होती है—जैसे-गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म, लोकधर्म और विश्वधर्म या पूर्णधर्म। किसी परिमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाला धर्म उच्च कोटि का है। धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृहधर्म या कुलधर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है, समाजधर्म से लोकधर्म, लोकधर्म से विश्व-धर्म, जिससे धर्म अपने शुद्ध और पूर्णस्वरूप में दिखाई पड़ता है। यह पूर्ण-धर्म अंगी है और शेष धर्म अग।" इससे यह स्पष्ट है कि शुक्लजी की दृष्टि मे विश्व रक्षा की भावना से प्रेरित कर्म ही धर्म है। यही कारण है कि उनकी आस्था व्यक्तिगत धर्म की अपेक्षा लोकधर्म मे परिलक्षित होती है।

लोकधर्म—उनके इस लोकधर्म के तीन अवयव है—कर्म, ज्ञान और उपासना। वे मानव जीवन की पूर्णता इन तीनों के समन्वय में ही मानते है। वे अपने लोकधर्म की व्याख्या इन शब्दो मे करते है—

"ससार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक-एक कोने को स्पर्श करता हुआ, जो धर्म निकलेगा वही लोकधर्म होगा। जीवन के किसी एक अंग मात्र को स्पर्श करने वाला धर्म लोकधर्म नही।···जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोक-धर्म होता है।"

इसी प्रसग मे उन्होने गिडिग द्वारा प्रणीत समाज शास्त्र मे वर्णित जनता के चार विभागो का उल्लेख किया है—लोक सग्रही, लोकबाह्य, अलोकोपयोगी और लोक विरोधी। लोकसग्रही वे है जो समाज की व्यवस्था और मर्यादा की रक्षा मे तत्पर रहते है और भिन्न-भिन्न वर्गो के परस्पर सम्बन्ध को सुखावह और कल्याणप्रद करने की चेष्टा करते है। लोकबाह्य वे है जो केवल अपने जीवन-निर्वाह से काम रखते है और लोक के हिताहित से उदासीन रहते है। अलोकोपयोगी वे है जो समाज मे मिले तो दिखाई देते है पर उसके किसी अर्थ के नही होते जैसे आलसी और निकम्मे, जिन्हे पेट भरना ही कठिन है। लोक विरोधी वे है जिन्हे लोक से द्वेष होता है और जो उसके विधान और व्यवस्था को देखकर जला करते है। पुण्यात्मा धार्मिक और पापात्मा अधार्मिक के परखने की शुक्लजी की कसौटी इसी उल्लेख से स्पष्ट की जा सकती है। चतुर्थ वर्ग के लोग ही पापी कहला सकते है और प्रथम वर्ग के लोग ही वास्तव मे पुण्यात्मा धार्मिक कहला सकते है।

व्यक्तिधर्म और लोकधर्म के विरोध की स्थिति मे शुक्लजी लोकधर्म को ही ग्राह्य मानते है। व्यक्तिधर्म का उल्लघन भी इस स्थिति मे उनको प्रिय है। उनका विश्वास है कि यदि किसी अत्याचारी का दमन सीधे, न्यायसगत उपायो मे नही हो सकता तो कुटिल नीति का अवलम्बन लोक-धर्म की दृष्टि से उचित है। किसी अत्याचारी द्वारा समाज को जो हानि पहुँच रही है, उसके सामने वह हानि कुछ नही है जो किसी एक व्यक्ति के बुरे दृष्टान्त मे होगी। लक्ष्य परिव्यापक और श्रेष्ठ है तो साधन का अनिवार्य अनौचित्य उतना खल नही सकता है। उनका कथन है कि व्यक्ति-

गत सफलता के लिए जिसे नीति कहते है, सामाजिक आदर्श की सफलता का साधक होकर वही 'धर्म' हो जाता है ।

नियम और शील—शुक्लजी ने धर्म के दो अगो नियम और शील का उल्लेख किया है । वे कहते है कि नियम का सम्बन्ध विवेक मे है और शील का हृदय मे । सत्य बोलना, प्रतिज्ञा का पालन करना नियम के अन्तर्गत है । दया, क्षमा, वात्सल्य, कृतज्ञता आदि शील के अन्तर्गत है । उनकी धारणा है कि शील की रक्षा के लिए नियमो को शिथिल किया जा सकता है अर्थात् किसी निरपराध की रक्षा के लिए झूठ बोला जा सकता है । यदि किसी प्रकार नियम और शील दोनो की रक्षा की जा सके तो वही उत्तम मार्ग कहला सकता है ।

मार्क्सवाद और शुक्लजी का लोकधर्म—धर्म और समाज सम्बन्धी उक्त धारणाओ को देखकर हम शुक्लजी को मार्क्सवादी नही कह सकते । नि:सन्देह शुक्लजी व्यक्ति की अपेक्षा समाज को महत्त्व देते है, परन्तु वे मार्क्स के साम्यवाद का समर्थन नही करते । उनके चिन्तन के मूल मे भारतीयता का अश प्रमुख है । व्यक्ति सर्वथा उपेक्षित नही हो सकता है । समाज की सुव्यवस्था के लिए व्यक्ति की भावनाओ को प्रश्रय देना पडता है । मार्क्स का साम्यवाद इस तथ्य की अवहेलना करके वर्गहीन समाज की कल्पना करता है। शुक्लजी का चिन्तन इस कल्पना को समाज के लिए अमगल-कारिणी समझता है। वे कहते है कि "परिवार मे जिस प्रकार ऊँची-नीची श्रेणियाँ होती है उसी प्रकार शील, विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि की विचि-त्रता मे समाज मे भी नीची-ऊँची श्रेणियाँ रहेगी । कोई आचार्य होगा, कोई शिष्य, कोई राजा होगा, कोई प्रजा, कोई अफसर होगा, कोई मातहत, कोई सिपाही होगा, कोई सेनापति । यदि बडे छोटो के प्रति दु:शील होकर हर समय दुर्वचन कहने लगे, यदि छोटे-बडो का आदर सम्मान छोडकर उन्हे आँख दिखाकर डाँटने लगे तो समाज चल ही नही सकता ।"

साधारण धर्म और विशेष धर्म—मनुष्य मात्र का मनुष्य मात्र के प्रति जो सामान्य कर्तव्य होता है, उसके अतिरिक्त स्थिति या व्यवसाय

विशेष के अनुसार भी मनुष्य के कुछ कर्तव्य होते है। जैसे, माता-पिता के प्रति पुत्र का, पुत्र के प्रति पिता का इत्यादि। बड़े-छोटे का विभाग इसी विशेष धर्म की सीमा मे आता है। शुक्लजी की धारणा के अनुसार वही बड़ा है जो दूसरो के हित मे वैयक्तिक सुख का त्याग करता है और जो लोक-कल्याण के लिए कठिन कर्तव्यो का व्रत लेकर चलता है। इस प्रकार वैयक्तिक सुख का त्याग और कठिन कर्तव्यों का परिग्रहण जिस परिमाण में होगा उसीके अनुपात से बडप्पन होगा। भारतीय वर्ण-व्यवस्था के प्रति उनकी आस्था इसी कारण से है। वे कहते है कि ससार के और देशो मे जो मत प्रवर्त्तित हुए उनमे साधारण धर्म का ही पूर्ण समावेश हो सका, विशेष धर्मो की बहुत कम व्यवस्था हुई। पर सरस्वती और दृशद्वती के तटों पर पल्लवित आर्य सभ्यता के अन्तर्गत जिस धर्म का प्रकाश हुआ, विशेष धर्मों की विस्तृत व्यवस्था उसका लक्षण हुआ और वह 'वर्णाश्रम धर्म' कहलाया। इसी धर्म के आधार पर भारतीय वर्ण-व्यवस्था स्थापित हुई है। यह वचन-व्यवस्था और भाव-व्यवस्था करती है और समाज में सामजस्य की प्रतिष्ठा करती है। यही सामजस्य वास्तविक समता होगी। केवल आर्थिक समता का प्रयत्न सुव्यवस्थित समाज का निर्माण नहीं कर सकता है। भारतीय वर्ण व्यवस्था के मूल मे शुक्लजी ने व्यक्तिगत सुख का त्याग और कठिन कर्तव्य योजना का दर्शन किया है। इसके अतिरिक्त उच्च वर्ग मे अधिक मान या अधिक अधिकार के साथ कठिन कर्तव्यो की योजना और निम्न वर्गो मे कम मान और कम अधिकार के साथ अधिक अवस्थाओ मे आराम की योजना भी इस व्यवस्था की एक उल्लेखनीय विशेषता है, इसीसे वह जीवन-निर्वाह की दृष्टि से स्थिति मे सामजस्य रखती थी।

रूस की वर्गहीन व्यवस्था से शुक्लजी सर्वथा प्रभावित नही हुए थे। इसका प्रमाण 'गोस्वामी तुलसीदास' के लोक नीति और मर्यादावाद' नामक प्रसग की निम्नलिखित पक्तियाँ प्रस्तुत करती है—

"ऊँची श्रेणियों के कर्तव्य की पुष्ट-व्यवस्था न होने से ही योरोप में नीची श्रेणियो में ईर्ष्या, द्वेष और अहकार का प्रावल्य हुआ, जिससे लाभ

उठाकर 'लेनिन' अपने समय मे महात्मा बना रहा। समाज की ऐसी वृत्तियों पर स्थित 'माहात्म्य' का स्वीकार घोर अमंगल का सूचक है। मूर्ख जनता के इस महात्म्य-प्रदान पर न भूलना चाहिए।"

रूस की समाज-व्यवस्था को वे निम्न वर्ग की दुर्वृत्तियों पर आधारित मानते है। ऐसी स्थिति मे उनका विश्वास है कि विशिष्ट प्रतिभा के विकास का एव लौकिक उत्कर्ष का सर्वथा अभाव रहेगा। इसीलिए वे लिखते है कि—

"रूस मे भारी-भारी विद्वानो और गुणियो का भागना इस बात का आभास दे रहा है। अल्प शक्ति वालो की अहकार वृत्ति को तुष्ट करने वाला 'साम्य' शब्द ही उत्कर्ष का विरोधी है।"

शुक्लजी समाज की विषमता के मूल मे मानव की दुर्वृत्तियो के प्रसार को ही दोषी समझते है। गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार ही यदि वर्ण-व्यवस्था हो अथवा वर्ग निर्मित हो तो यह विषमता भी समता ही है। इसके विपरीत यदि जन्म तथा जात्यभिमान को महत्व दिया जाने लगेगा तो उससे समाज मे अव्यवस्था उत्पन्न होगी। फलत अभिमानी की दुर्वृत्ति समाज की विषमता का कारण ठहरती है। इसी अभिमानके कारण किसी व्यवसायको ऊँचा या नीचा समझा जाने लगता है। इस प्रकार समाजमे छोटाई-बडाई का अभिमान जगह-जगह जम कर दृढ हो जाता है और उसके भिन्न-भिन्न वर्गो के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित होजाती है और इसीसे वर्ग सघर्ष की नीव पड़ जाती है।

मनोवृत्तियों का परिष्कार—शुक्लजी वृत्तियो के दमन के पक्षपाती नही है, परन्तु वे उनका परिमार्जन-परिष्कार सम्भव समझते है। वृत्तियो के दमन से तो मानव का स्वरूप ही विघटित होने लगता है। वृत्तियों का परिष्कार ही मनुष्य के कल्याण का उचित मार्ग है। उनकी दृष्टि में मानव का लक्ष्य स्वमगल और लोकमगल के सगम पर पहुचाना है। इस सगम के लिए प्रकृति के क्षेत्र के बीच मनुष्य को अपने हृदय के प्रसार का अभ्यास करना चाहिए। इसी प्रसग में वे लिखते है कि जब मनुष्य के सुख

और आनन्द का मेल शेप प्रकृति के मुख-सौन्दर्य के साथ हो जाएगा, जब उसकी रक्षा का भाव तृण-गुल्म, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतग सबकी रक्षा के साथ समन्वित हो जाएगा तब उसके अवतार का उद्देश्य पूर्ण हो जाएगा और वह जगत् का सच्चा प्रतिनिधि हो जाएगा।

मुक्ति · स्वर्ग नरक—शुक्लजी की दृष्टि मे मुक्ति का मार्ग धर्म का विकास ही है। मोक्ष का मार्ग धर्म मार्ग से अलग-अलग नही जा सकता है। धर्म का विकास इसी लोक के बीच हमारे परस्पर व्यवहार के भीतर होता है। इस लोक को दूषित करके किसी परलोक को सुधारने की कल्पना उनको प्रिय नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वर्ग-नरक सम्बन्धी धारणाओ को शुद्ध लोक धर्म मे प्रवृत्ति के लिए अर्थवाद स्वरूप मानते है। 'सूरदास' नामक ग्रथ मे भक्ति के विकास को स्पष्ट करते हुए वे धर्म के तीन क्षेत्रो—आप्त शब्द, बुद्धि और हृदय का उल्लेख करते है। स्वर्ग-नरक के वर्णन आप्त शब्द के अन्तर्गत है। ये केवल निम्नजनो मे धर्म प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिए है।

यह ससार ही मनुष्य के धर्म प्रसार का क्षेत्र है या अधर्म का दण्ड भोगने का स्थान हे। मनुष्य ही अपने स्वर्ग या नरक का विधान कर लेता है। शुक्लजी तो ससार का अस्तित्व भी मानव-कल्पना के सम्बन्ध से ही स्वीकार करते है। वे कहते है कि मनुष्य अपने लिए संसार आप बनाता है। ससार तो कहने-सुनने के लिए है, वास्तव मे किसी मनुष्य का ससार तो वे ही लोग है जिनसे उसका ससर्ग या व्यवहार है। अपने इस ससार को मानव स्वयं सुखमय या दु:खमय बना सकता है। इसके लिए उसे अपने अन्त:करण में सात्त्विकता को जगाने की आवश्यकता है। यह सात्त्विकता करुणा, श्रद्धा, आदि भावनाओं के विकास से ही उत्पन्न की जा सकती है।

ब्रह्म का दर्शन—शुक्लजी के दार्शनिक मन्तव्यों का यही सार है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म का दर्शन व्यक्त जगत् में ही हो सकता है। लोक की रक्षा 'सत्' का आभास है, लोक का मंगल 'परमानन्द' का आभास है। मानव के भीतर का 'चित्' जब बाहर 'सत् का साक्षात्कार करता है तब आनन्द का

आविर्भाव होता है। इसी लोक के बीच नर मे नारायण की दिव्य कला का सम्यक् दर्शन और उसके प्रति हृदय का पूर्ण निवेदन वास्तविक साधना है। लोक रक्षा रूप धर्म की रसात्मक अनुभूति भक्ति है। शुक्लजी ने इन्ही दार्श-निक मन्तव्यो की पृष्ठभूमि मे अपने साहित्यिक चिन्तन का विस्तार व प्रसार किया है।

शुक्लजी के साहित्यिक मन्तव्य

आधार—शुक्ल जी के साहित्य के स्वरूप को तथा उनकी समालोचनाओं के मर्म को हृदयगम करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उनके साहित्य सम्बन्धी मन्तव्यों का गम्भीर अध्ययन करे। उन्होंने प्राचीन भारतीय तथा आधुनिक पाश्चात्य साहित्य मीमासकों के सिद्धान्तो का गम्भीर विश्लेषण किया है। इन दोनो विचारधाराओं के समन्वय की दिशा मे वे अग्रसर हुए है। अपने स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर नवीन उद्भावनाएँ भी उन्होने की है। यद्यपि काव्य मीमासा को लेकर किसी स्वतन्त्र, सर्वाङ्गपूर्ण काव्यशास्त्र का प्रणयन उन्होने नही किया है तथापि उनके निबन्धों में तथा कवियों की समालोचनाओं मे उनके प्रसंग-प्राप्त साहित्यिक मन्तव्य हमें मिलते है। उन्ही का सकलन करने का प्रयत्न यहाँ हम कर रहे है। इस सम्बन्ध मे सर्वप्रथम यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि उनकी काव्य सम्बन्धी मान्यताओं का मूल आधार यद्यपि विशुद्ध भारतीय है तथापि उन्होने नवीन पाश्चात्य साहित्य की मान्यताओं की ओर भी अपनी रुचि प्रदर्शित की है और इन्हे ग्रहण करने मे संकोच नही किया है। हाँ, अन्धानुकरण अवश्य उन्हें खलता है। उनकी यह धारणा है कि हमे अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखना होगा, दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं। नकल से किसी जाति के साहित्य का असली गौरव नही हो सकता। वे कहते है कि हमे देखना चारो ओर चाहिए पर सब देखी हुई बातो का सामजस्य-बुद्धि से समन्वय करना चाहिए। उनका यह अटल विश्वास है कि यही सामजस्य भारतीय काव्य दृष्टि की विशेपता है। यही सामंजस्य अनेक रूपात्मक जीवन और भावात्मक काव्य की सफलता का मूलमन्त्र है।

काव्य का स्वरूप व आत्मा—शुक्ल जी की साहित्यिक चेतना मे काव्य

के जिस स्वरूप की उद्भावना हुई है उसके तीन आधारभूत तत्त्व है कवि, पात्र और श्रोता। ये मानो एक प्रकार से काव्य स्वरूप-प्रतिष्टा के आधार स्तम्भ है। इन तीनो के समन्वय मे ही काव्य का स्वरूप विकसित होता है। उनकी धारणा के अनुकूल काव्य के स्वरूप को समझने के लिए इन तीनो के सम्बन्ध मे उनकी धारणा का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। उन्होने कवि के कुछ गुणो के आधार पर ही काव्य-स्वरूप की प्रतिष्ठा की है। पात्र और श्रोता की विशिष्ट स्थिति उस स्वरूप के उद्भावन मे साधन रूप में ग्रहण की जा सकती है।

कवि—कवि इसी लोक का जीव होता है। वह पार्थिव जीवन से परे दूसरे ही जगत् का प्राणी नही होता है। वह कोई पैगम्बर, औलिया या रहस्य-दर्शी नही होता है। शुक्लजी कवि और सयाने को एकही नहीं समझते। वह भी सामान्य मानवों के अनुरूप ही लोकबद्ध प्राणी होता है। इसी लोक के भीतर ही उसकी कला का विकास होता है। वह किसी नूतन सृष्टि का निर्माण नही करता है। वह तो केवल अपनी भावना या कल्पना को शुद्ध और विस्तृत कर लेता है और अपने पार्श्ववर्ती जगत् के अनन्त रूपों तथा असीम व्यापारों के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अशों का प्रत्यक्षीकरण करता है। उसका हृदय इन सब रूपो तथा व्यापारों मे लीन होता है। उनके प्रति चिर साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना की, सच्चे अनुराग की उत्पत्ति उसके हृदय मे होने लगती है। सच्चा कवि चतन जगत् के उन प्राणियो, व्यक्तियो तथा जड़ जगत् की उन वस्तुओं के स्वरूप को अपनी कल्पना में लाता है, जिनके प्रति उसके हृदय में किसी प्रकार की अनुभूति का प्रादुर्भाव होने लगता है। वह इन्ही अनुभूतियो को दूसरों तक पहुँचाने का उपक्रम करता है। भावप्रेषणीयता के कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए वह अपनी अनुभूति को अपने व्यक्तिगत सबधों या योगक्षेम की वासनाओं से मुक्त करके लोक सामान्य भाव भूमि पर प्रतिष्ठित कर लेता है। तदनन्तर वह उस अनुभूति के प्रेषण के लिए उपयुक्त भाषा का अवलम्ब पकड़ता है। वह अपनी कुशलता से उस अनुभूति को ऐसा रूप प्रदान कर देता है कि वह प्रेपित की जा सकती है। जिस रूप मे कवि के

हृदय मे अनुभूति होती है ठीक उसी रूप मे शब्दों द्वारा वह प्रेषित नही की जा सकती है। कवि को अपने इस कार्य मे अन्त.करण की तीन वृत्तियो—कल्पना, वासना और बुद्धि से काम लेना पडता है। कवि सहृदय एव भावुक होता है। वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का पूर्ण सामजस्य कर लेता है। उसकी सहृदयता सृष्टि व्यापिनी हो जाती है। वह नर प्रकृति और बाह्य जड़ प्रकृति के रूपो व व्यापारो से समान रुचि धारण कर लेता है। इस प्रकार वह जगत् के विभिन्न तथ्यो का प्रत्यक्षीकरण करके उनमे से मार्मिक तथ्यों का सचय करके अपनी सृष्टि की रचना कर लेता है। यह सृष्टि उसकी वाणी का प्रसाद होती है। इसी वाणी के प्रसाद से हम ससार के सुख-दुःख, आनन्द क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थ-मुक्त रूप मे अनुभव करते है। कवि की विधायक कल्पना उसकी इस कार्य में पूर्ण सहायता करती है। यही उसे अप्रस्तुत-विधान मे सहायता प्रदान करती है। इसी के सहयोग से वह अपनी अनुभूति के प्रकाशन के लिए उपयुक्त उपमान एवं प्रतीक व्यक्त जगत् से संकलित करने मे समर्थ हो जाता है।

कवि सौन्दर्योपासक होता है। उसकी दृष्टि तो सौन्दर्य की ओर जाती है चाहे वह जहाँ हो—वस्तुओ के रूप-रग मे अथवा मनुष्यो के मन, वचन और कर्म मे। जीवन की अनेक परिस्थितियो के भीतर वह सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है। अतएव उसकी रचना मे न कोई बात भली कही जा सकती है, न बुरी, न शुभ, न अशुभ, न उपयोगी। सब बाते केवल दो रूपो मे दिखाई जाती है—सुन्दर, असुन्दर। जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है कवि उसके सौन्दर्य पक्ष पर आप भी मुग्ध रहता है और दूसरों को भी मुग्ध करता है। जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ या मगल समझता है, उसको कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुन्दर कहता है। दृष्टि भेद अवश्य है। धार्मिक की दृष्टि जीव के कल्याण, परलोक मे सुख, भव बन्धन से मोक्ष आदि की ओर रहती है पर कवि की दृष्टि इन सब बातो की ओर नही रहती। वह उधर देखता है जिधर सौंदर्य दिखाई पड़ता है।

कवि उपदेष्टा नही होता है। वह नीति-अनीति की शिक्षा नही देता

है। वह तो केवल सौंदर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अन्तः प्रकृति में उत्पन्न करता है। वह सौन्दर्य से स्वय प्रभावित होता है और दूसरो को भी प्रभावित करता है। जहाँ वह धार्मिक उपदेशको के समान मगल शक्ति की सफलता दिखाता है वहाँ भी वह कला की दृष्टि से सौन्दर्य का प्रभाव डालने के लिए ही सफलता दिखाता है, धर्मशासक की हैसियत से डराने के लिए नही कि यदि ऐसा कर्म करोगे तो ऐसा फल पाओगे। किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना में कई प्रकार के सौन्दर्य का जो मेल आप-से-आप हो जाया करता है उसे पाठक के सामने भी वह प्रायः रख देता है।

प्रवृत्ति-निवृत्ति की उत्तेजना अन्त करण मे उत्पन्न करने के लिए कवि के लिए यह आवश्यक नही है कि वह सदा असामान्य, अद्भुत और भव्य चमत्कार वाली वस्तुओं की ओर ही दृष्टि ले जाए। जो सच्चा कवि होता है उसके द्वारा अकित साधारण वस्तुएँ भी मन को तल्लीन करने वाली होती है। साधारण के बीच मे यथास्थान असाधारण की योजना करना सहृदय और कला कुशल कवि का ही काम है। साधारण-असाधारण अनेक वस्तुओं के मेल से एक विस्तृत और पूर्ण चित्र संघटित करने वाले ही कवि कहे जाने के अधिकारी है। साधारण के बीच मे असाधारण की प्रकृत अभिव्यक्ति हो सकती है। साधारण मे ही असाधारण की सत्ता है केवल असाधारणत्व कवि का लक्ष्य नही होता है और न ही उसका ध्येय अपनी व्यजना प्रणाली को असाधारण रूप देना ही होता है।

पात्र—शुक्लजी की काव्य स्वरूप सम्बन्धी धारणा का दूसरा आधार पात्र है। कवि इस व्यक्त जगत् के प्रति अपनी रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति पात्र योजना द्वारा करता है। वस्तु योजना भी इसी पात्र योजना का ही अग है। जैसे व्यक्त जगत् के जड पदार्थो को अथवा चेतन व्यक्तियों के अनन्त रूपो तथा व्यापारों को देखने के अनन्तर कवि-हृदय विभिन्न अनुभूतियों से पूर्ण हो जाता है। ठीक इसी प्रकार कवि द्वारा सृष्ट पात्र भी वर्णित किया जाता है। शुक्लजी पात्र द्वारा भाव की व्यजना करने में कवि के दो रूप वर्णित करते है—सहज और आरोपित। यदि व्यजित किये जाने वाले

भाव का ग्रालम्बन सामान्य है—ऐसा है, जो मनुष्य मात्र के चित्त मे वही भाव उत्पन्न कर सकता है—तो समझना चाहिए कि कवि ग्रपने सहज रूप मे उसे प्रकट कर रहा है। जैसे रावण के प्रति राम का क्रोध। यदि व्यजित किया जाने वाला भाव ऐसा नही है तो समझना चाहिए वह उसे ग्रारोपित रूप में प्रकट कर रहा है, जैसे राम के प्रति रावण का क्रोध। ग्रारोपित भाव कवि ग्रनुभव नही करता, कल्पना द्वारा लाता है। ग्राश्रय की स्थिति मे ग्रपने को समझ कर ग्रालम्बन के प्रति कवि भी यदि उसी भाव का ग्रनुभव करता है जिस भाव का ग्राश्रय करता है तो कवि उस भाव का प्रदर्शन सहज रूप मे करता है। यदि कवि का भाव उदासीन है या ग्रनौचित्य-ज्ञान के कारण विरक्त है तो ग्राश्रय के भाव प्रदर्शन केवल ग्रारोपित रूप मे करता है। काव्य मे कवि का सहज भाव ही प्रधान होता है, ग्रारोपित नही।

श्रोता—कवि की सहज ग्रनुभूति पात्र योजना द्वारा ग्रभिव्यक्त होकर श्रोता को प्रभावित करती है। यह श्रोता भी काव्य स्वरूप के विवेचन में विशेष महत्त्व रखता है। शुक्लजी लिखते है—

"जो काव्य न कवि की ग्रनुभूति से सम्वन्ध रखते है न श्रोता की, उनमें केवल कल्पना ग्रौर बुद्धि के सहारे भावों के स्वरूप का प्रदर्शन होता है। यदि हम किसी भाव के स्वरूप-प्रदर्शन मात्र का विचार करते है, श्रोता के हृदय मे उसके संचार का नही तो कविता केवल ऊपरी दिल वहलाव या मनोरजन की वस्तु प्रतीत होती है ग्रौर कवि का कार्य चित्रकार के कार्य से ग्रधिक महत्त्व का नही जान पड़ता।"

यह स्पष्ट है कि शुक्लजी कवि की ग्रनुभूतियों के साथ श्रोता की ग्रनुभूतियो का सामजस्य देखना चाहते है। उनकी दृष्टि में काव्य का निर्माण इसीलिए किया जाता है कि एक ही भावना सैकड़ों-हजारों क्या लाखो दूसरे ग्रादमी ग्रहण करे। जव कवि के ग्रपने हृदय की दूसरे मानवों के हृदयो के साथ कोई समानता नहीं होगी तव दूसरे उसके भावो को ग्रहण नही कर सकेंगे। यही कारण है कि शुक्लजी काव्य को कवि ग्रौर श्रोता दोनों से स्वतन्त्र स्वीकार नही करना चाहते है। वे इस वात को भी स्वीकार

नही करते कि काव्य कृति के साथ कवि ने व्यक्तित्व का कोई लगाव नही अर्थात् जैसे पुत्र का व्यक्तित्व पिता के व्यक्तित्व से अलग विकसित होने के लिए छोड दिया जाता है, उसी प्रकार किसी काव्य-रचना का व्यक्तित्व उसके कवि के व्यक्तित्व से सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र होना चाहिए। वे तो कवि के व्यक्तित्व के साथ श्रोता के व्यक्तित्व को भी महत्त्व देना चाहते है। उन्हे यह बात खटकती है कि कवि और श्रोता दोनों पक्षों के व्यक्तित्व को अलग हटा कर उसकी प्रतिष्ठा कृति मे लेजा कर दी जाए। ऐसी स्थिति मे तो काव्य में जो भाव-व्यजना रहेगी उसको न तो कवि अपनाता प्रतीत होगा और न श्रोता ही। दोनों ही तटस्थ होकर तमाशे की तरह उसे देखने लगेंगे। शुक्ल जी कवि-कर्म को ऐसा तमाशा नही बनाना चाहते।

शेष सृष्टि . जगत् और जीवन—शुक्ल जी काव्य का सम्बन्ध चारो ओर फैले हुए गोचर जगत् से मानते है। काव्य इस जगत् की अभिव्यक्ति है। उनका विश्वास है कि प्रत्येक देश में काव्य का प्रादुर्भाव इसी जगत् रूपी अभिव्यक्ति को लेकर हुआ है। इस जगत् के सम्मुख मनुष्य कही प्रेम-लुब्ध हुआ, कही दुःखी हुआ, कही क्रुद्ध हुआ, कही डरा, कही विस्मित हुआ और कहीं भक्ति और श्रद्धा से उसने सिर झुकाया। जब सब एक-दूसरे को ऐसा ही करते दिखाई पड़े तब सामान्य आलम्बनों की परख हुई और उनके सहारे एक ही साथ बहुत से आदमियो मे एक ही प्रकार की अनुभूति जगाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ। इससे यह स्पष्ट है कि वे काव्य को वाह्य-प्रकृति और अन्तःप्रकृति दोनो से परे, जगत् और जीवन से स्वतन्त्र आत्मा की निजी क्रिया मानने को उद्यत नही। इसलिए वे कहते है कि जो आँख मूँद कर काव्य का पता जगत् और जीवन से बाहर लगाने लगते है वे काव्य के धोखे मे या उसके वहाने से किसी और ही चीज के फेर मे रहते है।

शुक्लजी की धारणा के अनुरूप काव्य की भूमि बडी विस्तृत है। इसका विस्तार उतना ही है जितना जगत् और जीवन का है। वे कहते है कि ससार सागर की रूप तरंगो से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूपगति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है

सौन्दर्य, माधुर्य, विचित्रता, भीषणता, क्रूरता इत्यादि की भावनाएँ वाहरी रूपो और व्यापारो से ही निष्पन्न हुई है। हमारे प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा इत्यादि भावो की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आलम्बन वाहर ही के है—इसी चारों ओर फैले हुए रूपात्मक जगत् के ही है। जव हमारी आँखे देखने मे प्रवृत्त रहती है तव रूप हमारे वाहर प्रतीत होते है, जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है तव रूप हमारे भीतर दिखाई पड़ते है। बाहर-भीतर दोनो ओर रहते रूप ही है। इमी मान्यता के आधार पर वे काव्य का काम मनुष्य के सव भावों और मनोविकारो के लिए प्रकृति के अपार क्षेत्र से आलम्बन या विषय चुन-चुनकर रखना स्वीकार करते है और इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है कि काव्य का सम्वन्ध जगत् और जीवन की अनेक रूपता के साथ स्वतः सिद्ध है। कवि, जव अपनी अन्तःप्रकृति का बाह्य प्रकृति के साथ सामजस्य घटित करने का प्रयास करता है, जब वह अपनी भावात्मक सत्ता का प्रसार बाह्य जगत् के व्यापक क्षेत्र मे करने का उपक्रम करता है तभी काव्य का शुद्ध स्वरूप प्रकट होने लगता है।

शुक्लजी ने इस व्यापक क्षेत्र का भी विश्लेषण किया है। वे कहते है कि काव्य दृष्टि 'कही तो नरक्षेत्र के भीतर रहती है, कही मनुष्येतर वाह्य सृष्टि के और कहीं समस्त चराचर के भीतर रहती है।

नरक्षेत्र—उनकी धारणा है कि नरत्व की बाह्य-प्रकृति और अन्तः प्रकृति के नाना सम्बन्धों और पारस्परिक विधानों का सकलन या उद्-भावना ही काव्यों में अधिकतर पाई जाती है। यह नरक्षेत्र भी वड़ा व्यापक है। मानव के समस्त व्यापारों के मूल मे प्रवर्त्तक रूप से भाव रहते है। इन भावों का सघटन वाह्य जगत् के अनेक रूपों तथा व्यापारों से ही होता है; अतएव जिस प्रकार जगत् अनेक रूपात्मक और विस्तृत है इसी प्रकार मनुष्य भी अनेक भावात्मक है। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष है वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और तीक्ष्ण कठोर, मधुर, और दो पक्ष है। काव्य की दृष्टि इन दोनो पक्षों की ओर निरन्तर रहती है। उसमें इन दोनोंका समन्वय अपेक्षित होना है। वे कहते है कि प्रेम, अभिलाप,

विरह औत्सुक्य, हर्ष आदि थोड़ी-सी मनोवृत्तियों का एक छोटा सा घेरासम्पूर्ण काव्य क्षेत्र नही हो सकता है, इन भावों के साथ और दूसरे भाव जैसे क्रोध भय, उत्साह घृणा इत्यादि ऐसी जटिलता से गुम्फित है कि सम्यक् काव्य दृष्टि उनको अलग नही छोड़ सकती। वे स्पष्ट शब्दों मे कहते है—

"काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेम-भाव की कोमल व्यजना में ही नही माना जा सकता जैसा कि टाल्स्टाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते है। क्रोध आदि उग्र और प्रचण्ड भावो के विधान मे भी, यदि उनकी तह मे करुण-भाव अव्यक्त रूप मे स्थित हो, पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है।"

मनुष्येतर बाह्य सृष्टि—प्रकृति—काव्य स्वरूप के निर्माण के लिए नर प्रकृति के चित्रण के समान ही मानवेतर बाह्य सृष्टि के उल्लेख को भी शुक्ल जी अनिवार्य समझते है। मानव की परिस्थिति उसके जीवन का आलम्बन है अतः उपचार से वह उसके भावों का आलम्बन है। वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य मानव के राग या रतिभाव के स्वतन्त्र आलम्बन है। उनमें सहृदयो के लिए सहज आकर्षण वर्तमान है। इन दृश्यो के अन्तर्गत जो वस्तुएँ और व्यापार होंगे, उनमे जीवन के मूल स्वरूप और मूल परिस्थिति का आभास पाकर मानव की वृत्तियाँ तल्लीन होती हैं। शुक्ल जी का यह सिद्धान्त है कि प्राकृतिक वर्णन केवल अग रूप से ही हमारे भावों के आलम्बन नहीं है, स्वतन्त्र रूप में भी है। जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे और अब भी मनुष्य जाति का अधिकांश अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रीति प्रेम-भाव पूर्व-साहचर्य के प्रभाव से, संस्कार या वासना के रूप मे हमारे अन्त.करण में निहित है। उनके दर्शन या काव्य आदि मे प्रदर्शन से हमारी भीतरी प्रकृति का जो अनुरजन होता है वह अस्वीकृत नही किया जा सकता है। इस अनुरजन को केवल किसी दूसरे भावका आश्रित या उत्तेजक कहना अपनी जड़ताका ढिढोरा पीटना है।

शुक्लजी की धारणा के अनुसार मानवेतर जड़ प्रकृति भी काव्य का क्षेत्र है। उसका वर्णन दो रूपों मे हो सकता है—उद्दीपन रूप से तथा आलम्बन रूप से। निस्सन्देह प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र की रस-निरूपण-पद्धति में

आलम्वनों के बीच वाह्य प्रकृति को स्थान नही मिला है। वह उद्दीपन मात्र मानीगई है। यही कारण है कि प्राय: मनुष्यो के रूप, व्यापार या मनोवृत्तियों के सादृश्य, साधर्म्म की दृष्टि मे प्राकृतिक वस्तु-व्यापार लाये जाते रहे है। ऐमे स्थलो मे ये व्यापार नर सम्बन्धी भावना को ही तीव्र करने के लिए रखे जाते है। शुक्ल जी आलम्बन रूप से भी प्राकृतिक वर्णन को महत्त्व प्रदान करते है। उनकी धारणा का आधार उनका यह विश्वास है—"मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करने से अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है। वुद्धि की व्याप्ति के लिए मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेक रूपात्मक क्षेत्र मिला है, उसी प्रकार भावों (मन के वेगो) की व्याप्ति के लिए भी। अव यदि आलस्य या प्रमाद के कारण मनुष्य इस द्वितीय क्षेत्र को सकुचित कर लेगा तो उसका आनन्द पशुओं के आनन्द से विशाल किसी प्रकार नही कहा जा सकेगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर, पशु-पक्षी, खेत-वारी इत्यादि के प्रति हमारा प्रेम स्वाभाविक है या कम-से-कम वासना के रूप मे अतः करण में निहित है।"

इस सम्वन्ध मे उन्होने यदि कवि वाल्मीकि और महाकवि कालिदास को अपना आदर्श माना है। वे वाल्मीकीय रामायण को आर्यकाव्य का आदर्श स्वीकार करते है, क्योकि इसमे राम के रूप, गुण, शील, स्वभाव तथा रावण की विरूपता, अनीति तथा अत्याचार आदि का पूरा चित्रण तो मिलता ही है, साथ ही अयोध्या, चित्रकूट, दण्डकारण्य आदि का चित्र भी पूरे व्यौरे के साथ सामने आता है। इसी प्रकार उनका विश्वास है कि महा-कवि कालिदास ने 'कुमार सम्भव' के आरम्भ में हिमालय का जो विशद वर्णन किया है वह केवल शृगार के उद्दीपन की दृष्टि से नही है, वह तो आलम्वन रूप से ही किया गया है।

शुक्लजी काव्य में प्राकृतिक वस्तुओ के परिगणन या सकेत मात्र को उपादेय नहीं समझते। केवल परिगणन या सकेत से वस्तु का पाठक या श्रोता की कल्पना मे अर्थग्रहरण मात्र होगा, उसके स्वरूप का बिम्ब ग्रहण

नही। काव्य के लिए वस्तु के विम्व ग्रहण की अपेक्षा होती है। इन वस्तुओं के रूप और आस-पास की परिस्थिति का ब्योरा जितना स्पष्ट होगा उतना ही पूर्ण विम्व ग्रहण होगा केवल 'उद्दीपन' होने के लिए रूप का थोड़ा-थोड़ा प्रकाश या सकेत-मात्र यथेष्ट है, पर 'आलम्वन' होने के लिए पूर्ण और स्पष्ट स्फुरण होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त वे काव्य के लिए प्राकृतिक पदाथो मे सुन्दर-असुन्दर का, कोमल-कठोर का, साधारण-असाधारण इत्यादि का भेद अनिवार्य नहीं मानते है। वे कहते है कि प्रकृति अनन्त रूपों मे हमारे सम्मुख आती है—कही मधुर, मुसज्जित या सुन्दर रूपों मे, कही बेडौल या कर्कश रूप मे, कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप मे, कही उग्र, कराल या भयंकर रूप मे। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सव रूपों मे लीन होता है। प्रकृति की भव्यता, मधुरता, सरसता, प्रफुल्लता, विशालता, विचित्रता से ही प्रभावित होनेवाले वास्तव मे भावुक या सहृदय नही है। उनका यह सिद्धान्त है कि भाषा के उत्कर्ष के लिए भी सर्वत्र आलम्वन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण से साधारण वस्तु हमारे गम्भीर से गम्भीर भावो का आलम्वन हो सकती है। सच्चे कवि द्वारा चित्रित साधारण वस्तुएँ भी मन को तल्लीन करने वाली हो जाती है; अतः प्रसंग प्राप्त साधारण-असाधारण सभी वस्तुओ का वर्णन कवि का कर्तव्य है। वे साधारण वस्तु के प्रति साहचर्य से उत्पन्न होनेवाले प्रेम को अत्यन्त प्रभावशाली समझते हैं, उसमे वृत्तियों को तल्लीन करने की क्षमता स्वीकार करते है। वे कहते है कि यह तल्लीनता असाधारणत्व पर अवलम्वित नही है। यही कारण है कि जिनका हमसे लडकपन मे साथ रहा है, जिन पेडों के नीचे, जिन टीलों पर, जिन नदी-नालों के किनारे हम अपने साथियों को लेकर बैठते रहे है उनके प्रति हमारा प्रेम जीवन भर स्थायी होकर बना रहता है। उनकी दृष्टि में केवल असाधारणत्व की रुचि सहृदयता की पहचान नहीं है।

मनुष्येतर प्रकृति के अनेक रूपों तथा व्यापारों से मानव की अन्तः प्रवृत्तियों या तथ्यों की अभिव्यंजना होती है। शुक्लजी ने उसे भी काव्य

क्षेत्र के अन्तर्गत माना है। पशु-पक्षियों के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, राग-द्वेष, तोष-क्षोभ, कृपा-क्रोध इत्यादि भावो की व्यजना तो प्रत्यक्ष है। इनके अति-रिक्त पेड़-पौधे, लता-गुल्म आदि भी इसी प्रकार कुछ भावो या तथ्यो की व्यजना कर देते है। यह व्यजना पर्याप्त गूढ रहती है। काव्य मे इन मार्मिक तथ्यो का उद्घाटन उपादेय होता है। इस सम्बन्ध मे यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि पशु-पक्षियों के विभिन्न रूपों व व्यापारों पर तथा पेड़-पौधे लता-गुल्म आदि जड पदार्थों के अनन्त रूपों व व्यापारों पर मानव भाव-नाओ का आरोप नही होना चाहिए। इसके विपरीत उनकी रूप-चेष्टा या परिस्थिति से, सहज भाव से मार्मिक तथ्यो का चयन अवश्य होना चाहिए। उनका यह सिद्धान्त है कि जहाँ तथ्य केवल आरोपित या सम्भावित रहते हैं वहाँ वे अलकार रूप में ही रहते हैं। जहाँ तथ्यो का आभास सहजभाव से मानवेतर सृष्टि के रूपों-व्यापारों से मिलता है वहाँ वे हमारे भावों के विषय वास्तव मे बन सकते है। पुराने अन्योक्तिकारो के तथ्यचयन इसी कारण मर्मस्पर्शी हो गए है। इन अन्योक्तिकारो ने मानव जीवन के साथ मानवेतर सृष्टि की रूप-चेष्टाओं तथा परिस्थितियो की समता का उद्घा-टन बड़ी मर्मस्पर्शिता के साथ सम्पन्न किया है।

समस्त चराचर—यदि कवि अपनी दृष्टि नरक्षेत्र तथा मानवेतर क्षेत्र पर पृथक्-पृथक् रखकर काव्य-निर्माण करता है तो शुक्ल जी की धारणा के अनुसार उसकी दृष्टि सीमित है। इसके विपरीत यदि वह समष्टि रूप मे समस्त जीवन क्षेत्र पर अपनी दृष्टि डालता है तो यह अपेक्षाकृत अधिक व्यापक तथा गभीर होगी, क्योकि विच्छिन्न दृष्टि की अपेक्षा समष्टि-दृष्टि मे अधिक व्यापकता और गम्भीरता रहती है। कवि को अपनी भावना का प्रसार इतना विस्तीर्ण और व्यापक बना लेना चाहिए कि वह अनन्त व्यक्त सत्ताके भीतर नर-सत्ता के स्थान का अनुभव करे और अपनी पार्थक्य बुद्धि का परिहार कर दे। ऐसी स्थिति में कवि का हृदय उच्चभूमि पर पहुँच-कर प्रशान्त एव गम्भीर हो जाता है।

रागात्मक सम्बन्ध—काव्य में जगत या जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली

कोई-न-कोई वस्तु या तथ्य अवश्य होता है। उसी वस्तु या तथ्य के हृदय ग्राह्य पक्ष का प्रत्यक्षीकरण तथा उसके प्रति जाग्रित हृदय की वृत्तियों का विवरण काव्य स्वरूप की उद्भावना का मूल कारण माना जा सकता है। इसे ही पारिभाषिक शब्दो मे शेप मृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध कह सकते है। शेष सृष्टि और कवि मे जब परस्पर रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तब काव्य का स्वरूप विकसित होने लगता है। रागात्मक सम्बन्ध का अभिप्राय व्यक्त जगत् और जीवन के प्रति कवि की सुख-दु.खात्मक, राग-द्वेपमूलक अनुभूति ही है। काव्य-स्वरूप की उद्भावना के लिए कवि की यह अनुभूति शुद्ध अनुभूति होनी चाहिए अर्थात् उसमे कवि के केवल अपने वैयक्तिक योगक्षेम, हानि-लाभ तथा सुख-दु.ख का योग नही होना चाहिए। इस प्रकार यह रागात्मक सम्बन्ध एक प्रकार से भावयोग है। इस भावयोग की स्थिति मे कवि उस लोक-सामान्य-भावभूमि में विचरण करने लगता है, जिसमे जगत् की नाना गतियो का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का सचार होता है। जहाँ इसकी अपनी पृथक् सत्ता लोक सत्ता में विलीन हो जाती है और उसकी अनुभूति सब की अनुभूति हो सकती है। जहाँ व्यक्त जगत् के भिन्न-भिन्न रूपो, व्यापारों या तथ्यो के साथ उसके सूक्ष्म हृदय के भाव-जगत् के साथ सामजस्य स्थापित हो जाता है। दूसरे शब्दों मे वह अपने भावो के सूत्र से जगत् के साथ तादात्म्य की अनुभूति करने लगता है। यही अनुभूति ऐसे शब्द विधान मे सहयोग देती है कि वह काव्य का स्वरूप धारण करने लगता है। इसी कारण शुक्ल जी की यह धारणा बन गई है कि काव्य ऐसी साधना है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के शुद्ध रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह तथा उसके हृदय का प्रसार और परिष्कार होता है।

यह स्पष्ट है कि कवि के भावयोग से उत्पन्न रागात्मक अनुभूति ही काव्य के मूल मे अन्तर्निहित रहती है अत: यह आवश्यक है कि कवि की इस अनुभूति के स्वरूप को भी हृदयगम कर लिया जाए।

बुद्धि का योग--काव्य-स्वरूप का उद्भावन करने वाली अनुभूति मे

बुद्धि का कितना योग रहता है यह एक विचारणीय विषय है। यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि कवि अपने विधान मे अन्तः करण की तीन वृत्तियो-कल्पना, वासना और बुद्धि से काम लेता है, अतएव कवि की उक्त अनुभूति में बुद्धि का योग तो अनिवार्यत रहता ही है, परन्तु बुद्धि का स्थान बहुत गौण है। कल्पना और वासनात्मक अनुभूति ही प्रधान है। बुद्धि की सहायता तो दो रूपो मे ही दृष्टिगोचर होती है। प्रथम वह भाव-प्रसार का मार्ग स्पष्ट करती है और दूसरे वह काव्य के वाह्य रूप के निर्माण मे सहायता करती है। सामान्यतः बुद्धि ज्ञान-सम्पादन का कार्य करती है और हृदय भाव-प्रवर्त्तन का। यदि इन दोनों के कार्य मे परस्पर सामजस्य की स्थापना नही होगी तो काव्य स्वरूप-विधान मे वाधा उपस्थित होगी। सामजस्य से दोनो अपना-अपना कार्य स्वतन्त्र रूप मे करते हुए भी एक-दूसरे के वाधक न होगे। दोनो एक-दूसरे के सहयोगी के रूप मे काम करेगे। शुक्ल जी कहते हैं कि बुद्धि देश और काल के बीच हमारे ज्ञान का प्रसार बढाती है। जगत् के अनेक तथ्य ऐसे होते है जो हमारी बाह्य इन्द्रियो तथा सामान्य स्थूल बुद्धि को प्रत्यक्ष नही होते। बुद्धि अपनी सूक्ष्म क्रिया द्वारा, विशेष मनन और चिन्तन द्वारा उनका निरूपण करती है और कवि की प्रतिभा या कल्पना उन्हे गोचर और मार्मिक रूप मे सामने रखती है। ऐसी दशा मे प्रतिभा या कल्पना अनुमान के इशारे पर चलती है और सामान्य रूप से निरूपित तथ्य के वीच से ऐसे विशेष दृश्य की उद्भावना कर लेती है जो मर्मस्पर्शी होता है। नाना भावों के लिए आलम्बन आरम्भ मे ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती है, फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से प्रतिभा या कल्पना उनका भिन्न-भिन्न रूपो मे समन्वय करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के सचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।

काव्यानुभूति का स्वरूप—बुद्धि के योग से जिस अनुभूति का सचार कवि-हृदय मे होने लगता है उसके स्वरूप का विवेचन भी आवश्यक है। काव्यानुभूति के दो पक्ष हो सकते है। जिस अनुभूति की प्रेरणा से सच्चे कवि

की रचना करने बैठते है वह काव्यानुभूति का एक पक्ष है और जिस अनुभूति के प्रवाह मे पाठक अपने व्यक्तित्व के परिहार के द्वारा ऐसी स्थिति मे पहुँच जाता है जहाँ उसका व्यक्त जगत् के साथ किसी प्रकार का वैयक्तिक स्थूल सम्बन्ध नही रहता, अपितु शुद्ध रूप से लोक सत्तात्मक एवं सूक्ष्म भावात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है वह विलक्षण एव दिव्य अनुभूति काव्यानुभूति का दूसरा पक्ष है। शुक्लजी उक्त दोनो पक्षो की काव्यानुभूति को वास्तविक प्रत्यक्ष अनुभूति से पृथक् अन्तर्वृत्ति नही मानते, वलिक उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप मानते है। वे समझते है कि हम काव्य को जीवन मे अलग नही कर सकते। वे उमे जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते है। सिद्धान्तत वे जीवन क्षेत्र से मचित अनुभूतियो के ही रसात्मक रूप को काव्यानुभूति स्वीकार करते है। वे यह स्वीकार करते है कि कवि जिन वस्तुओ और व्यापारो का वर्णन करने बैठता है वे उस समय उसके सामने नही होते, कल्पना मे ही होते है। पाठक या श्रोता भी अपनी कल्पना द्वारा ही उनका मानस साक्षात्कार करके उनके आलम्बन मे अनेक प्रकार के रसानुभव करता है, परन्तु वे यह नही मानते कि कल्पित रूप-विधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति वास्तविक प्रत्यक्ष अनुभूति से सर्वथा असम्बद्ध एव लोकोत्तर है। वे कुछ काव्यालोचकों के इस बिचार को कि काव्यानुभूति एक निराली ही अनुभूति है; उसका प्रत्यक्ष या असली अनुभूति से कोई सम्बन्ध नहीं; सर्वथा असत्यसमझते है। वे ऐसे कला समीक्षकों के मत से सर्वथा सहमत नही है जो कलागत अनुभूति को वास्तविक या प्रत्यक्ष अनुभूति से स्वतन्त्र निरूपित करते है और उसे एक काल्पनिक जगत् की सज्ञा देते है। वे इस धारणा को भी नही मानते कि जिस प्रकार कवि के काल्पनिक जगत् के रूप-व्यापारों की सगति प्रत्यक्ष या वास्तविक जगत् के रूप-व्यापारों से मिलाने की आवश्यकता नहीं उसी प्रकार उसके भीतर व्यंजित अनुभूतियों का सामजस्य जीवन की वास्तवित अनुभूतियों मे ढूँढना अनावश्यक है। इसी प्रकार वे भारतीय रसप्रक्रिया में उल्लिखित लोकोत्तरत्व, ब्रह्मानन्द सहोदरत्व का भी यह अभिप्राय ग्रहण नही करते कि

काव्यानुभूति एव रसानुभूति लोक से सम्बन्ध न रखने वाली कोई स्वर्गीय विभूति है। इस प्रकार के विशेषणो को वे केवल भाव-व्यजक अर्थवाद मात्र मानते हैं तथ्य बोधक नही । निस्सन्देह, काव्यानुभूति निर्विशेष अनुभूति होती है। इसका प्रधान लक्षण अपने विशेष सुख-दुख, हानि-लाभ आदि से उद्विग्न न होना, अपनी शरीर यात्रा से सम्वद्ध न होना मात्र है । अपने आप को भूलकर, अपनी शरीर यात्रा का मार्ग छोड़कर जब हम (कवि या पाठक रूप मे) किसी व्यक्ति या वस्तु के सौन्दर्य पर प्रेम-मुग्ध हो जाते है; जब हम किसी ऐसे के दुख पर जिसके साथ हमारा अपना कोई विशेष सम्बन्ध नही करुणा से व्याकुल हो उठते है, जब हम दूसरे लोगो पर सामान्य घोर अत्याचार करने वाले पर क्रोध से तिलमिलाते है, जब हम किसी ऐसी वस्तु से घृणा का अनुभव करते है जिससे सबकी रुचि को क्लेश पहुँचता है, जब हम किसी ऐसी बात का भय करते है जिससे दूसरो को कष्ट या हानि पहुँचने की सम्भावना होती है; जब हम किसी ऐसे कठिन और भयकर कर्म के प्रति उत्साह से पूर्ण हो जाते है, जिसकी सिद्धि सबको अभिलषित होती है, जब हम ऐसी बात पर हँसते या आश्चर्य प्रकट करने लगते है जिसे देखकर सबको हँसी आती या आश्चर्य होता है तब हमारा हृदय लोक सामान्य भूमि पर पहुँच जाता है और हम ऐसी अनुभूति के प्रवाह मे बहने लगते है जिसे काव्यानुभूति का नाम दिया जाता है। काव्यानुभूति की इसी विशेषता को देखकर ही उसे लोकोत्तर, जीवन से परे आदि कहने की चाल चल पड़ी है। पर वास्तव मे वह जीवन के भीतर की ही अनुभूति है, आसमान से उतरी हुई कोई वस्तु नही ।

शुक्लजी उन लोगों से भी सहमत नही है जो व्यंजना या व्यंजक उक्ति को ही काव्य मानते है और उससे भिन्न काव्यानुभूति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते है। वे कहते है कि काव्यानुभूति ही वह प्रधान वृत्ति है जो व्यजना की प्रेरणा करती है। दोनों—कवि और पाठक—पक्षों की काव्यानुभूति भावानुभूति के ही रूप में मानी जा सकती है। कवि जगत् के नाना रूपों की भावानुभूति करता है और उनकी अभिव्यंजना अपने शब्द विधान द्वारा

करने लगता है तो वह पाठक व श्रोता के हृदय की मार्मिक वृत्ति को जगाने मे समर्थ हो जाता है। कवि पक्ष मे यही जगत् की भावात्मक अनुभूति काव्यानुभूति है। पाठक व श्रोता उसकी इस अनुभूति से अपने हृदय में कवि द्वारा उद्भावित विविध रूपो व व्यापारो के प्रति इसी प्रकार की अनुभूति धारण करता है तो यह स्पष्ट है कि उसकी काव्यानुभूति भी भावानुभूति ही है। इस सम्बन्ध मे प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि यदि भावानुभूति को ही काव्यानुभूति स्वीकार करेगे तो दु खात्मक भावो की व्यजना की अनुभूति भी दुःखात्मक होगी। काव्यानुभूति तो दु.खात्मक नही मानी जा सकती है, क्योंकि शोक घृणा, भय आदि दु खमूलक भावो की व्यजना करने वाले काव्यों को प्रायः पाठक बडी रुचि तथा तत्परता के साथ पढ़ते है और आनन्दित होते है। शुक्लजी का इस सम्बन्ध मे यह सिद्धान्त है कि दुःख-मूलक भावो कीव्यजना से जो अनुभूति पाठक व श्रोता मे संचरित होगी वह दु.खात्मक ही होगी। पाठक व श्रोता ऐसे काव्यो के द्वारा वास्तव में दुःख का ही अनुभव करते है। यही कारण है कि करुण-भाव प्रधान नाटक के दर्शन से आँसू आने लगते है। आँसुओ का आना दु.खमूलक करुण-भाव के उद्रेक का वाह्य लक्षण ही है। अव प्रश्न यह है कि काव्यानुभूति को 'ब्रह्मा-नन्द सहोदर' अर्थात् आनन्द स्वरूप क्यो कहा जाता है। इस उत्तर मे शुक्ल जी कहते है:—

"आनन्द शब्द को व्यक्तिगत सुखभोग के स्थूल अर्थ मे ग्रहण करना मुझे ठीक नही जँचता। उसक अर्थ मै हृदय का व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया मे तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ। इस दशा की प्राप्ति के लिए समय-समय पर प्रवृत्ति होना कोई आश्चर्य की बात नही। करुण-रस प्रधान नाटक के दर्शको के आँसुओं के सम्बन्ध मे यह कहना कि 'आनन्द मे भी तो आँसू आते है' केवल वात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते है। हृदय की मुक्त दशा होने के कारण वह दु.ख भी रसात्मक होता है।"

'आनन्द स्वरूप' शब्द से इसी रसात्मकता का सकेत ग्रहण करना

चाहिए । दु:खात्मक भाव का अभिव्यंजना से पाठक की आँखों मे आँसुओं का आना इस तथ्य का परिचायक है कि काव्यानुभूति भावानुभूतिके रूप में ही होती है। इस अनुभूति को यदि आनन्दात्मक स्वीकार कर लिया जाए तो शुक्लजी को सिद्धान्ततः कोई आपत्ति नही ।

सौन्दर्यानुभूति—कवि की सौन्दर्यानुभूति शेष सृष्टि के साथ उसके रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना कर देती है। इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति और काव्यानुभूति का परस्पर सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। जैसे दु:खमूलक भावों की अनुभूति भी काव्य में आनन्दस्वरूप धारण कर लेती है ठीक इसी प्रकार कोमल-कठोर, मधुर-भीषण वस्तु रूपों या व्यापारों की अभिव्यंजना भी काव्य मे सुन्दर स्वरूप मे प्रकट होकर हृदयग्राह्य वन जाती है। इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि कवि और पाठक दोनों के हृदय मुक्तावस्था में हो, अर्थात् अपने योग क्षेम, सुख-दु.ख, हानि-लाभ से पृथक् हों और वे दोनों लोकसामान्य-भाव भूमि पर पहुँच जाएँ, वे अपनी पृथक् सत्ता को भूलकर लोक सामान्य सत्ता मे विलीन हो जाएँ। इसी प्रकार यदि कवि की अन्तस्सत्ता रचनाकाल मे और पाठक की आस्वादन काल मे, काव्य में वर्णित रूप-व्यापार मे तदाकार परिणति प्राप्त कर लेती है तो उस काल की काव्यानुभूति सौन्दर्यानुभूति का रूप धारण कर लेती है।

शुक्लजी ने सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती है जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओ की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते है। हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। अपनी सत्ता के ज्ञान का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की, उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी, उतनी ही बढी हुई हमारी सौन्दर्य की अनुभूति कही जाएगी। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुक्लजी की सौन्दर्यानुभूति काव्यानुभूति के ही समकक्ष है। जैसे काव्यानुभूति का सम्बन्ध वस्तु जगत् तथा जीवन से होता है वैसे ही सौन्दर्यानुभूति

का सम्बन्ध भी काव्य में वर्णित वस्तु तथा जीवन से ठहरता है। शुक्लजी की यही धारणा उन्हे कलावादियों से पृथक् कर देती है।

कलावादी सौन्दर्य अभिव्यजना मे अथवा अभिव्यजक उक्ति मे स्वीकार करते है प्रस्तुत वस्तु या भाव मे नही। इस प्रकार सौन्दर्य का सम्बन्ध बाह्य व्यक्त जगत् से हटकर अन्तर्जगत् से हो जाता है। शुक्लजी सौन्दर्य के सम्बन्ध मे बाहर और भीतर का भेद व्यर्थ समझते है और कलावादियों की इस उक्ति को कि सौन्दर्य तो मन की भावना है, किसी बाहरी वस्तु में स्थित कोई गुण नही—निस्सार एव काव्यक्षेत्र मे अव्यवस्था फैलाने वाला समझते है। वे सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य का अस्तित्व ही नही मानते जैसे वीर कर्म से पृथक् वीरता का कोई स्वरूप नही। वे तो काव्यक्षेत्र मे 'सुन्दर' शब्द के स्थान पर 'रमणीय' शब्द का प्रयोग अधिक उपादेय समझते है क्योंकि काव्य के लक्षण मे सुन्दर शब्द काव्यानुभूति के स्वरूप को संकुचित कर देता है। 'सुन्दर' शब्द बाह्यार्थ की ओर सकेत करता जान पड़ता है और रमणीय शब्द हृदय की ओर। काव्य मे सौन्दर्यानुभूति भावानुभूति के रूप मे ही ग्रहण हो सकती है। भावानुभूति के बिना सौन्दर्यानुभूति सच्ची काव्यानुभूति को निष्पन्न नही कर सकती।

शुक्लजी सौन्दर्य और मगल को परस्पर पर्यायवाची समझते है। वे कहते है कि कलापक्ष से देखने में जो सौन्दर्य है वही धर्म-पक्ष के देखने में मगल है। सामान्य काव्यभूमिपर प्राप्त होकर हमारे भाव एकसाथ ही सुन्दर और मगल मय हो जाते है।...कवि मगलका नाम न लेकर सौन्दर्य ही का नाम लेता है और धार्मिक सौन्दर्य की चर्चा बचा कर मगल की ही चर्चा किया करता है।

मगलमय यह सौन्दर्य व्यक्त जगत् के नाना प्रकार के वस्तु रूपों तथा मानव की प्रत्येक सौम्य और उग्र वृत्तियो मे उपलब्ध हो सकता है। केवल इसके लिए निर्विशेष एव निर्वैयक्तिक होने की आवश्यकता है। यही निर्विशेष तथा निर्वैयक्तिक दृष्टि ही काव्य दृष्टि है। शुक्लजी की धारणा है कि जब काव्यदृष्टि से हम जगत् को देखते है तभी जीवन का स्वरूप और सौन्दर्य प्रत्यक्ष होता है। उनका विश्वास है कि जीवन का सौन्दर्य वैचित्र्य-

पूर्ण है। उसके भीतर किसी एक ही भाव का विधान नहीं। उसमें एक ओर प्रेम, हास, उत्साह और आश्चर्य आदि है, दूसरी ओर क्रोध, शोक, घृणा और भय आदि। एक ओर आलिगन, मधुरालाप, रक्षा, सुख-शान्ति आदि है, दूसरी ओर गर्जन-तर्जन तिरस्कार और ध्वस। इन दो पक्षों के बिना क्रियात्मक या गत्यात्मक सौन्दर्य का प्रकाश नही हो सकता। यदि अत्याचार तिरस्कार, ध्वंस की उग्रता तथा प्रचण्डता का रक्षा-सत्कार-निर्माण के साथ साध्य-साधक सम्बन्ध सिद्ध हो जाए तो उस उग्रता और प्रचण्डता मे सौन्दर्य का दर्शन हो सकता है।

इसी विश्वास को प्रमाणित करने के लिए शुक्लजी कहते है कि मगल का विधान करने वाले करुणा और प्रेम ये दो भाव ठहरते है। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है, रंजन का अवसर पीछे आता है अतः यदि किसी काव्य में वर्णित क्रोध, घृणा आदि उग्र भावो के मूल मे लोक रक्षा की भावना बीज रूप मे अन्तर्निहित है तो वहाँ भीषणता मे मनोहरता के कटुता मे अपूर्व मधुरता के, प्रचण्डता मे गहरी आर्द्रता के दर्शन हो सकते है। इसीलिए वे कहते है कि जगत् की विघ्न-बाधा, अत्याचार-हाहाकार के बीच ही जीवन के प्रयत्न-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है। सौन्दर्य का उद्घाटन असौन्दर्य का आवरण हटा कर ही किया जा सकता है।

सौन्दर्य सम्बन्धी इसी धारणा के कारण शुक्लजी लोकादर्शवाद के प्रवर्त्तक या अनुयायियो से पृथक् हो जाते है। वे टाल्स्टाय के समान मनुष्य मनुष्य में भ्रातृ-प्रेम-सचार को ही एक मात्र काव्यतत्त्व स्वीकार नहीं करते। वे यह भी नही मान सकते कि शुभ और सात्त्विक भावों की अशुभ और तामस भावो पर चढाई और विजय के वर्णन से ऊँचे साहित्य का विधान होता है और क्रूरता पर क्रोध, अत्याचारियो का ध्वंस, पापियों को जगत् के मार्ग से हटाने के उपायों के चित्रण से मध्यम काव्य का स्वरूप उद्भावित होता है। वे क्रूर को सदय, पापी को पुण्यात्मा, अनिष्टकारी को प्रेमी बनाने के प्रयत्न-प्रदर्शन में ही काव्य की उच्चता अथवा सौन्दर्य और

मंगल की अभिव्यक्ति होती है इस सिद्धान्त का भी समर्थन नही कर सकते, क्योकि वे समझते है कि इससे मगल, सौन्दर्य तथा काव्य की उच्चता का क्षेत्र ही अत्यन्त सकुचित एवं सीमित हो जाएगा।

शुक्लजी लोकादर्शवादियो के इस उच्चादर्श के विरोधी नही है। वे यह मानते हैं कि क्रूर आततायी के प्रति निरन्तर प्रेम प्रदर्शित करना और उसे अपनी सेवा-शुश्रूषा तथा सद्भावना से जीतना और उसे सदय एवं परोपकारी बनाना एक उच्च आदर्श है। इसी आधार पर अत्याचारियो के प्रति प्रेम-सेवा का व्यवहार करते चले जाने मे सौन्दर्य का विकास भी माना जा सकता है, परन्तु उस सौन्दर्य से कई गुणा अधिक सौन्दर्य तो दूसरो की निरन्तर बढ़ती हुई पीडा को देख करुणा से आर्द्र और फिर रोष से प्रज्वलित होकर पीड़ितो और अत्याचारियो के बीच उत्साहपूर्वक खडे होने तथा अपने ऊपर अत्याचार-पीडा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने मे है। इस प्रकार शुक्लजी करुणा और क्रोध आदि विरोधी भावो के सामंजस्य में ही मनुष्य के कर्म सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते है,। वे तो लोकादर्शवादियों के उक्त उच्चादर्श को एक सुन्दर स्वप्न मानते है परन्तु पीड़कों के संहार के लिए किये गए इस प्रचण्ड एव भीषण कर्म को जागरण की संज्ञा देते है। यह जागरण उस स्वप्न से किसी भी दृष्टि से कम सुन्दर नही है। ये दोनों—स्वप्न और जागरण—काव्य के पक्ष है। इन दोनों पक्षों का सामजस्य काव्य का चरम उत्कर्ष है।

मानव के कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के साथ कवि की दृष्टि वस्तुओं के रूप-रंग के सौन्दर्य पर भी जाती है। उत्कर्ष साधन के लिए, प्रभाव की वृद्धि के लिए कई प्रकार के सौन्दर्यो का मेल काव्य मे रहता है। मनुष्य के भीतरी-बाहरी सौन्दर्य के साथ चारों ओर की प्रकृति के सौन्दर्य को भी मिला देने से वर्णन का प्रभाव बढ जाया करता है।

रहस्यानुभूति—काव्य मे ज्ञात एवं व्यक्त जगत् और जीवन की ही अनुभूतियाँ वर्णित रहती है। काव्य की प्रस्तुत वस्तु या तथ्य लोक स्वीकृत होना चाहिए अर्थात् हमारे विचारो और अनुभव से सिद्ध होना चाहिए।

शुक्लजी की धारणा मे आदि कवि वाल्मीकि का यही सन्देश है कि सब भूतो तक, सम्पूर्ण चराचर तक अपने हृदय को फैलाकर जगत् मे, भाव रूप मे रम जाओ, हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के द्वारा विश्व के साथ एकता का अनुभव करो। इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप प्रकृति के नाना रूपो या व्यापारो के प्रति कवि के हृदय मे एक रहस्य भावना का उदय होता है। शुक्लजी इस स्वाभाविक रहस्य भावना को बडी रमणीय और मधुर भावना मानते है। वे इसे मानव की अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियों मे से एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा मानते है। उच्च कोटि के कवि अन्यान्य अनुभूतियो के बीच मे कभी-कभी, प्रकरण प्राप्त होने पर, इसी प्रकार की भावना का अनुभव किया करते है। काव्यानुभूति के साथ इस रहस्य भावना के स्वरूप का विवेचन भी परमावश्यक है।

मानवेतर प्रकृति के रूपो-व्यापारो में काव्य दृष्टि ऐसे तथ्यो या भावों का सकेत पाती है जिनका मानव की अन्तर्दशाओ के साथ पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। ये तथ्य इतने स्पष्ट नही होते कि प्रत्येक मानव उनको ग्रहण कर सके अतएव ये गूढ एवं रहस्य कहलाते हैं। कवि की सहृदयता जब इन गूढ एवं रहस्यमय तथ्यो या भावो की भावना करने लगती है तब ये सर्वजनसवेद्य होने लगते है। सबके सामने फैले हुए बाह्य जगत् के रूपों और व्यापारो मे मानव-जीवन के मार्मिक तथ्यो का कुछ सच्चा आभास या सकेत पाकर जब कवि लोक सामान्य भाव भूमि पर उपस्थित हो जाता है तब इन तथ्यो की अभिव्यजना ऐसी होती है कि श्रोता या पाठक का हृदय भी उनको अपनाने लगता है। इस प्रकार कवि हृदय और पाठक हृदय का समन्वय होने से यह रहस्य भावना भी काव्य स्वरूप का विषय बन जाती है। इस रहस्य भावना की प्रेरणा से अभिव्यक्त तथ्यों या भावों का सहृदय पाठक भी अनुमोदन कर सकते है। शुक्लजी कहते है—

"यदि हम खिली कुमुदिनी को हँसती हुई कहे,.........पृथ्वी को पालती-पोसती हुई स्नेहमयी माता पुकारे, नदी की बहती धारा को जीवन का संचार सूचित करे, गिरि-शिखर से स्पृष्ट झुकी हुई मेघमाला के दृश्य

मे पृथ्वी और आकाश का उमग भरा, शीतल, सरस और छायावृत्त आ-लिगन देखे, तो प्रकृति की अभिव्यक्ति की सीमा के भीतर ही रहेगे । इसी प्रकार अभिव्यक्ति की प्रकृत प्रतीति के भीतर, प्रकृति की सच्ची व्यजना के आधार पर जो भाव, तथ्य या उपदेश निकाले जाएँगे वे भी सच्चे काव्य होगे ।" अन्योक्तियो के मूल मे यही रहस्य भावना रहती है । अन्योक्तिकार कुछ प्राकृतिक दृश्यो को प्रस्तुत करके उनसे किसी दूसरी वस्तु की विशेषतः मनुष्य जीवन सम्बन्धी किसी मर्मस्पर्शी तथ्य की व्यजना कर देता है । यह ठीक है कि ये तथ्य व्यग्य होते है, रहस्य स्वरूप होते है, परन्तु वे होते है पूर्णतया ज्ञात ही, और उनके साथ मानव-हृदय का स्पर्श हो चुका होता है । अन्योक्ति द्वारा अव्यक्त, परोक्ष या अज्ञात तथ्य की व्यजना को शुक्ल-जी सर्वथा कृत्रिम और काव्यगत सत्य के विरुद्ध समझते है । वे तो किसी ऐसे तथ्य की अभिव्यजना को जिसका हमे ज्ञान नहीं, जिसकी अनुभूति से वास्तव मे हमारे हृदय में स्पन्दन नही हुआ है, आडम्बर-मात्र स्वीकार करते है और उसे काव्यानुभूति कहने को उद्यत नही है । काव्यक्षेत्र में ऐसी अनुभूतियो का कोई मूल्य नही है । प्रकृति की ठीक और सच्ची व्यजना के बाहर जिस भाव, तथ्य आदि का आरोप प्रकृति के रूपों और व्यापारो पर किया जाएगा वह तो काव्य-विधान मे अप्रस्तुत अर्थात् अलकार मात्र होगा । उसका मूल्य एक फालतू या ऊपरी चीज के मूल्य से अधिक न होगा ।

शुक्लजी किसी ज्ञानातीत दशा का अस्तित्व स्वीकार नही करते है । यदि इसको स्वीकार भी कर लिया जाए तो भी वे इसका काव्य के साथ कोई सम्बन्ध नही मानते है । वे मनोमय कोश को ही प्रकृत काव्य भूमि समझते है अर्थात् बाह्य जगत् के गोचर रूपों और व्यापारों की मानव-मन मे पड़ी छाया के आधार पर ही काव्य मे रूप-योजना की जाती है । यदि कोई इस रूप-योजना के केन्द्र-मनोमय कोश—के भीतर की वस्तुओं की कोई मनमानी योजना खड़ी करके उसे किसी ऐसे तथ्य का सूचक कहता है जिसका कुछ ठीक ठिकाना नही तो उसकी रचना से सच्चे काव्य स्वरूप की उद्भावना नही हो सकती है ।

कवि की सच्ची रहस्य भावना वही है जो किसी गूढ़, परन्तु ज्ञान एवं अनुभूत तथ्य की ही अभिव्यंजना करती है। किसी अज्ञात और अनिश्चित तथ्य की ओर संकेत मात्र करने वाली रहस्य भावना भी काव्य दृष्टि की सीमा में आ सकती है, परन्तु उसके आगे बढ़कर जब उस अज्ञात को अव्यक्त और अगोचर कहकर भी उसका चित्रण होने लगता है, उसका विवरण प्रस्तुत किया जाने लगता है तब यह काव्य दृष्टि न होकर लोकोत्तर दिव्यदृष्टि का रूप धारण करने लगती है। सच्चा कवि लोकोत्तर दिव्य-दृष्टि का स्वाँग नही भरता वह तो लोक सामान्य दृष्टि से ही काम लेकर शब्द विधान करता है। हाँ, किसी साम्प्रदायिक धारणा को मूर्त्त रूप देने के लिए अवश्य इसी लोकोत्तर दिव्य दृष्टि का पल्ला पकड़ना पड़ता है। अज्ञात, अगोचर तथ्य की विवेचना दर्शनशास्त्र का विषय है। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में इस दिव्य दृष्टि से उपयोग लिया जा सकता है और अपनी कल्पना मे आए अज्ञात तत्त्व का चित्रण उपस्थित किया जा सकता है। यह एकप्रकार का बौद्धिक व्यापार है। काव्य स्वरूप में अनुभूति का, हृदय का व्यापार अपेक्षित होता है। शुक्लजी का यह कथन है कि हमारे यहाँ दर्शन के नाना वादों को काव्य क्षेत्र में घसीटने की प्रथा नही थी। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि अनेक वेदान्तीवाद प्रचलित हुए पर काव्यक्षेत्र से वे दूर ही रखे गए। हाँ, निर्गुण धारा के सन्तों ने इन वादों को मूर्त्त रूप देने के लिए प्रकृति के रूपों-व्यापारो पर मनमाने तथ्यों का आरोप अवश्य किया है। शुक्लजी ऐसे आरोपो को काव्य स्वरूप में स्थान देना नही चाहते है। ब्रह्म, माया, पंचेन्द्रिय, जीवात्मा, विकार, परलोक आदि दर्शनशास्त्र के विषयों को लेकर जो रूप योजना की जाएगी यदि वह केवल अद्वैतवाद, मायावाद आदि वादों का स्पष्टीकरण मात्र करेगी तो वह काव्य सम्बन्धी रूप योजना नहीं होगी। इसके विपरीत यदि उससे किसी सर्व स्वीकृत, सर्वानुभूत तथ्य को भाव क्षेत्र में लाने का उपक्रम किया जाएगा तो वह पूर्वोक्त योजना से अपेक्षाकृत अधिक मर्मस्पर्शिनी एवं काव्य विधायिनी होगी।

किसी वाद के भीतर निरूपित तथ्य की व्यंजना करने के लिए यदि प्रकृति के रूपों और व्यापारो से मूर्त्त स्वरूप खड़े किए जाएँगे तो उनसे सच्ची रहस्य भावना का सम्बन्ध नही रहेगा। वादों के स्पष्टीकरण के लिए बनाए गए रूपकों मे अव्यक्त के प्रति प्रेम, लालसा आदि हृदय की भावनाओं का प्रकाशन मिलता है। शुक्लजी के सिद्धान्त के अनुसार ये प्रकाशन आडम्बर मात्र है क्योंकि हृदय का अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। प्रेम, अभिलाष जो कुछ प्रकट किया जाएगा वह व्यक्त और गोचर ही के प्रति होगा। उक्त रूपकों में अव्यक्त और अगोचर की जो झाँकियाँ प्रस्तुत की जाती है, जा आत्म वेदना का प्रस्फुटन रहता है, मिलन की दशा के उन्माद का जो चित्रण मिलता है वह सब काव्यगत-सत्य से विरुद्ध कहा जाएगा। अज्ञात, अनन्त एवं असीम की भावना काव्य-स्वरूप के साथ सम्बन्ध नहीं रखती है। काव्य-स्वरूप का उद्‌भावन करने वाली रहस्य भावना में न असीम-समीम के द्वन्द्व का दर्शन होता है, न अव्यक्त और अगोचर की झाँकी ही रहती है, न वेदना का अट्टहास और न उन्मत्त नृत्य। शुक्लजी की काव्य चेतना किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम से आँसुओ की आकाश गगा मे तैरने, हृदय की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न-प्रलय-सा ताण्डव करने या मुँदे नयन-पलक के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने मे काव्यत्व स्वीकार नही करती। वह व्यक्त और अव्यक्त मे कोई पारमार्थिक भेद नही देखती। ये दोनों शब्द सापेक्ष है और केवल मनुष्य के ज्ञान की परिमिति के द्योतक है।

शुक्लजी कहते है कि असीम और अनन्त की भावना के लिए अज्ञात या अव्यक्त की ओर झूठे इशारे करने की कोई आवश्यकता नही। व्यक्त पक्ष में भी वही असीमता और वही अनन्तता है। अज्ञात जिज्ञासा का तो विषय बन सकता है, परन्तु प्रेम, लालसा आदि हृदय वृत्तियो का नही। तत्त्व दृष्टि से, मनोविज्ञान की दृष्टि से, साहित्य की दृष्टि से 'अज्ञात की लालसा' कोई भाव ही नहीं है, यह केवल ज्ञान की लालसा है। उसे भाषा चमत्कार से 'अज्ञात की लालसा' कहकर छिपाने का यत्न किया जाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि वे स्वाभाविक रहस्य भावना को ही काव्यानुभूति में स्थान देते है। साम्प्रदायिक रहस्य भावना को काव्यक्षेत्र से बाहर अस्वाभाविक रहस्यानुभूति मानते है।

काव्यानुभूति और स्वप्न—शुक्लजी स्वप्न काल की प्रतीति का भी काव्यानुभूति से कोई गहरा सम्बन्ध नही मानते। निस्सन्देह, दोनो के आविर्भाव का स्थान एक है। स्वप्न के रूप-व्यापार बाह्य इन्द्रियो के सम्मुख नहीं होते, उसका रूप-विधान मानसिक होता है। ठीक उसी प्रकार काव्य वस्तु भी इन्द्रियगोचर न होकर मन का विषय होती है, परन्तु उन दोनो की प्रतीति एक समान नही होती। स्वप्न काल की प्रतीति प्रायः प्रत्यक्ष ही के समान होती है। इसके अतिरिक्त काव्य काल में अन्तः सज्ञा मे अभिव्यक्त रूप और व्यापार को शब्दो का परिधान प्रस्तुत किया जा सकता है, परन्तु स्वप्न-काल मे अनुभूत एव दृष्ट रूप व व्यापार को ऐसा परिधान नही दिया जा सकता है। शब्दो का विधान स्वप्न को स्पर्श नही कर पाता है वह तो छुई-मुई की तरह स्पर्श करते नष्ट होने वाला है। काव्यानुभूति में इतनी अस्पृश्यता नही है। शुक्लजी उन लोगो के साथ सहमत नही है जो स्वप्न के समान काव्य को भी अन्तः संज्ञा में निहित अतृप्त वासनाओ की अन्तर्व्यजना कहते है। अपनी अन्तस्संज्ञा मे दवी पडी अतृप्त वासनाओ को तृप्त करने के लिए ही कवि काव्य की रचना नही करता और न ही श्रोता उक्त तृप्ति की कामना से ही काव्यानुभूति करता है। काव्य मे तो सभी सुखात्मक-दुःखात्मक वृत्तियों का प्रसार रहता है। दुःखात्मक वृत्तियो के सम्वन्ध में वासना-तृप्ति का सिद्धान्त चरितार्थ नही हो सकता है।

काव्य की आत्मा—शुक्ल जी भावों या मनोविकारो की शुद्ध अनुभूति को ही काव्य का आभ्यन्तर स्वरूप या आत्मा स्वीकार करते है। उनका यह विश्वास है कि संसार मे मनुष्य जाति के बीच काव्य हृदय के भावों को लेकर ही आविर्भूत हुआ है। प्रेम, उत्साह, आश्चर्य, करुणा आदि की व्यजना के लिए ही आदिम कवियो ने अपना स्निग्ध कठ खोला है। तब से आज तक प्रत्येक सच्चे काव्य की तह मे भावानुभूति आत्मा की तरह रहती

चली आई है। काव्य मे हृदय की अनुभूति ही अगी है, मूर्त रूप अंग है। प्राचीन काव्य लक्षणों में जो रसात्मक वाक्य को काव्य कहा गया है और रस को आत्मा स्वीकार किया गया है, शुक्लजी उससे सर्वथा सहमत प्रतीत होते है। हृदय के प्रभावित होने का नाम ही रसानुभूति है। पडितराज जगन्नाथ के लक्षण मे रस के स्थान पर जो 'रमणीय अर्थ' को ग्रहण किया गया है उससे भी उन्हे कोई मतभेद नही, क्योंकि वे रमणीयता और रसात्मकता को परस्पर सम्बद्ध ही समझते है। तत्त्वतः मन का रमना किसी भाव मे लीन होना ही है।

रागात्मक सम्बन्ध की अभिव्यंजना : काव्य का शरीर—शेष सृष्टि के साथ कवि के भावात्मक सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने के लिए चमत्कारपूर्ण शब्द विधान की अपेक्षा है। यही मानो काव्य का शरीर है। कवि अपने भावो की अभिव्यंजना के लिए कल्पना-शक्ति से काम लेता है। कल्पना वासना की सहकारिणी होकर काव्य का बाहरी ढाँचा खडा कर देती है। काव्य का शब्द-विधान सामान्य लोक-व्यवहार के अनुरूप नही होता है। लोक-व्यवहार में वस्तु या भाव का अर्थग्रहण मात्र कराना उद्देश्य होता है। काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नही चलता है उसमे तो बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्बग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त्त विषय का ही हो सकता है। शुक्लजी का यह सिद्धान्त है कि जब तक भावो मे सीधा और पुराना लगाव रखने वाले मूर्त्त और गोचर रूप न मिलेगे तब तक काव्य का वास्तविक ढाँचा खडा न हो सकेगा। अर्थ बोध के साथ भावोन्मेष ही काव्य प्रधान कार्य है। इस भावोन्मेष के लिए कवि अपनी बात को चित्ररूप में प्रस्तुत करता है। इसी कारण उसका शब्दविधान लोक-व्यवहार के शब्दविधान से कुछ अनूठा हो जाता है। इसी कारण काव्य की उक्तियों में चमत्कार रहता है। चमत्कार के लिए काव्य के वर्ण-विन्यास मे, शब्दचयन मे, वाक्य विन्यास में, अप्रस्तुत वस्तु के उल्लेख में कुछ असामान्य ढंग अपनाना पड़ता है। इसके लिए शब्द की शक्तियों से, विशेषतया लक्षणा से

काम लेना पड़ता है और ऐसे शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है जिनसे विशेष रूप-व्यापार का सकेत मिल सकता है। अगोचर बातो या भावनाओं को इस प्रकार काव्य स्थूल गोचर रूप प्रदान कर देता है। वह वस्तु या व्यापार की भावना को अधिक चित्ताकर्षक बनाने के लिए तथा भावों को अधिक उत्कर्ष तक पहुँचाने के लिए वस्तुओ के रूप-रंग को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर दिखाता है। वर्ण्य वस्तु के सदृश रूप-रंग, धर्म तथा प्रभाव वाली अन्य वस्तु को सामने लाकर रख देता है। कभी वह बात घुमा-फिराकर कहता है। इस प्रकार काव्य का शब्द विधान कुछ विचित्र बन जाता है।

शुक्लजी उक्ति वैचित्र्य को काव्य के लिए आवश्यक तो समझते है। परन्तु अनिवार्य नही। वे उन लोगों के साथ सहमत नही है जो यह कहते है कि कोई मर्मस्पर्शी वाक्य भी यदि उक्ति-वैचित्र्य से शून्य है तो वह काव्य के अन्तर्गत नहीं हो सकता है और यदि उक्ति वैचित्र्य है तो भाव की व्यंजना से रहित वाक्य काव्य कहला सकता है। उनकी दृष्टि में तो काव्य की आत्मा भाव है, अनुभूति है; अतः वे तो उसी उक्ति को काव्य कहेंगे जिसकी तह मे उसके प्रवर्त्तक के रूप में कोई भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति छिपी होगी। केवल वैचित्र्यमात्र में कोई शब्द विधान काव्य नही बन जाता। इसी प्रसग मे उन्होंने काव्य और सूक्ति का अन्तर स्पष्ट किया है। वे कहते है, "जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना मे लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे वह सूक्ति है।"

यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी की धारणा के अनुसार काव्य का शब्द विधान व्यावहारिक विधान से अधिक व्यजक मार्मिक और चमत्कारपूर्ण होना चाहिए। इसके लिए कवि की वासना और कल्पना का योग अत्यन्त आवश्यक है।

काव्य का लक्ष्य—काव्य का लक्ष्य भी जीवन-लक्ष्य से भिन्न नहीं हो सकता है। मानव जीवन का ऊँचे से ऊँचा लक्ष्य काव्य की सीमा के अन्दर

ग्रा सकता है। मानव मानवता की उच्चभूमि पर पहुँचकर ही ग्रपने जीवन की सफलता समझ सकता है। यह उच्च भूमि ज्ञान की दृष्टि से ग्रद्वैत भूमि है जिस पर पहुँचकर मानव यह समझ लेता है कि सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परमसत्ता के ग्रन्तर्गत है। यह ग्रद्वैत की दृष्टि मानव को ग्रपनी बुद्धि-क्रिया से-ज्ञानयोग से प्राप्त होती है। काव्य से भी यह ग्रद्वैत भूमि उपलब्ध की जा सकती है। काव्य मे यह ग्रद्वैत दृष्टि हृदय वृत्ति द्वारा—भावयोग से—प्राप्त की जा सकती है। यदि ज्ञानयोग द्वारा प्राप्त की हुई ग्रद्वैतता के साथ हृदय वृत्ति का, भाव का योग भी हो जाए तो ज्ञान ग्रौर भाव वृत्तियों के समन्वय से मानवता का लक्ष्य ग्रधिगत कर लिया जाता है। काव्य इसी समन्वय के द्वारा मानव को उसके उच्चतम लक्ष्य ग्रद्वैतता तक ले जाता है। इस समन्वय के लिए हृदय वृत्ति का उस सीमा तक प्रसार ग्रपेक्षित है जिस सीमा तक बुद्धि की व्याप्ति हो चुकी है। काव्य यही काम करता है, यही उसका लक्ष्य एवं प्रयोजन है। शुक्लजी की दृष्टि में हृदय-प्रसार का स्मारक-स्तम्भ काव्य है। इसी की उतेजना से मानव के जीवन में एक नया जीवन ग्राने लगता है।

हृदय वृत्ति–भावात्मक सत्ता–का प्रसार बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की ग्रन्तः प्रकृति के सामजस्य से घटित हो सकता है। इसके लिए मानव को ग्रपने स्वार्थसम्वन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठकर लोक सामान्य भाव-भूमि में प्रविष्ट होना पड़ता है, जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का चमत्कार ग्रौर ग्रपने ग्रन्तः करण में शुद्ध ग्रनुभूति का संचार करके ग्रपनी प्रकृत दशा मे ग्राना पड़ता है। शुक्ल जी की धारणा है कि काव्य मानव की इसी ग्रावश्यकता को, ग्राकांक्षा को पूर्ण करता है। इस प्रकार काव्य का ग्रन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य स्थापना करना ठहरता है। केवल मनोरंजन काव्य का लक्ष्य नही है। वह तो एक साधन है, साध्य नही। निस्सन्देह, काव्य पढ़ते समय मनोरंजन होता है पर उसके उपरान्त कुछ ग्रौर भी होता है ग्रौर वह सब कुछ है। मनोरंजन तो काव्य की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह पढने

सुनने वाले की चित्त वृति को स्थिर रूप से अपनी ओर आकृष्ट किये रहता है, उसके ही द्वारा वह मानव के मर्म स्थल का स्पर्श करता है, उस पर विभिन्न जीवन कर्मो की सुन्दरता-असुन्दरता का चित्र अंकित करके उसे झकझोरता है और उसे उत्तेजित कर प्रवृत्त या निवृत्त करता है। इसी साधन भूत शक्ति को साध्य मान लेना उचित नही है। यदि मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही काव्य का अन्तिम लक्ष्य मान लिया जाए तो काव्य केवल विलास, कुतूहल-विनोद की सामग्री ही हो जाएगा। विनोद या कुतूहल मनोवृत्ति अवश्य है पर उसे अकेले ही काव्य का आधार नही मनाया जा सकता है। तमाशा देखना और काव्य सुनना-पढना एक ही बात नही है। शुक्ल जी की चेतना काव्य का लक्ष्य इतना हलका मानने को उद्यत नही है। वे तो उसका एक अत्यन्त उच्च एव गम्भीर लक्ष्य स्वीकार करते है। वे काव्य द्वारा गूढ और ऊँचे विचारो के साथ हृदय के भावो का सयोग होता देखना चाहते है।

काव्य को चित्रकला, मूर्तिकला आदि हलकी कलाओं में ही परिगणित करने का ही आज यह परिणाम हुआ है कि काव्य का लक्ष्य इतना सामान्य माना जाने लगा है। कलावाद के प्रचार मे भी काव्य का लक्ष्य अत्यन्त नीचा होता जा रहा है। शुक्लजी कलावादियो के समान यह स्वीकार नही करना चाहते कि काव्य का हृदय पर उतना ही और वैसा ही प्रभाव पडता है जितना और जैसा किसी परदे के बेल बूटे, मकान की नक्काशी, सरकस के तमाशे तथा भाँडो की लप्फाजी, उछल-कूद या रोने-धोने का पड़ता है। काव्य और अन्य हलकी कलाओं को एक समान स्तर पर रखने का यह प्रभाव हुआ है कि काव्य का स्वरूप भी सजावट या तमाशे का हो गया है और उसका उद्देश्य केवल मनोरंजन या मन बहलाव होता जा रहा है। शुक्लजी इस उद्देश्य के लिए काव्य-निर्माण करना उपादेय नही समझते। वे तो यह समझते है कि मनुष्य शेष प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करके अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है। जैसे मनुष्य को यह अनेक रूपात्मक जगत् का क्षेत्र अपनी बुद्धि की व्याप्ति के लिए मिला है ठीक वैसे ही यह अनेक

भावात्मक अन्तर्जगत् भावों की व्याप्ति के लिए मिला है। इस क्षेत्र मे पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए वह काव्य से सहयोग प्राप्त कर सकता है। इसीके द्वारा वह अपने मनोविकारो का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह कर सकता है। काव्य का यह लक्ष्य होता है कि वह जगत् की नाना वस्तुओ, व्यापारों और बातो को ऐसे रूप मे पाठक के सम्मुख रखे कि वे उसके भावचक्र के भीतर आ जाएँ। इतने ऊँचे लक्ष्य को छोड़कर शुक्लजी सामान्य मनोरजन एवं विनोदमात्र को काव्य का अन्तिम लक्ष्य स्वीकार नही करते। काव्य या कवि-कर्म के लक्ष्य को उन्होने क्रम से तीन भागो मे विभक्त किया है—१. शब्द विन्यास द्वारा श्रोता का ध्यान आकर्षित करना, २. भावो का स्वरूप प्रत्यक्ष करना, ३. नाना पदार्थो के साथ उनका प्रकृत सम्बन्ध प्रत्यक्ष करना। तीसरा लक्ष्य ही वास्तव मे शुक्लजी की धारणा मे काव्य का अन्तिम लक्ष्य है। पहले दो भागो को ही अन्तिम लक्ष्य मान लेने मे तो काव्य केवल आनन्द या मनोरंजन की वस्तु प्रतीत होगा अत. यह उन्हे प्रिय नही है।

काव्य की परिभाषा—शुक्लजी ने तीन स्थानों पर काव्य की परिभाषा प्रस्तुत करने का यत्न किया है। 'कविता क्या' इस निबन्ध मे जो कविता की परिभाषा विन्यस्त की गई है वह वास्तव मे सारे काव्य स्वरूप की ही परिभाषा है। इसके अतिरिक्त इसी निबन्ध मे काव्य और सूक्ति के अन्तर को स्पष्ट करते समय भी काव्य परिभाषा का सकेत कर दिया है। काव्य-परिभाषा का उल्लेख उनके 'इन्दौर की साहित्य परिषद्' के सभापति-पद से किये गए भाषण में भी हुआ है। यह उल्लेख काव्य और साहित्य को पर्यायवाची मानकर किया गया है। तीनों परिभाषाएँ क्रम से यहाँ प्रस्तुत की जाती है—

कविता के माध्यम से—"हृदय की मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे 'कविता' कहते है।"

काव्य और सूक्ति के अन्तर के माध्यम से—"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना मे लीन

कर दे वह काव्य है।"

साहित्य के माध्यम से—"साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमें अर्थ बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो।"

परिभाषा की व्याख्या—प्रथम परिभाषा में वाणी द्वारा किये गए ऐसे शब्द विधान को कविता या काव्य कहा गया है जिससे हृदय मुक्तावस्था मे आ जाए। इस मुक्तावस्था की व्याख्या भी शुक्लजी ने स्वय की है। जब तक हृदय जगत् के नाना रूपों और व्यापारो को अपने योग क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है तब तक वह एक प्रकार से बद्ध रहता है। जब वह इन रूपों और व्यापारों के सामने अपनी पृथक् सत्ता की धारणा को भुलाकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है तब वह मुक्त कहलाता है। इसी मुक्तावस्था तक पहुँचाने वाला वाणी का शब्द-विधान शुक्लजी की इस परिभाषा के अनुसार काव्य है।

दूसरी परिभाषा मे उक्ति शब्द से वाणी के शब्द-विधान का ही सकेत है। हृदय मे भाव जाग्रत होना, वस्तु तथा तथ्य की मार्मिक भावना मे लीन होना प्रकारान्तर से हृदय की मुक्तावस्था ही है। इस प्रकार यह लक्षण भी पहले का ही रूपान्तर मात्र है।

तीसरी परिभाषा में काव्य के स्वरूप को अधिक व्यापक बनाने का यत्न किया गया है। पूर्वोक्त दोनों परिभाषाओं में वर्णित काव्य के मूल-स्वरूप को ही 'वाङ्मय', 'भावोन्मेष', 'चमत्कारपूर्ण अनुरंजन' ये शब्द अभिव्यक्त कर रहे है। इस दृष्टि से इस लक्षण में कोई विशेषता नही है, परन्तु इसके अनुसार काव्य के क्षेत्र में उसकी विचारात्मक समीक्षा भी समाविष्ट हो गई है। जहाँ पहले दोनों लक्षणों में विचारों की अनुभूति को काव्य कहा गया है वहाँ इस लक्षण मे उस अनुभूति की समीक्षा और व्याख्या को भी इसी क्षेत्र मे अन्तर्निहित कर लिया गया है। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है काव्य शब्द का प्रयोग शुक्लजी इस व्यापक रूप के लिए नही करना चाहते

इसीलिए उसके स्थान 'साहित्य' शब्द का प्रयोग कर दिया गया है। भाव-प्रधान शब्द विधान ही अन्ततः उनके काव्य स्वरूप का लक्षण ठहरता है और जो प्राचीन संस्कृत काव्य शास्त्र के आचार्य विश्वनाथ के 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' का हिन्दी रूपान्तर कहला सकता है।

काव्य के तत्त्व—पाश्चात्य काव्य समीक्षकों ने काव्य या साहित्य के मूल तत्त्वो को आधार बनाकर लक्षण किये है और काव्य के बुद्धि, भाव, कल्पना और शैली ये चार तत्त्व स्वीकार किये है। शुक्लजी के लक्षण की इन तत्त्वों के आधार पर भी समीक्षा की जा सकती है। साथ ही इन तत्त्वों के सम्बन्ध में उनकी धारणा का स्वरूप भी स्पष्ट किया जा सकता है।

बुद्धितत्त्व—बुद्धितत्त्व से उन विचारो का परिग्रहण होता है जो काव्य मे प्रसगवश अभिव्यक्त होते है। विचार शब्द भाव की निष्क्रिय अवस्था का सूचक है। इस अवस्था मे बुद्धि का योग मन के साथ अधिक हो जाता है। भाव के साथ बुद्धि के इस योग से विकल्प की, प्रतिवन्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, शारीरिक चेष्टाएँ रुक जाती है, वौद्धिक चिन्तन-मनन प्रारम्भ हो जाता है। काव्य में यही स्थिति बुद्धि तत्त्व की प्रधानता से हो सकती है। इससे काव्य का श्रेय, सत्य या शिव पक्ष निर्मित होता है। शुक्लजी काव्य मे श्रेय और प्रेय का पृथक्-पृथक् अस्तित्व नही मानते है। वे सत्य, शिवं आदि शब्दों को काव्य क्षेत्र के बाहर प्रयुक्त करने के पक्ष में है। इसके अतिरिक्त वे कवि कर्म मे बुद्धि का स्थान अत्यन्त गौण समझते है। बाह्य स्वरूप के निर्माण में ही वे इसकी उपयोगिता स्वीकार करते है। यही कारण है कि उनकी परिभाषा में वुद्धि अथवा विचार तत्त्व का साक्षात् उल्लेख नहीं हुआ है। फिर भी हम यह नही कह सकते कि उन्होने इस तत्त्व की उपेक्षा की है। उनके लक्षण का 'हृदय' शब्द ही इस तत्त्व का उपलक्षक है। वे हृदय की मुक्ति के लिए ज्ञान और भाव का समन्वित व्यापार अपेक्षित मानते है क्योकि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना का व्यापार हो सकता है अर्थात् मानसिक रूप विधान या वाह्य ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा उपस्थित तथ्यो के आधार पर ही हो सकता है। उनका यह सिद्धान्त वाक्य

कि 'ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव प्रसार होता है' इसी बात का प्रमाण है। इस प्रकार शुक्लजी ने सवेगीकृत ज्ञान, बुद्धि जन्य विचार को ही काव्य का तत्त्व प्रतिपादित कर दिया है। उनकी दृष्टि मे मनुष्य को कर्म मे प्रवृत्त करने वाली वृत्ति भावात्मिका है; अतः प्रवृत्ति-निवृत्ति विधायक कवि कर्म में भावों की ही प्रधानता ठहरती है।

भावतत्त्व—भाव तत्त्व मन की सक्रिय अवस्था का द्योतक है। इस स्थिति मे बुद्धि का योग अवश्य रहता है, परन्तु वह अंकुश का काम नही करती, बुद्धि सहयोग देती चलती है, प्रनिवन्धक नही रहती है। काव्य में इस तत्त्वके रूप मे वे भाव आते है जो उसमे वर्णित नाना रूपों और व्यापारों के द्वारा उत्पन्न होते है और जिनको वह हमारे अन्तस्तल मे उत्तेजित करना चाहता है। शुक्लजी के लक्षणो मे स्पष्ट रूप से इस तत्त्व का उल्लेख हुआ है। हृदय की मुक्ति, वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना तथा अर्थ वोध के अतिरिक्त 'भावोन्मेप' शव्द इसी तत्त्व के उपलक्षक है। काव्य मे शुक्लजी भाव तत्त्व की ही प्रधानता स्वीकार करते हैं।

भाव और रस दशा—शुक्लजी के लक्षणो मे प्राचीन भारतीय रसानुभूति का लक्ष्य स्पष्ट झलकता है अर्थात् रस दशा को प्राप्त भाव ही काव्य के प्राण है, सर्वस्व है। इस दशा को समझने के लिए भावों के स्वरूप और भेद का ज्ञान भी आवश्यक है। शुक्लजी ने भी भावो के स्वरूप व भेदों का विश्लेपण अपने निवन्धो मे किया है। उनके गम्भीर अध्ययन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्होने इस सम्वन्ध में पर्याप्त मौलिकता का परिचय दिया है। उन्होने आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञानियों के सिद्धान्तों का तथा प्राचीन साहित्याचार्यो के मन्तव्यों का गम्भीर एवं निरपेक्ष भाव से विश्लेपण करने के उपरान्त अपने मन्तव्य निर्धारित किये है। उनकी प्रवृत्ति तो भारतीय आचार्यों के पक्ष के समर्थन की ओर है, परन्तु उस के लिए अन्धश्रद्धा ही कारण नही है अपितु उनकी मूल भावना के आधार पर स्थापित तर्क ही कारण है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों में से उन्होंने इस प्रसग मे अपनी धारणाओं का आधार विशेषतया 'शैण्ड' नामक मनोवैज्ञा-

निक को वनाया है। दोनो ही पक्षों के मीमासकों के ग्राह्य एवं तर्क सम्मत तथ्यों को यथावत् ग्रहण करने मे उन्होने सकोच नही किया है। इसके साथ ही दोनों पक्षो की न्यूनताओ पर भी अपनी आलोचना प्रस्तुत करने मे भी वे निस्संकोच प्रवृत्त हुए है।

भाव का लक्षण व स्वरूप:——भाव के सम्बन्ध मे शुक्लजी की धारणा यह है कि वह एक मन की वेगयुक्त अवस्था है। वह क्षुत्पिपासा, काम वेग आदि शरीर वेगो से भिन्न है। उनके इस भाव के दो लक्षण हमे मिलते है। 'भाव या मनोविकार' शीर्षक निबन्ध मे उन्होने भाव का लक्षण उस रूप में किया है——

"नाना विपयो के वोध का विधान होने पर ही उनसे सम्वन्ध रखने वाली इच्छा की अनेक रूपता के अनुसार अनुभूति के वे भिन्न-भिन्न योग से सघटित होते है जो भाव या मनोविकार कहलाते है।"

दूसरा लक्षण 'रस मीमांसा' नामक सग्रह ग्रन्थ के 'भाव' शीर्षक प्रसंग में मिलता है——

"प्रत्यय वाध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनो के गूढ सश्लेष का नाम भाव है।"

सामान्यत. उक्त दोनों लक्षणों मे कोई भेद लक्षित नही होता है। भाव के मूल स्वरूप को ही दोनों मे प्रकारान्तर से स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। प्रथम लक्षण मे 'नाना विषयों के वोध का विधान' और दूसरे लक्षण में 'प्रत्यय बोध' एक ही तथ्य के सूचक शब्द समूह है। इसी प्रकार दोनो ही लक्षणों मे 'अनुभूति' को भी ग्रहण किया गया है। पहले लक्षण का 'योग' शब्द और दूसरे का 'संश्लेष' शब्द एक ही वात को सकेतित करता है। हाँ, पहले लक्षण में 'इच्छा' का दूसरे में 'वेग युक्त प्रवृत्ति' का ग्रहण दोनों लक्षणो में सामान्य अन्तर अवश्य प्रस्तुत करता है, परन्तु मूल स्वरूप में कोई अन्तर नही डालता है। सक्षेप में यही कहा जा सकता है कि शुक्ल जी उस विशेष रूप के चित्त-विकार को भाव कहते है जिसके अन्तर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दु:खात्मक अनुभूति का वोध और प्रवृत्ति

के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर सम्बद्ध संघटित हो। इससे यह स्पष्ट है कि मन के प्रत्येक वेग को तब तक 'भाव' नहीं कहा जा सकता है जब तक उसमें चेतना के भीतर आलम्बन आदि प्रत्यय रूप से प्रतिष्ठित न हो। इसके अतिरिक्त भाव एक मानसिक-शारीरिक विधान या व्यवस्था है। इस विधान के भीतर जिस प्रकार निजी प्रवृत्तियाँ तथा लक्ष्य या विषय विद्यमान है उसी प्रकार वे मनोवेग भी संश्लिष्ट है जिन्हें आलम्बन प्रधान न होने के कारण 'भाव' संज्ञा नहीं दी जा सकती है। जैसे चकपकाहट, घबराहट, सोने या टहलने को जी करना इत्यादि। इच्छा भी इसी प्रकार का एक मनो वेग है, परन्तु वह भाव तक पहुँचा हुआ स्वतन्त्र विधान नहीं है। इसका अपना कोई लक्ष्य नहीं होता, दूसरे भावों के लक्ष्य को लेकर ही इच्छामनोवेग चलता है।

मानव-मन में यह 'भाव-विधान' क्रमिक विकास की प्रक्रिया द्वारा हुआ है। शुक्लजी का कथन है कि सुख-दुःख की इन्द्रियज वेदना के अनुसार पहले-पहल राग और द्वेष आदिम प्राणियों मे प्रकट हुए। जिनसे दीर्घ परम्परा के अभ्यास द्वारा आगे चलकर वासनाओ और प्रवृत्तियो का सूत्रपात हुआ। रति, शोक, क्रोध, भय आदि पहले वासना के रूप में पीछे भाव रूप में आए। उनका विश्वास है कि जात्यन्तर परिणाम द्वारा समुन्नत योनियों का विकास मनोविज्ञान मय कोष का पूर्ण विधान हो जाने पर विविध वासनाओं की नीव पर रति, हास, शोक, क्रोध आदि भावों की प्रतिष्ठा हुई है। इस प्रकार पहले इन्द्रियज सवेदन और फिर वासना और अन्त में भाव-विधान होगा। भाव का विश्लेषण करने पर उसके भीतर तीन अंग पाए जाते है—

१. वह अंग जो प्रवृत्ति या सस्कार के रूप में अन्तस्संज्ञा में रहता है। (वासना)

२. वह अंग जो विषय-बिम्ब के रूप में चेतना मे रहता है और भाव का प्रकृत स्वरूप है। (भाव, आलम्बन आदि की भावना)

३. वह अंग जो आकृति या आचरण में अभिव्यक्ति होता है। (अनु-भाव और नाना प्रयत्न)

यह स्पष्ट है कि वासना और भाव में अन्तर होता है। शुक्लजी कहते है कि इन्द्रियज संवेदन वेदना-प्रधान होता है, वासना प्रवृत्ति-प्रधान होती है और भाव वेद्य-प्रधान अर्थात् आलम्बन प्रधान होता है। इसके विपरीत वासनात्मक प्रवृत्ति में लक्ष्य और आलम्बन भावना रूप मे निर्दिष्ट नहीं होते। वासना और भाव में यह भी अन्तर होता है कि वासना प्राणी में बराबर निहित रहती है, परन्तु भाव का विधान केवल प्रतीतिकाल अर्थात् उद्दीपन और क्रिया के समय होता है उसके उपरान्त नही रह पाता। इन दोनों मे दो बातों का और भेद है—पहली बात यह है कि वासना की प्रेरणा से जो क्रिया होती है, उसका रूप निर्दिष्ट होता है अर्थात् वह सदा एक ही रूप की होती है, इसके विपरीत भाव के अनुसार जो क्रिया होती है वह बहुरूपिणी होती है, दूसरी यह बात है कि वासनात्मक प्रवृत्ति का जीवन प्रयत्न से सीधा लगाव होता है पर भाव के अन्यान्य लक्ष्य हुआ करते है।

भाव के भेद—शुक्ल जी ने आधुनिक मनोविज्ञानियों तथा प्राचीन साहित्याचार्यो के द्वारा प्रतिपादित भेदो तथा वर्गो की सूक्ष्म विवेचना करने के उपरान्त दोनों पक्षों की न्यूनताओं पर प्रकाश डालने का यत्न किया है और अन्त में भावों की तीन दशाओं की स्थापना करके अपनी मौलिक एवं स्वतन्त्र उद्भावना की है। उनके इस विवेचन को स्पष्ट करने के लिए दोनों पक्षों मे स्वीकृत भेदों तथा वर्गो का सक्षिप्त एवं सामान्य परिचय यहाँ प्रस्तुत करना आवश्यक है।

आधुनिक मनोविज्ञानियों के पक्ष को स्थापित करते समय शुक्लजी ने विशेपतया शैण्ड का उल्लेख किया है। शैण्ड के मतानुसार भाव के दो भेद है—मूल और तद्भव। जिस भाव की अनुभूति किसी दूसरे भाव की पूर्वानुभूति की आश्रिता न हो वह मूलभाव है। जैसे, क्रोध, भय, हर्ष, शोक, आश्चर्य। दूसरी ओर तद्भव भाव वह है जो दूसरे भाव की अनुभूति के आश्रय से उत्पन्न हो। जैसे दया, कृतज्ञता, पश्चात्ताप आदि। इसी प्रकार शैण्ड ने प्रत्येक भाव को एक प्रकार का व्यवस्था-चक्र प्रतिपादित किया है अर्थात् भाव-विधान एक शासन व्यवस्था के रूप में है, जिसके अनुसार विशेष-विशेष

वेग और प्रवृत्तियाँ विशेष-विशेष भावो के शासन के भीतर रहती है। इसके अतिरिक्त वे भावो का भाव कोश के भीतर न्यास भी स्वीकार करते है। अभिप्राय यह है कि किसी एक ही अवसर पर वासना-भाव-अनुभाव से युक्त जो चित्त-विकार उपस्थित होगा वह तो भाव कहलाएगा, परन्तु जब चित्त मे एक ऐसी स्थिर प्रणाली की प्रतिष्ठा हो जाए कि उसके कारण या उसके भीतर समय-समय पर कई भावों की अभिव्यक्ति होने लगे तो यह भाव का भाव-कोश मे न्यास माना जाएगा। इस स्थिर प्रणाली का नाम 'भाव' न होकर भाव कोश होगा। जैसे प्रीति (रति) और वैर भाव नही है भाव कोश मात्र है अर्थात् रति कोई एक भाव नही जिसकी कोई विशेष अनुभूति किसी एक अवसर पर होती हो। इसी प्रकार वैर, गर्व, अभिमान, तृष्णा, इन्द्रिय लोलुपता इत्यादि भाव कोश ही माने गए है।

इस सम्बन्ध मे यह समझ लेना आवश्यक होगा कि भावकोश का अभिप्राय भाव समष्टि नही है, बल्कि अन्त.करण में सघटित एक प्रणाली मात्र है जिसमें कई भिन्न-भिन्न भावो का संचार हुआ करता है। भाव में संकल्प वेगयुक्त होते है पर भावकोश मे धीर और संयत, क्योंकि इसमें लक्ष्य-साधन के लिए बुद्धि या विवेक से काम लेने का अधिक अवकाश प्राप्त रहता है। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि भावकोश का विधान भाव विधान से उच्चतर है, अतएव उसका विकास भाव-विधान के अनन्तर हुआ है।

दूसरी ओर भारतीय साहित्याचार्यो ने भावो के भेद तथा वर्गीकरण पर विशेष बल दिया है। उन्होने भावो के दो भेद स्थायी और संचारी के नाम से किये है। भारतीय आचार्यो ने सामान्यतः उस भाव को स्थायी भाव कहा है जिसको अविरुद्ध या विरुद्ध अर्थात् सजातीय या विजातीय भाव दबाने मे असमर्थ रहते है और जो आस्वाद रूपी अंकुर का मूल है। इसके विपरीत जो स्थायी भावो के साथ बीच-बीच में विशेष परिस्थिति के कारण आश्रय के मन मे उठते रहते है और क्षण-क्षण मे विलीन होते रहते है उन्हे संचारी भाव माना गया है। इन दोनो प्रकार के भावों का

वर्गीकरण करते हुए उन्होने ६ स्थायी भाव तथा ३३ सचारी भाव स्वीकार किये है। रति, शोक, क्रोध, उत्साह, विस्मय, हास, भय, घृणा, निर्वेद ये स्थायी भाव है और निर्वेद, ग्लानि, मद, मोह, विषाद, शंका, आलस्य, धैर्य, मति, उत्सुकता, असूया, उन्माद, स्वप्न, श्रम, त्रास, विबोध, निद्रा, आवेग, दैन्य, अवहित्थ, वितर्क, व्रीड़ा, चापल्य, गर्व, जडता, स्मृति, व्याधि, हर्ष, चिन्ता, मृति, अपस्मृति तथा अमर्ष ये तेतीस सचारी भाव है। इन दोनो प्रकार के भावो के अनुभावो का भी भारतीय आचार्यो ने विशद वर्णन किया है। ये अनुभाव कायिक, सात्त्विक भेद से मुख्यतः दो प्रकार के है। सात्त्विक अनुभाव अयत्नज है और स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय नाम से आठ प्रकार के है। कायिक अनुभावों मे शरीर की अनेक यत्नज चेष्टाएँ परिगणित की जाती है।

भाव दशाएँ—शुक्लजी ने उक्त दोनो पक्षो का गम्भीर विश्लेपण किया है। निस्सन्देह उनके विश्लेषण का आधार मनोवैज्ञानिक है, परन्तु अधिक-तर उनका भाव सम्बन्धी विवेचन साहित्यिक दृष्टि से ही सम्पन्न हुआ है। इस दृष्टि मे उन्होंने प्राचीन भारतीय आचार्यो का मार्ग अपनाया है। उन्होने स्थान-स्थान पर यह बात स्पप्ट की है कि साहित्यिकों का सारा भाव-निरूपण रस की दृष्टि से ही हुआ है। साहित्यिकों ने भाव-भेदो का वर्गो का निर्धारण करते समय इसी बात पर मूलतः ध्यान रखा है कि किस भाव की व्यजना श्रोता-पाठक या दर्शक में भी उसी भाव की प्रतीति करवा सकती है। शुक्लजी का विवेचन भी पर्याप्त अंश मे इसी रस दृष्टि का अनुसरण करना प्रतीत होता है। उक्त दोनों पक्षो के विश्लेषण के उपरान्त उन्हे दोनो ही पक्षों में यह त्रुटि दृष्टिगोचर हुई कि दोनों ही पक्ष के मीमांसकों ने भावों की दशाओं पर समुचित ध्यान नही दिया है, अतः सर्व-प्रथम उन्होने अपनी मौलिक उद्भावना के रूप में भावों की तीन दशाएँ स्वीकार की है और फिर इसी आधार पर भावों के भेदों तथा वर्गो की समीक्षा की है। वे कहते है कि जिन्हे साहित्य मे भाव कहते है उनकी तीन दशाएँ मिलती है—भाव दशा, स्थायी दशा और शील दशा।

भाव दशा—जब किसी एक अवसर पर एक ही आलम्बन के प्रति एक विशिष्ट अनुभूति तथा वेगयुक्त प्रवृत्ति होगी तब वह भाव दशा कहलाएगी।

स्थायी दशा—प्रत्येक भाव स्थायी दशा को भी प्राप्त हो सकता है। स्थायित्व के दो चिह्न माने जा सकते है। किसी एक भाव का एक ही अवसर पर इस आधिपत्य के साथ बना रहना कि उसके उपस्थिति-काल मे अन्य भाव अथवा मनोवेग उसके शासन के भीतर प्रकट हो और वह ज्यो का त्यो बना रहे। यह स्थायित्व का प्रथम लक्षण है। दूसरा लक्षण यह है कि कोई मानसिक स्थिति इतने दिनो तक बनी रहे कि उसके कारण भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न भाव प्रकट होते रहे। स्थायी दशा मे बुद्धि की सहायता का अवकाश भाव की प्रतीतिकाल की अपेक्षा अधिक रहता है। इस सम्बन्ध मे यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि सब भावो की स्थायी दशा समान रूप से परिस्फुट नही होती। स्थायी दशा को प्राप्त होने पर भी भाव का मूल स्वरूप भी बीच-बीच मे अवसर या उत्तेजन पाकर उदित हुआ करता है। इस स्थिति काल को भाव दशा ही कहा जाएगा।

शील दशा—जब कोई भाव प्रकृतिस्थ हो जाता है अर्थात् जब वह एक ही आलम्बन से बद्ध नही रहता अपितु समय-समय पर भिन्न-भिन्न आलम्बन ग्रहण करता है तब भाव के इस प्रकार प्रकृतिस्थ हो जाने की अवस्था को शील दशा कहा जाएगा।

शुक्लजी कहते है कि शैण्ड आदि मनोविज्ञानियों ने इस बात पर ध्यान नही दिया कि प्रत्येक भाव उस स्थायी अन्तर्हित दशा को प्राप्त हो सकता है जिसे 'भाव कोश' या स्थायी कहते है। जैसे क्रोध की स्थायी दशा वैर है जिसमे जैसे और अनेक भावो की अभिव्यक्ति होती है वैसे ही क्रोध की भी हो जाया करती है अतः क्रोध वास्तव मे स्थायी भाव नही है, वैर स्थायी या भाव कोश है। शैण्ड ने भी भावकोश की चर्चा की है, परन्तु उसने भाव का भावकोश में न्यस्त होना प्रतिपादित किया है। इस स्थायित्व की ओर ध्यान देकर पृथक् नामकरण नही किया है। इसके अतिरिक्त उन्होने भावों की स्थायी दशा और शील दशा के अन्तर पर भी ध्यान नही दिया है और दोनों

प्रकार की मानसिक दशाओं को एक ही मे गिन दिया है। इसी प्रकार भारतीय साहित्याचार्यों ने भी प्रत्येक भाव की इस स्थायी दशा का स्पष्टतः नामकरण नही किया है और शील दशा का भी पृथक् निरूपण नहीं किया है।

साहित्याचार्यों द्वारा प्रतिपादित नौ स्थायी भावों मे से हास, उत्साह और निर्वेद को छोडकर शेष सब भाव आधुनिक मनोविज्ञानियो ने भी मूल भाव रूप से स्वीकार किये है। शुक्लजी ने भी निर्वेद को अभाव रूप कहा है और उस पर स्थायी भाव के रूप मे विचार नही किया है। उनके कहने के अनुसार शेष आठ भावो पर भी प्राचीन शास्त्रीय लक्षण केवल 'रति' को छोडकर क्रोध आदि अन्य भावो पर नही घटता। आचार्यो ने इन्हें स्थायी भाव केवल इसी आधार पर कहा है, क्योंकि यह भाव एक अवसर पर इस आधिपत्य के साथ बने रहते है कि उनके उपस्थिति काल में अन्य भाव अथवा मनोवेग उनके शासन के भीतर प्रकट होते है और वे ज्यो के त्यों बने रहते हैं। स्थायित्व का दूसरा चिह्न कि भाव कोश के रूप मे विद्यमान भाव के कारण भिन्न-भिन्न अवसरो पर भिन्न-भिन्न भाव प्रकट होते रहें, रति को छोड़कर आचार्यो के अन्य स्थायी भावो मे परिलक्षित नही होता है। शुक्लजी की दृष्टि में रति भाव ही ऐसा है जो आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से तथा प्राचीन साहित्याचार्यों की दृष्टि से स्थायी कहला सकता है। इस रति के सम्बन्ध में भी उनकी धारणा यह है कि स्थायी भाव के रूप मे जिस 'रति' का उल्लेख किया गया है वह वास्तव मे कोई एक भाव नही जिसकी कोई विशेष अनुभूति किसी एक अवसर पर होती हो। यह तो एक प्रकार से भावकोश है, किसी मूल भाव की स्थायी दशा है जिसका अधिक परिस्फुट रूप में होने के कारण पृथक् नामकरण कर दिया गया है। उन्होंने 'रति' भाव कोश का मूल संस्थापक भाव 'राग' या 'लोभ' स्वीकार किया है। इस प्रकार उन्होने स्थायी दशा के रूप में आचार्यो द्वारा प्रतिपादित स्थायी भावों में से केवल रति को ही स्वीकार किया है। शेष सात स्थायी भावों को मूलभावों के रूप मे स्वीकार करके उनकी स्थायी दशाओ

को पृथक् निर्दिष्ट कर दिया है। उनकी धारणा के अनुसार प्रत्येक भाव की स्थायी दशा नीचे लिखी जाती है—

भाव	स्थायी दशा	भाव	स्थायी दशा
राग	रति	क्रोध	वैर
हास	×	भय	आशका
आश्चर्य	×	जुगुप्सा	विरति
शोक	सताप		

सब भावो की स्थायीदशा इतनी स्फुट नही होती कि उसके अस्तित्व की ओर ध्यान स्वत चला जाए। जिस प्रकार रति, वैर और विरति नाम की स्थायी दशाएँ परिस्फुट है और अपने मूल भावो से कुछ विशिष्ट प्रतीत होती है उसी प्रकार शेष चार नही है, अतएव मनोविज्ञानियों तथा आचार्यो द्वारा इनके नाम निर्दिष्ट नही हुए है। शोक और भय की स्थायी दशाओं का सकेत 'सताप' तथा 'आशका' के नाम से शुक्लजी ने कर दिया है परन्तु हास और आश्चर्य को 'अनभिधेय' कहकर अनिर्दिष्ट ही रहने दिया है।

'उत्साह' के सम्बन्ध मे शुक्लजी की धारणा है कि उसकी अन्य भावों के समान किसी एक आलम्बन के प्रति स्थायी दशा नही हो सकती। क्योंकि किसी कर्म के सम्पादन मे आनन्दपूर्ण उमग का नाम उत्साह होता है अतः किसी एक कर्म की विद्यमानता एक अवसर के आगे नही हो सकती। उत्साह के एक अवसर के उपरान्त दूसरे अवसर पर कर्म भी दूसरा हो जाएगा। इसीलिए उत्साह की, अनेकावसर व्यापी स्थायित्व होने पर, शील दशा तो हो सकेगी, स्थायी दशा नही। उत्साह मे आलम्बन और लक्ष्य स्थिर और परिस्फुट नही होते इसीसे मनोविज्ञानियों ने इसे प्रधान भावों की गिनती में नही रखा है। शुक्लजी ने इसे प्रधान भावो मे तो स्थान दिया है परन्तु साहित्याचार्यो के अनुसार प्रतिमल्ल, दानपात्र और दयापात्र को उत्साह का आलम्बन नही माना है। उनकी धारणा है कि उत्साह का सीधा लगाव किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ नही होता, अतएव उत्साह के प्रति आलम्बन हो सकते है तो युद्ध, दान तथा दया के कर्म ही हो सकते है। इस सम्बन्ध

मे शुक्लजी की उक्ति विशेष उल्लेखनीय है—

"भाव आलम्बन प्रधान होता है, इसके अतिरिक्त प्रत्येक भाव एक ही आलम्बन के प्रति स्थायी दशा को प्राप्त हो सकता है जबकि ये बाते उत्साह में नही घटती तो वह मन का वेग मात्र है। फिर भी आचार्यो ने उसे प्रधान भावों की श्रेणी मे केवल इसीलिए रखा है, क्योंकि आश्रय या पात्र मे उसकी व्यजना द्वारा श्रोता या दर्शक को ऐसा विविक्त रसानुभव होता है जो और रसों के समकक्ष है।"

शुक्लजी ने आठों प्रधान भावो की शील दशाओं के नामों का स्पष्ट रूप मे निर्देशन किया है। प्रत्येक भाव की शील दशा निम्नलिखित रूप से निर्दिष्ट की गई है—

भाव	शील दशा	भाव	शील दशा
राग	स्नेहशीलता, रसिकता, लोभ, तृष्णा, लंपटता	शोक	खिन्नता
		क्रोध	क्रोधशीलता, उग्रता, चिड़चिड़ापन
हास	हँसोड़पन, विनोदशीलता	भय	भीरुता
उत्साह	वीरता, तत्परता	जुगुप्सा	तुनुकमिजाजी
आश्चर्य	भौचक्कापन		

शुक्लजी शील दशाओं के समूह को बहुत बड़ा मानते है। उनकी धारणा है कि आलम्बन प्रधान मुख्य भावो से ही शील दशा की प्रतिष्ठा नही होती भाव दशा तक न पहुँचने वाले मन के वेगो और प्रवृत्तियो के चिराभ्यास से भी भिन्न-भिन्न शील दशाएँ मनुष्य की प्रकृति में प्रतिष्ठित होती है जैसे आलस्य से आलसपन, लज्जा से लज्जाशीलता अवहित्था से दुराव का स्वभाव, असूया से ईर्ष्यालु प्रकृति इत्यादि।

भावों का वर्गीकरण—भाव मे अनुभूति मिली रहती है। यह अनुभूति दो प्रकार की होती है—सुखात्मक और दुःखात्मक। इसी अनुभूति के आधार पर उन्होने भावों के दो वर्ग किये है।—प्रेम, उत्साह, श्रद्धा, भक्ति औत्सुक्य, गर्व आदि सुखात्मक भाव है। शोक, क्रोध, भय, घृणा, लज्जा,

उग्रता, अमर्ष, असूया, विवाद इत्यादि दुःखात्मक भाव है। शुक्लजी ने 'आश्चर्य को सुख-दुःख दोनों से उदासीन नही माना है अपितु उसे सुखात्मक ही स्वीकार किया है। भारतीय आचार्यो ने भी हर्ष को अद्भुत रस का सचारी भाव माना है और आधुनिक मनोविज्ञानी शैण्ड भी यही बात मानता है। शैण्ड का कथन है कि आश्चर्य मे अद्भुत वस्तु पर ध्यान लगता है, वह उदासीन नही होता।

उक्त वर्गीकरण को प्रमुखता देते हुए शुक्लजी ने भारतीय आचार्यो के द्वारा प्रतियादित स्थायी-सचारी-व्यवस्था की समीक्षा की है। आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने क्रोध, भय, आनन्द और शोक को मूल भाव कहा है। इनमे से साहित्य के स्थायी भावो की गिनती मे आनन्द को छोड़ सब आ गए है। शुक्लजी ने आनन्द के न रखे जाने का कारण स्पष्ट करते हुए लिखा है, क्योकि साहित्यिको का सारा भाव निरूपण रस-विधान की दृष्टि से हुआ है, अतएव आनन्द को रस के प्रधान प्रवर्त्तक भावों मे स्थान नही दिया जा सकता है। किसी के शोक मे योग देने के लिए मनुष्य मात्र का हृदय प्रकृति द्वारा विवश है परन्तु आनन्द मे यह बात नही है। इसी प्रकार ईर्ष्या मनो विज्ञान की दृष्टि से विषयोन्मुख होने के कारण भाव (स्थायी) कोटि मे गिना जा सकता है, परन्तु आचार्यो ने इसे भी स्थायी नही माना है। आचार्यो ने उन्ही भावो को स्थायी भाव के रूप मे गिना है जो व्यजित होकर रस रूप हो सकते है अर्थात् सर्वजन-सवेद्य हो सकते है। शुक्लजी कहते है कि भावों के स्वरूप के भीतर वह वस्तु है जिसके अनुसार प्रधान और सचारी का विभाग हो जाता है। वह वस्तु है—आलम्बन। प्रधान भावों की गिनती मे वे ही भाव रखे गए है जिनके आलम्बन 'सामान्य' हो सकते है। शेष भाव या मनोवेग संचारियों की श्रेणी मे डाले गए है, क्योंकि उनमे से किसी-किसी के ही स्वतन्त्र विषय होगे तो भी श्रोता या दर्शक का ध्यान उनकी ओर प्रवृत्त नहीं होगा। प्रधान या स्थायी रूप से परिगणित भाव ही ऐसी दशा को पहुँचते है जिसमें श्रोता या दर्शक भी आश्रय (पात्र) मे उनकी विशद व्यंजना देख उनका अनुभव हृदय में करने लगते है और तदनुरूप

अनुभाव प्रकट करने लगते है।

इसके अतिरिक्त शुक्लजी ने भारतीय स्थायी-संचारी व्यवस्था के रहस्य को भी स्पष्ट करने का यत्न किया है। मनोविज्ञानी भी एक भाव के साथ अन्य भावों का सम्बन्ध स्वीकार करते है। यह कहा जा चुका है कि शैण्ड प्रत्येक भाव को एक प्रकार का व्यवस्था-चक्र मानते है, क्योंकि उसके साथ शेष भावों का सम्बन्ध अव्यक्त रूप से लगा होता है। भारतीय स्थायी-सचारी व्यवस्था इस तथ्य का विरोध नही करती । वह भी एक प्रकार की सम्बन्ध-व्यवस्था ही है। दोनो मे अन्तर यह है कि मनोवैज्ञानिकों की सम्बन्ध-व्यवस्था के अनुसार मूल भाव स्वप्रवर्तित अन्य भाव के प्रतीति काल में अपना स्वरूप विसर्जित कर देता है, परन्तु साहित्यिको की व्यवस्था के अनुसार मूल प्रवर्त्तक भाव का आभास प्रवर्तित भाव की प्रतीति काल मे भी बना रहता है। जैसे रति के जो सचारी कहे गए है उनके प्रतीति काल में रति का आभास बना रहेगा । शुक्लजी इसीलिए इस व्यवस्था को अधिकार-व्यवस्था कहते है। यह स्पष्ट है कि वे भी मनोवैज्ञानिको के अनुरूप सचारी भावों को सम्बद्ध भाव के रूप में ही देखते हैं।

भारतीय आचार्यों ने सचारियों का गौण तथा स्थायी भावो को प्रधान भाव के रूप मे परिगणित किया है। किसी भाव को प्रधानता तभी मिल सकती है जब उसका आलम्बन पृथक् हो, परन्तु ऐसा भी प्राय: होता है कि किसी प्रधान भाव से सम्बद्ध गौण भाव का विषय प्रधान भाव के आलम्बन से भिन्न होता है। उस अवस्था मे यदि आश्रय का ध्यान मुख्यतः प्रधान भाव के आलम्बन की ओर रहता है तो वह सम्बद्ध भाव साहित्यिक परिभाषा में संचारी कहलाएगा और उसका विषय आलम्बन नही कहला सकता है। इस प्रकार प्रधान भाव का आलम्बन स्थिर रहता है। सम्बद्धभावों का विषय स्थिरता से सम्मुख नही रहता है। अतएव वे गौण कहलाते है। भारतीय आचार्यों ने उन भावों को प्रधानता देकर स्थायी भावों मे परिगणित कर दिया है जिन भावों का आलम्वन इस प्रकार अविचल रह सकता है। इन स्थायी भावों से सम्बद्ध होकर आने वाले भावों को संचारी भाव कह

दिया गया है, क्योंकि उनके आधिपत्य मे इनकी प्रतीति होने के कारण उनके आलम्बन पृथक् अस्तित्व या स्थायित्व प्राप्त नही कर पाते। ये तो अपने प्रवर्त्तक भाव को पुष्ट करने वाले होते है और अपने प्रतीतिकाल मे भी अपने जनक भाव के आलम्वन से आश्रय का ध्यान नही हटाते। सारांश यह है कि शुक्लजी का मन्तव्य यही है कि किसी भाव को पुष्ट करने वाला मनोविकार ही सचारी हो सकता है और पुष्ट करने वाला मनोविकार वही होगा जो भाव के लक्ष्य और प्रवृत्ति से हटाने वाला न होगा। किसी मनोविकार को सचारी भाव मानने से पूर्व तीन बातों का ध्यान रखना अपेक्षित होता है—

१. उसका विषय वही हो जो प्रधान भाव का आलम्वन है और उसकी कोई अपनी गति या प्रवृत्ति न हो।

२. जब प्रधान भाव के आलम्वन से उसका विषय भिन्न हो तो उसकी अपनी गति या प्रवृत्ति न हो और वह स्वय ऐसा हो कि प्रधान भाव के साथ उसका कोई रूपान्तर लगा रहता हो।

३. जव उसकी गति या प्रवृत्ति वही हो जो प्रधान भाव की है।

इसी आधार पर शुक्लजी कहते है कि स्थायी भावों मे परिगणित एक भाव भी दूसरे प्रधान भाव का सचारी होकर आ सकता है। जैसे रति और उत्साह मे हास, युद्धोत्साह मे क्रोध। इसी प्रकार हास और आश्चर्य अपनी स्वतन्त्र गति या प्रवृत्ति न होने के कारण शृगार के संचारी होकर आ सकते है।

स्थायी और संचारी का एक गौण अर्थ भी लिया जा सकता है। किसी काव्य या नाटक मे आदि से अन्त तक जो भाव विद्यमान रहे, बीच-बीच में अन्य भावों के व्यंजित होते रहने पर वह निरन्तर अव्यवहित रूप से झलकता रहे तो उसे स्थायी भाव कहा जा सकता है। इसी प्रकार जिन भावों की व्यजना बीच-बीच मे क्षणिक रूप से होती रहेगी और उनसे प्रधान भाव के प्रसार में कोई वाधा उपस्थित नही होगी वे संचारी कहला सकेंगे। स्थायी-सचारी की यह व्याख्या गौण ही मानी जाएगी।

संचारियों के भेद तथा वर्गीकरण—शुक्लजी ने सचारियों के भेद तथा वर्गीकरण पर भी अपनी धारणाओ को स्पष्ट किया है। भारतीय आचार्यो ने तेतीस सचारी माने है। वे इनको उपलक्षण मात्र मानते है। वे कहते है कि सचारी और भी हो सकते है। उन्होने उन्तालीससचारी परिगणित किये हैं। इन उन्तालीस सचारियों के उन्होने विरोध-अविरोध के विचार से चार भेद—सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक और उदासीन प्रतिपादित किये हैं। सुखात्मक भावों के साथ दु खात्मक संचारी, दु खात्मक भावों के साथ सुखात्मक संचारी विरोध सचारी कहलाएँगे इसी प्रकार सुखात्मक भावो के साथ सुखात्मक और दु.खात्मक भावो के साथ दुःखात्मक सचारी अविरोधी होगे। सुखात्मक और दुःखात्मक दोनो प्रकार के भावों के साथ आने वाले संचारी उभयात्मक और तटस्थता एवं निरपेक्षता मे आने वाले सचारी उदासीन माने जाएँगे।

भावों का परस्पर यह विरोध आश्रयगत या विषयगत विरोध नही है अपितु जातिगत विरोध ही है, क्योकि आश्रयगत या विषयगत विरोध होने पर कोई भाव सचारी वन ही नही सकता है। जैसे क्रोध के आलम्बन के प्रति वीच-वीच मे त्रास या दया का प्रकाशन नहीं हो सकता है। सुखात्मक भाव के साथ विजातीय दुःखात्मक भाव तो सचारी रूप में आ सकता है, परन्तु आलम्वलनगत विरोध होने पर—जैसे क्रोध का आलम्वन और दया का आलम्वन परस्पर विरोधी है—संचारी व्यवस्था सिद्ध नही हो सकती।

उन्तालीस संचारियों को निम्नलिखित रूप से चार भेदों मे शुक्लजी ने विभक्त किया है—

सुखात्मक	**दुःखत्मक**	**उभयात्मक**	**उदासीन**
गर्व, औत्सुक्य,	लज्जा, असूया,	आवेग, स्मृति,	वितर्क, मति, श्रम
हर्ष, आशा, मद,	अमर्ष, अवहित्था,	विस्मृति, दैन्य,	निद्रा, विवोध
सन्तोष, चपलता,	त्रास, विषाद,	जड़ता, स्वप्न,	
मृदुलता, धैर्य	शका, चिन्ता,	निर्वेद	
	नैराश्य, उग्रता,		

मोह, अलसता,
उन्माद, असन्तोष,
ग्लानि, अपस्मार,
मरण, व्याधि

उक्त सूची का यदि प्राचीन तेतीस संचारियो के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो यह पता चलेगा कि इस सूची मे तेतीस पुराने सचारी ग्रहण करके उन्होने छह सचारियों का निर्देशन किया है। आशा, नैराश्य, सन्तोष, असन्तोष, विस्मृति और मृदुलता ये उनके द्वारा प्रतिपादित नए सचारी है। वे कहते है कि इन संचारियों मे स्वतन्त्र विषययुक्त और लक्ष्य युक्त मनोविकार और मन मे क्षणिक वेगो के साथ मानसिक तथा शारीरिक अवस्थाएँ और अन्त करण की अन्यवृत्तियाँ भी सम्मिलित कर ली गई है। इसी धारणा के आधार पर उन्होंने सचारियों के पाँच वर्ग निर्दिष्ट किये है—

'संचारियों का वर्गीकरण'

स्वतन्त्र विषय-युक्त भाव	मन के वेग	अन्य अन्त करण वृत्ति	मानसिक अवस्था	शारीरिक अवस्था
गर्व, लज्जा, असूया	आवेग, अमर्ष, अवहित्था, औत्सुक्य, त्रास, हर्ष, विषाद	शंका, स्मृति, मति, चिन्ता, वितर्क, आशा, नैराश्य, विस्मृति	दैन्य, मद, जड़ता, उग्रता, मोह, स्वप्न, अलसता, उन्माद, सन्तोष, चपलता, निर्वेद, मृदुलता, धैर्य, असन्तोष, ग्लानि	श्रम, अपस्मार, मरण, निद्रा, विबोध, व्याधि

स्वतन्त्र विषययुक्त भाव—गर्व, लज्जा तथा असूया ये स्वतन्त्र विषय वाले मनोविकार है परन्तु इनके विषय आलम्वन नही कहला सकते, क्योंकि

अनुभूति काल में इनके विषयो की ओर उतना ध्यान नही जाता जितना इनके कारणों की ओर रहता है। आश्रय का ध्यान तो विषय पर थोड़ा-बहुत रहता है, परन्तु साहित्य वर्णन मे श्रोता या दर्शक का ध्यान कुछ भी नही रहता। जैसे लज्जा के वर्णन मे उसके कारण बुराई की ओर श्रोता या दर्शक का ध्यान रहेगा उसके विषय रूप व्यक्ति की ओर नही जायेगा जिसे सामने पाकर आश्रय लज्जा की अनुभूति कर रहा है। इसके अतिरिक्त गर्व और लज्जा के कारण विषय मे नही रहते, परन्तु स्वय आश्रय मे रहते हैं। इसी आधार पर मनोविज्ञानियों ने गर्व को ममत्व (Selflove) रूप मे मान कर स्थायी भाव बना दिया है। शुक्लजी की व्यवस्था के अनुसार गर्व शील दशा को ही प्राप्त पाया जाता है।

मन के वेग—संचारियो का दूसरा वर्ग मनोवेगो का है। उसमे आवेग, अमर्ष, अवहित्था, औत्सुक्य, त्रास, हर्ष, विषाद आते है। ये मूल भावो के अवयव मात्र है और आलम्बन-निरपेक्ष है। ये अधिकतर किसी भाव के कारण उत्पन्न होकर उसी के अन्तर्गत उद्भूत और विलीन होते है। शुक्ल जी की धारणा है कि अमर्ष, हर्ष, त्रास और विषाद क्रमशः क्रोध, राग, भय और शोक के वेगरूप अवयव है। साहित्याचार्यो ने इनकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति देखकर इन्हे भी सचारियो मे गिन लिया है। मूल भावो तथा उनके अवयवों के अनुभावो को पृथक् किया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि अवयवो के उदय काल के अनुभाव तो सात्त्विक होंगे और भाव के उदय हो जाने पर अनुभाव कायिक रूप होंगे। सचारी रूप मे इन अवयवों के जो बाह्य चिह्न काव्यशास्त्र मे वर्णित है वे एक प्रचार से क्रोध आदि मूल भावों के ही है।

अन्तः करण वृत्तियाँ—तीसरे वर्ग के स्मृति, चिन्ता, वितर्क, मति आदि सचारी मन के वेग नही है अपितु धारणा-बुद्धि के व्यापार है। शुक्ल जी का सिद्धान्त यह है कि इनका ग्रहण भाव प्रेरित होने की स्थिति मे ही हो सकता है। जब इनका प्रेरक भाव प्रधान रूप से स्फुट होगा तब श्रोता आदि का ध्यान भाव पर रहेगा, बुद्धि के उक्त व्यापारों के विवरणो पर नही।

अन्त करण की ये वृत्तियाँ यदि काव्य मे व्यंजित भाव की सत्ता के भीतर दिखाई पड़ेगी तो ये काव्य के लिए उपयोगी मानी जाएँगी ।

दूसरी बात इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखने के योग्य है कि धारणा बुद्धि के ये व्यापार भाव की स्थायी दशा मे ही होते है; भाव दशा मे अर्थात् स्मृति, चिन्ता, वितर्क मति ये चारो वृत्तियाँ यदि संचारी होकर आएंगी तो क्रोध की भावदशा मे नही अपितु वैर नामक उसकी स्थायी दशा में ही आएँगी। इस वर्ग के संचारियो मे आशा, नैराश्य और विस्मृत ये तीन नए सचारी शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट किये गए है। उनका कथन है कि जब भय-लेश युक्त ऊहा को 'शका' नाम से सचारी माना गया है तो हर्ष-लेश युक्त ऊहा 'आशा' और विषाद-लेश युक्त ऊहा नैराश्य को भी सचारी माना जा सकता है। इसी प्रकार स्मृति के अनुरूप विस्मृति को भी सचारी मानना चाहिए ।

मानसिक अवस्था—सचारियो के चौथे वर्ग मे दैन्य, मद, जड़ता, उग्रता, मोह, स्वप्न, अलसता, उन्माद, सन्तोष, चपलता, निर्वेद, मृदुलता, धैर्य, असन्तोष, ग्लानि ये मानसिक अवस्थाएँ आती है। ये दो प्रकार की होती है—प्रकृतिगत और आगन्तुक। मानसिक अवस्थाओं के मूल मे भाव ही कारण होते है। जब किसी भाव के कारण उत्पन्न होने वाली कोई मानसिक अवस्था आश्रय मे प्रकृतिस्थ हो जाती है तब वह अपने अभिव्यक्ति काल में अपने मूल भाव से स्वतन्त्र परिलक्षित होने लगती है। इस प्रकार की प्रकृतिगत मानसिक अवस्था को संचारी रूप मे ग्रहण नही किया जा सकता है। हाँ, प्रकृतिगत अवस्थाएँ चरित्र-चित्रण की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है और इनको आश्रय मे शील दशा में देखकर श्रोता व दर्शक के अन्तःकरण में प्रवृत्ति और निवृत्ति की उत्तेजना उत्पन्न हो सकती है। अतः आगन्तुक रूप मे ही ये अवस्थाएँ सचारी मानी जाएँगी, क्योकि इसी रूप में उनका किसी भाव के कारण प्रकट होना स्पष्ट रहता है। शुक्लजी कहते है कि भावों के प्रत्यक्ष सम्बन्ध से संचारियों के रूप में इन मानसिक अवस्थाओं की जहाँ अभिव्यक्ति होती है वहां उनमे प्रधान भावों के प्रभाव से बहुत कुछ वेग आ जाता है। जैसे भय के कारण दैन्य प्रबल हो जाएगा। ऐसे स्थल

पर ध्यान प्रधानतः भय की ओर ही रहेगा, दैन्य की ओर नही।

'मद' के सम्बन्ध मे शुक्लजी का ध्यान उसके 'गर्व' के सचारी रूप पर भी गया है। सामान्यत. साहित्य मे 'रति' के सचारी रूप मे ही 'मद' के उदाहरण मिलते है।

मानसिक स्तम्भ को ही 'जड़ता' के नाम से सचारियो में स्थान दिया जा सकता है। शारीरिक स्तम्भ तो सात्विक अनुभाव मात्र है। मानसिक अवस्थाएँ सूच्य होती है अनुभाव सूचक होते है। अत 'जड़ता' से शारीरिक स्तम्भ का अर्थ सचारियों के प्रसग मे नही लिया जा सकता है। शुक्लजी ने 'जड़ता' के हलके रूप 'बुद्धिमान्द्य' की चर्चा की है, परन्तु उसकी शील-दशा को ही काव्य के लिए उपयोगी माना है। उस रूप मे वह 'हास्य' के आलम्बन की रूप योजना मे उपदेय सिद्ध किया जा सकता है।

मानसिक अवस्थाओं मे शुक्लजी ने उग्रता के सादृश्य पर मृदुलता नामक नया संचारी माना है। वे कहते है कि जिस प्रकार 'उग्रता' से क्रोध, भय या विषाद का संचार किया जाता है उसी प्रकार मृदुलता का व्यवहार किया जाता है उसके हृदय मे व्यवहार करने वाले के प्रति श्रद्धा-भक्ति का संचार होता है। उनकी धारणा के अनुसार शृगार और करुणा रसों में मृदुलता संचारी होकर आ सकती है। प्रिय और मधुर वचन इसके अनुभाव हो सकते है।

'स्वप्न' संचारी के सम्बन्ध मे शुक्लजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि रति, क्रोध, भय इत्यादि में केवल उसी को स्वप्न में देखना सचारी होगा जिससे रति या भय हो अथवा जिस पर क्रोध हो अर्थात् स्वप्न का अपना कोई स्वतन्त्र विषय प्रधान भाव के आलम्बन से भिन्न नही हो सकता है।

'अलसता' सचारी का शास्त्रीय लक्षण शुक्लजी की दृष्टि में ठीक नही, क्योंकि सचारी का भाव के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध—सीधा लगाव—अत्यन्त आवश्यक है। शारीरिक या मानसिक क्रिया में तत्पर न होने की प्रवृत्ति की अवस्था का नाम ही अलसता है। इसका मूल कारण शारीरिक या मानसिक श्रम ही हो सकता है। शुक्लजी की धारणा है कि जिस क्रिया या व्यापार

से शारीरिक श्रम हुआ है उसे तो भाव प्रेरित या भाव का अंग माना जा सकता है, परन्तु श्रम को और उससे उत्पन्न होने वाले आलस्य को भाव प्रेरित संचारी नहीं कहा जा सकता है, अतः उनकी दृष्टि में आलस्य को शृंगार, वीर, हास्य का संचारी मानना ठीक नहीं उसे स्वतन्त्र मानना चाहिए।

'ग्लानि' का प्राचीन साहित्यिक लक्षण भी शुक्लजी की दृष्टि में ठीक नहीं है। इसमें परिश्रम, भूख, प्यास आदि से उत्पन्न शारीरिक शैथिल्य को भी 'ग्लानि' का लक्षण कहा गया है। वास्तव में किसी भाव के वेग के कारण जो मानसिक शैथिल्य होता है उसे ही 'ग्लानि' कहना चाहिए। इस-लिए वे दुःख और मनस्ताप से उत्पन्न शिथिलता को ही संचारी स्वीकार करना चाहते हैं। इसी कारण उन्होंने 'ग्लानि' को शारीरिक अवस्था में न रखकर मानसिक अवस्था में रखा है।

इसी प्रकार 'धृति' का लक्षण भी उन्हें अस्पष्ट प्रतीत हुआ है। साहित्य दर्पण के लक्षण के अनुसार सन्तोष या तुष्टि ही का नाम 'धृति' प्रतीत होता है। अतः स्पष्टता के लिए उन्होंने धृति के स्थान पर 'धैर्य' संचारी माना है। हिन्दी के आचार्यों ने भी इसी रूप में 'धृति' को ग्रहण किया है। प्राचीन साहित्य शास्त्रों में नायक के गुणों में 'धैर्य' का जो लक्षण किया गया है शुक्लजी उसी अर्थ को लेकर 'धैर्य' को संचारी मानते हैं। वीर रस में 'धैर्य' संचारी होकर आ सकता है। वे धैर्य के समान 'अधैर्य' को भी संचारी मानने का संकेत करते हैं और समझते हैं कि काव्य में 'अधैर्य' के भी उत्तम उदा-हरण मिल सकते हैं।

'सन्तोष' को पृथक् संचारी माना गया है। इष्ट की प्राप्ति से इष्ट की पूर्ति के अनुभव को 'सन्तोष' माना जा सकता है। शुक्लजी तत्त्व ज्ञान से प्राप्त सन्तोष को संचारी नहीं मानना चाहते हैं। वे सन्तोष के सादृश्य से 'असन्तोष' को भी संचारी मानने के पक्ष में हैं और काव्य से उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं। शृंगार में यह असन्तोष संचारी विशेष रोचक रूप में वर्णित किया जा सकता है।

शारीरिक अवस्था—सचारियो का पाँचवाँ वर्ग श्रम, अपस्मार, मरण, निद्रा, विबोध तथा व्याधि नामक शारीरिक अवस्थाओ का है। शारीरिक अवस्थाएँ प्राकृतिक कारणो से भी उपस्थित हो सकती है। साहित्य मे केवल ऐसी ही शारीरिक अवस्थाओ को संचारी रूप मे ग्रहण किया जा सकता है जो भाव के प्रभाव से उपस्थित हुई हो।

शुक्लजी ने 'श्रम' का अर्थ व्यापाराधिक्य या किसी क्रिया का निरन्तर साधन ही लिया है और इसी अर्थ में श्रम को संचारियो मे गिना है। साहित्य दर्पण के लक्षण के अनुसार 'श्रम' का अर्थ व्यापाराधिक्य या किसी क्रिया के निरन्तर साधन से उत्पन्न अग-ग्लानि या थकावट लिया है। वे सामान्यतः इस प्रकार से उत्पन्न अंग ग्लानि को सचारी नही मानना चाहते। वे तो केवल उसी अग ग्लानि को संचारी कहते है जिसका भाव के साथ सीधा सम्बन्ध हो। कायिक अनुभाव शारीरिक क्रिया या व्यापार के रूप मे ही होते है और ये अनुभाव भी भाव के अंग रूप माने जाते है अतः उनमे उत्पन्न 'अग ग्लानि' को संचारी के अन्तर्गत कहा जा सकता है। जैसे बार-बार के आलिगन मे, अस्त्र-चालन मे उत्पन्न थकावट। इस सम्बन्ध मे विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि भाव की स्थायी दशा मे मार्ग मे चलना आदि जो प्रयत्न किए जाएँगे उनसे उत्पन्न अग ग्लानि संचारी नही होगी। हाँ, इसका स्वतन्त्र वर्णन सौकुमार्य आदि का सूचक होकर रोचक बन सकता है।

'निद्रा', 'विबोध' अधिकतर शरीरधर्म के रूप में ही दिखाई पड़ते है इसी से इन्हे विशेषतया शारीरिक अवस्थाओ में परिगणित किया गया है। यह ध्यान रहे कि निद्रा,विबोध, मरण, व्याधि, अपस्मार तभी सचारी होंगे जब किसी भाव के कारण होंगे अन्यथा नही। सचारियो के सम्बन्ध मे यह बात भी उल्लेखनीय है कि कभी-कभी वे प्रधान होकर भी आते है। यह प्रधानता दो प्रकार की हो सकती है—१. कभी प्रधान भाव के स्फुट न होने से संचारी प्रधान प्रतीत होने लगता है और कभी प्रधान भाव के स्फुट होने पर वह उसके ऊपर प्रधान रूप से प्रतीत होता है। २ कभी नियत प्रधान भाव उसका संचारी बनकर आता है। जैसे क्रोध, 'असूया' का

सचारी होकर आ सकता है, सुगुप्सा 'गर्व' का।

कोई भाव अपनी 'भाव दशा' मे है या स्थायी दशा मे है इसका निर्णय भी सचारियो से हो जाता है। भावदशा मे सुखात्मक भाव का सचारी सुखात्मक और दु खात्मक का दु.खात्मक होगा पर स्थायी दशा मे यह बात नही रहती। स्थायी दशा प्राप्त हो जाने पर मूल भाव को सजातीय या विजातीय अन्य कोई भाव सचारी रूप मे आकर तिरोहित नही कर सकता है।

अनुभाव—शुक्लजी ने भाव का जो लक्षण किया है उसके अनुसार अनुभाव भाव का ही एक अग है। भाव का जो अग आकृति या आचरण मे अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जाता है वह अनुभाव कहलाता है। प्रत्येक भाव की अपनी प्रवृत्ति होती है। अनुभाव द्वारा उसी प्रवृत्ति का पता चलता है। अनुभावो के सम्बन्ध मे यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि 'अनुभाव' भाव के ही हुआ करते है, भाव की स्थायी दशा के नहीं अर्थात् यदि 'अनुभाव' प्रकट होंगे तो किसी भाव या उसके सचारी के प्रतीति काल में ही होंगे।

प्राचीन साहित्याचार्यो की ही भाँति शुक्लजी ने भी कायिक और सात्विक भेद से दो प्रकार के अनुभाव माने है और उनके लिए ऐच्छिक और अनैच्छिक शब्दो का प्रयोग किया है। इसी प्रकार शृगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत रसों के अनुभाव भी सामान्यत: प्राचीन साहित्य ग्रन्थों के आधार पर ही वर्णित किए है।

विभाव—भाव को शुक्लजी आलम्बन प्रधान मानते है। उनके भाव-लक्षण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भाव का एक अग वह है जो विषय-विम्व के रूप मे चेतना मे रहता है और भाव का प्रकृत स्वरूप है। आलम्बन की भावना इसी प्रकृत स्वरूप को प्रतिष्ठित करती है। इसीलिए आलम्बन का काव्यगत वर्णन ही विभाव है। वे कहते है—'भाव से अभिप्राय सवेदना के स्वरूप की व्यंजना से है। विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या

सवेदना होती है ।"

शुक्लजी काव्य मे विभाव को ही प्रमुखता प्रदान करते है और कहते है कि कवि-कर्म-विधान के दो पक्ष होते है—विभाव और भावपक्ष। कवि भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण करके ऐसी वस्तुओ का चित्रण करता है जो मन में कोई भाव उठा दे और उठे हुए भाव को और स्थिर करने में समर्थ हों । इस प्रकार वह अपने कर्म के विभाव पक्ष की प्रतिष्ठा कर लेता है। भाव पक्ष की प्रतिष्ठा के लिए उन वर्णित वस्तुओ के अनुरूप भावो के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। उनकी दृष्टि मे ये दोनो पक्ष अन्योन्याश्रित है। जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप से रहता है।

विभाव पक्ष के अन्तर्गत दो पक्ष होते हैं—१. आलम्बन (भाव का विषय) २. आश्रय (भाव का अनुभव करने वाला) प्रथम पक्ष में चेतन-अचेतन जगत् के सभी पदार्थ आ सकते है अर्थात् मनुष्य से लेकर कीट-पतग, जीव-जन्तु, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि जड़ प्रकृति के पदार्थ आलम्बन रूप से काव्य मे ग्रहण किये जा सकते है, परन्तु दूसरे पक्ष में अर्थात् आश्रय के रूप मे केवल चेतन एव हृदय-सम्पन्न मनुष्य ही आ सकता है। दोनो ही पक्षों का पूर्ण यथातथ्य स्वरूप प्रतिष्ठित करना अर्थात् बिम्बग्रहण कराना कवि का अनिवार्य कर्त्तव्य माना जाता है ।

प्राचीन आचार्यो ने जड़ प्राकृतिक पदार्थो को आलम्बन स्वीकार नही किया है। वे वन-उपवन, ऋतु सौन्दर्य का वर्णन काव्य निर्माण में उपयोगी अवश्य मानते है, परन्तु केवल नायक-नायिकाओं को हँसाने या रुलाने के लिए अर्थात् उनके भावो को उद्दीप्त एवं उत्तेजित करने के लिए ही उनको वे काव्य मे स्थान देना चाहते है। शुक्लजी इस बात से सहमत नहीं है। वे कहते है कि प्राकृतिक पदार्थ केवल उद्दीपन मात्र नही है, वे केवल अग रूप से ही हमारे भावों के आलम्बन नही है। वे स्वतन्त्र रूप से भी हमारे आलम्बन हो सकते है। उनकी धारणा है कि प्राकृतिक दृश्यों व पदार्थो के प्रति

मानव-हृदय मे साहचर्य के प्रभाव मे प्रेम की वासना या संस्कार विद्यमान है। उनके दर्शन मे या काव्य मे उनके प्रदर्शन से मानव की भीतरी प्रकृति का अनुरंजन होता है इसमे कोई सन्देह नहीं है। इस अनुरजन को केवल दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक कहना अपनी जड़ता का ढिढोरा पीटना है। प्राचीन संस्कृत कवियों ने जो संश्लिष्ट चित्रण द्वारा प्राकृतिक पदार्थों का बिम्ब ग्रहण करवाने का यत्न किया है वह केवल उद्दीपन भावना से नही किया है। उनके ये वर्णन आलम्बन की परिस्थिति को अकित करने वाले है। इनके बिना आश्रय और आलम्बन शून्य मे खडे मालूम होते है।

शुक्लजी परिस्थिति को जीवन का आलम्बन कहते है और परम्परा मे वह मानव के भावों का आलम्बन बन जाती है। इसी परिस्थिति में काव्य के पात्रों को देखकर दर्शक व पाठक का अनुरजन होता है। अतः यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक पदार्थ किसी भाव के अंग बन कर भी आ सकते है और स्वतन्त्र रूप मे आलम्बन भी हो सकते हैं। शुक्लजी की धारणा के अनुसार वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रतिभाव के स्वतन्त्र आलम्बन है, उनमें सहृदयो के लिए सहज आकर्षण विद्यमान है। उनमे मानव की अन्तर्वृत्तियाँ तल्लीन होती है। आलम्बन मात्र के विशद वर्णन से श्रोता मे भावानुभूति उत्पन्न की जा सकती है अर्थात् पाठक व श्रोता मे कवि के अन्त.करण में विद्यमान प्रकृति प्रेम को इस वर्णन के द्वारा अपने हृदय में संचरित होता अनुभव कर सकते है; अतएव उन्हे आलम्बन रूप मे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।

विभाव का दूसरा भेद उद्दीपन होता है। शुक्लजी इसके दो भेद मानते है—एक आलम्बनगत और दूसरा आलम्बन बाह्य। आलम्बन की चेष्टाएँ आलम्बनगत उद्दीपन विभाव होगा और आलम्बन की परिस्थितियाँ तथा पार्श्ववर्ती वातावरण आलम्बनबाह्य उद्दीपन कहलाएगा।

भाव का रसवद् ग्रहण—भावो का रसवद् ग्रहण भी हो सकता है अर्थात् भावों की रस दशा भी होती है। लोक हृदय मे किसीके हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है। शुक्लजी हृदय की मुक्तावस्था को

रस दशा कहते है। जब कोई व्यक्ति पृथक् सत्ता को लोक सामान्य सत्ता में विलीन करके, अपने स्वार्थ सम्बन्धो से रहित होकर जगत् के नाना रूपों और व्यापारो को देखता है तब उसका हृदय मुक्त कहलाता है। इसी मुक्तावस्था मे जब वह जगत् और जीवन के उन रूपों-व्यापारों के प्रति किसी भाव की अनुभूति करता है तब वह रस रूप होती है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति हो सकती है। कवि हृदय की इस मुक्तावस्था मे आकर जब अपने काव्य का निर्माण करता है तब काव्य जगत् के अनेक रूप-व्यापार और उनके प्रति काव्य के पात्रो की विभिन्न अनुभूतियो के दर्शन व श्रवण से पाठक, दर्शक व श्रोता का हृदय भी मुक्तावस्था मे पहुँच जाता है। वह भी अपने स्वार्थ सम्बन्धों के सकुचित घेरे मे बाहर निकलकर लोक सामान्य भाव भूमि पर विचरने लगता है। उसके हृदय मे काव्य जगत् की नाना-गातियो व रूपों का साक्षात्कार करके शुद्ध अनुभूति का संचार होने लगता है। उसे अपनी पृथक् सत्ता का भान नहीं होता है। इसे ही शुक्लजी भाव का रसवद् ग्रहण या भाव की रस दशा स्वीकार करते है।

रस—इसके प्राचीन लक्षण का विश्लेषण भी शुक्लजी ने किया है। इस सम्बन्ध मे उन्होने साहित्य-दर्पण के रस-लक्षण को अपना आधार बनाया है। साहित्य-दर्पण मे रस का लक्षण है—"सहृदय पुरुषों के हृदय में वासना रूप से स्थित रति आदि स्थायीभाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होते है।"

उक्त लक्षण की व्याख्या करते हुए शुक्लजी कहते है—"इससे स्पष्ट है कि सहृदय पुरुषों के हृदय मे प्रसुप्त भाव ही रस का रूप धारण करते है। जब वे विभावादि के द्वारा व्यंजित किये जाते है। किसी के हृदय मे भाव का व्यक्त होना वस्तुतः उस भाव की अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए इस बात को हम और स्पष्ट रूप में यों कह सकते है कि विभाव अनुभाव और संचारी भाव के प्रदर्शन द्वारा भाव की अनुभूति श्रोता या दर्शक के हृदय में रस रूप में उत्पन्न होती है।"

शुक्लजी ने प्राचीन आचार्यो के समान रसानुभूति की व्याख्या के लिए

किसी दर्शन शास्त्र को अपने मन्तव्य का आधार नहीं बनाया है। उन्होने दर्शन शास्त्र की किसी जटिल प्रक्रिया को भी अंगीकार नही किया है। वे सीधे शब्दो में विभाव-अनुभाव के संयोग के रस की उत्पत्ति मानते है और दध्यादि न्याय से इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने का यत्न करते है। जैसे दूध और जमावन के मिश्रण से दही उत्पन्न होता है उसी प्रकार विभाव और अनुभाव के संयोग से रस उत्पन्न होता है। रस उनकी दृष्टि मे अनुभूति है अनुभूति का विषय नही।

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र मे वर्णित रस लक्षण मे भी 'सयोग' और 'निष्पति' शब्दो का प्रयोग हुआ है। इन शब्दों के अर्थ को आधार बनाकर भट्ट लोल्लट ने उत्पत्तिवाद, भट्ट शकुक ने अनुमितिवाद, भट्टनायक ने भक्ति-वाद और अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की है। शुक्लजी ने इन आचार्यो में से किसी एक के वाद का अन्धानुसरण नही किया है अपितु स्वतन्त्र रूप से अपने पक्ष की उद्भावना की है। यह स्पष्ट है कि शुक्लजी भी भट्ट लोल्लट के समान रस की उत्पत्ति मानते है। भट्टलोल्लट का कार्य कारण भाव या उत्पाद्य-उत्पादक भाव भी किसी प्रकार दूध-दही के दृष्टांत मे प्रदर्शित किया जा सकता है परन्तु वे रस की स्थिति भट्टलोल्लट के अनुसार अनुकार्य मे न मानकर श्रोता या दर्शक हृदय मे स्वीकार करते है। विभाव-अनुभाव श्रोता के मन में ज्ञान रूप से उपस्थित रहते है। इसी ज्ञान से रस नामक अनुभूति उत्पन्न होती है। भट्टनायक के भक्तिवाद और अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद मे भी रस की स्थिति दर्शक या श्रोता मे ही मानी गई है। इस दृष्टि से शुक्लजी उक्त दोनों आचार्यो के समर्थक कहे जा सकते है फिर भी वे रस की 'भक्ति' या 'अभिव्यक्ति' नहीं कहते 'उत्पत्ति' कहते है। उनके रस-सिद्धान्त मे प्रकारान्तर से भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त की धारणाओं का सम्मिश्रण नवीन रूप धारण करके आया है। भट्टनायक की अभिधावृत्ति का स्पष्टतः उल्लेख उन्होंने नहीं किया है, परन्तु विभाव-अनुभाव के ज्ञान से ही रस की उत्पत्ति मानी है। दूसरी ओर अभिनवगुप्त के समान वासना रूप से श्रोता व दर्शक में भाव की

स्थिति मानते हैं, हृदय में भाव की अभिव्यक्ति से भाव की अनुभूति का ही अर्थ लेते हैं। वे रस-प्रक्रिया मे 'अभिव्यक्ति' शब्द का प्रयोग नही करना चाहते है, क्योंकि अभिव्यक्ति के मूल मे व्यंजना का व्यापार होता है और व्यजना का शाब्दिक अर्थ होता है 'प्रकट करना'। प्रकट वही वस्तु होती है जो प्रकट होने से पूर्व विद्यमान रहती है। अभिव्यक्ति या अनुभूति के पूर्व रस की सत्ता नही होती तो फिर उसकी व्यजना द्वारा अभिव्यक्ति सम्भव नही हो सकती। अतः रस-प्रक्रिया मे 'प्रकट करने' का अर्थ केवल अनुभूति उत्पन्न करना ही माना जा सकता है। वस्तुत. रस उत्पन्न होता है ज्ञात नही करवाया जाता है। प्राचीन उत्पत्तिवाद पर यह आक्षेप किया जाता है कि रस न तो ज्ञाप्य है न कार्य वह तो भोज्य या व्यग्य है। शुक्लजी रस को ज्ञाप्य नही मानते है। इसी कारण वे व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट के इस तर्क को रस प्रक्रिया में ग्रहण नही करते, क्योकि कारण से कार्य का अनुमान होता है इसीलिए विभाव-अनुभाव और संचारी कारणो से रत्यादि का अनुमान होता है जिससे रस की निष्पत्ति होती है। वे रस को अनुमेय नहीं मानते क्योकि केवल भाव की सत्ता के ज्ञान से रस सर्वथा पृथक् है। रस को कार्य मानने मे उन्हे कोई आपत्ति प्रतीत नही होती। वे कहते है कि रस के कार्यत्व के सम्बन्ध में जो आपत्ति उठाई गई है वह आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से ग्राह्य नहीं है। इस आपत्ति का मूल है न्याय दर्शन का यह सिद्धान्त कि युगपत् ज्ञान असम्भव है, अर्थात् कारण और कार्य का साथ-साथ ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि रस को कार्य माने तो विभाव आदि कारणों की प्रतीति के अनन्तर ही रस कार्य की अनुभूति माननी पड़ेगी। रसानुभूति मे ऐसा क्रम तो सलक्षित नही होता है। साहित्याचार्य रस को असलक्ष्य क्रम व्यंग्य मानते हैं। वे आधुनिक विज्ञान के आधार पर इस आपत्ति का निराकरण करते है। आचार्यो का यह आक्षेप इस बात को सूचित करता है कि उन्होंने ज्ञान और अनुभूति के पारस्परिक सम्बन्ध की उपेक्षा की है। ज्ञान, अनुभूति और इच्छा का संश्लेष ही भाव होता है; अतएव ज्ञान और अनुभूति दोनों की युगपत् अनुभूति हो सकती है अर्थात्

यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि विभाव-अनुभाव के प्रदर्शन से ऐसे विभाव-अनुभाव के ज्ञान की उत्पत्ति होती है जिसके साथ विशेष प्रच्छन्न या प्रसुप्त भाव की अनुभूति लगी रहती है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि शुक्लजी रस की उत्पत्ति मानते है और रस की स्थिति दर्शक व पाठक के हृदय मे मानते है, क्योकि वही विभाव और अनुभाव के सयोग की प्रक्रिया निष्पन्न होती है।

साधारणीकरण—काव्यगत पात्रों द्वारा जब विभाव-अनुभावादि की व्यंजना की जाती है तब पाठक व श्रोता अपने हृदय मे काव्य मे वर्णित आश्रय के भाव की अनुभूति करने लगते है। इस सम्बन्ध मे यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि पात्र ऐतिहासिक महापुरुष है और हमारी उसके प्रति अगाध श्रद्धा या भक्ति है तो उसके भावो के प्रदर्शन काल मे हम सर्वत्र समान भाव की अनुभूति नही कर सकते है अर्थात् यदि राम का रतिभाव सीता के प्रति प्रदर्शित किया जा रहा है तो हमारे हृदय मे यह रति भाव कैसे सचरित हो सकता है। इसी तरह की अन्यान्य आपत्तियो को दृष्टि में रखते हुए प्राचीन रस समीक्षक आचार्यो ने 'साधारणीकरण' नामक प्रक्रिया का उल्लेख किया है। उक्त चारों प्राचीन आचार्यो मे से भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ने ही दर्शक व श्रोता मे रस की स्थिति मानी है और 'साधारणीकरण' के प्रश्न पर विशद विवेचना की है।

भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार की कल्पना की है। इस व्यापार के द्वारा पाठक व दर्शक काव्य मे वर्णित आश्रय, आलम्बन आदि को विशिष्ट व्यक्ति के रूप मे देखने के स्थान पर साधारण स्त्री-पुरुष के रूप मे ग्रहण करने लगते है अर्थात् कवि कर्म से काव्य की कथा के व्यक्तियों का ऐतिहासिक तथा व्यक्तिगत स्वरूप ओझल हो जाता है। अब राम और सीता अपने वैयक्तिक रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित नही होते अपितु सामान्य पुरुष या स्त्री रूप में आ विराजते है और इस प्रकार वे हमारे भावों के विषय बनने के योग्य हो जाते है। यह एक प्रकार से विशेष को साधारण समझने की क्रिया होती है अतएव भावकत्व व्यापार को 'साधारणीकरण' का नाम

दिया जाता है। इसके ही कारण अनुकार्य या वर्ण्य पात्र के भाव उनके नही रहते वे तो अब लोकसामान्य के हो जाते है। अभिनवगुप्त ने भावकत्व व्यापार का उक्त स्वरूप ग्रहण नहीं किया है। वे विभाव आदि के दर्शन व पठनकाल मे भी साधारणीकरण के रूप मे विशिष्ट पात्र को साधारण व्यक्ति मानना सम्भव नही समझते है। भट्टनायक के भावकत्व व्यापार मे विशिष्ट व्यक्तियों को साधारण समझने की बात कही गई है और यह माना गया है कि विशेषत्व के परित्याग के परिणाम-स्वरूप दर्शक व पाठक के स्थायी भाव विशिष्ट सम्बन्धो से मुक्त हो जाते है। अभिनवगुप्त साधारणीकरण के विरोधी नही परन्तु वे इस रूप मे पात्र की सामान्यता स्वीकार नही करते। उनकी दृष्टि से विभावादि ममत्व-परत्व के सम्बन्ध से रहित हो जाते है। वह भाव अब व्यक्ति का अपना होने पर भी अपना नही रहता। वह अब सकल सामाजिको के हृदय की अनुभूति का समान रूप से विषय होता है। दूसरे शब्दो में काव्य मे वर्णित वस्तु को देख, पढ या सुनकर एक व्यक्ति के हृदय में जैसी आनन्द की अनुभूति होती है वैसी ही प्रत्येक के हृदय में होने लगती है। इससे यह स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त साधारणीकरण को हृदय का कर्म स्वीकार करते है। इसके विपरीत भट्ट-नायक का साधारणीकरण कवि-कर्म सापेक्ष्य होता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में यह साधारणीकरण सम्बन्धों का होता है आलम्बन का नही। यही अभिनवगुप्त का भट्टनायक के मत से अन्तर है।

शुक्लजी ने भी इस सम्बन्ध मे अपनी धारणाओं का प्रकाशन किया है। वे कहते है—

"किसी पात्र के आलम्बन का प्रदर्शन भाव की अनुभूति को रस रूप से कैसे उत्पन्न कर सकता है, सामान्यता की प्रक्रिया से जिसे साधारणीकरण कहते है, श्रोता या दर्शक का पात्र के साथ तादात्म्य हो जाता है। भावों की अनुभूति प्रदर्शित विशिष्ट विषयों के साथ नही होती प्रत्युत साधारण रूप मे होती है। रसानुभूति काल में श्रोता इस बात का विचार करने नहीं

जाता कि भाव मेरे है या दूसरे के।"

शुक्लजी के साधारणीकरण-सिद्धान्त पर भट्टनायक का अधिक प्रभाव है। भट्टनायक के अनुसार वे भी आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण मानते है अर्थात् जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप मे नही लाया जाता कि वह सामान्यत. सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमे रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नही आती। इसी रूप में लाया जाना साधारणीकरण कहलाता है।

उनकी धारणा है कि काव्यगत आलम्बन ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाला हो ? इसका अभिप्राय यह नहीं कि उन्होंने व्यक्तियों की रुचि और प्रकृति की भिन्नता की उपेक्षा की है। वे कहने है कि जैसे एक मनुष्य की आकृति दूसरे मनुष्य की आकृति से नही मिलती, फिर भी सामान्य आकृति भावना के आधार पर सब मनुष्यों की एकरूपता प्रतिपादित की जा सकती है, ठीक इसी प्रकार प्रकृति तथा रुचि की भिन्नता रहने पर भी लोक हृदय की सामान्यता भी प्रमाणित की जा सकती है। नर-समष्टि की रागात्मिका प्रकृति के भीतर कुछ ऐसी अन्तर्भूमियाँ है जिनमे पर्याप्त अभिन्नता विद्यमान है। साधारणीकरण सिद्धान्त की प्रतिष्ठा सामान्य अन्तर्भूमि की नीव पर की गई है।

भट्टनायक के सिद्धान्त के अनुसार सामान्य आलम्बन की प्रतिष्ठा कवि-कर्म-सापेक्ष है। शुक्लजी की दृष्टि मे भी विभाव अर्थात् सर्व-सामान्य आलम्बन-विधान के बिना रसोत्पत्ति सम्भव नही हो सकती है। यदि आलम्बन सर्व सामान्य नही होगा अर्थात् वह मानवमात्र के भाव का आलम्बन न हो सकेगा तो ऐसे आलम्बन की प्रतिष्ठा से कवि-कर्म विभाव-विधायक नही माना जाएगा। वह तो केवल भाव-प्रदर्शन मात्र होगा। ऐसी स्थिति मे साधारणीकरण या पूर्ण रसोद्बोधन सम्भव नही।

शुक्लजी ने अभिनवगुप्त के साधारणीकरण सम्बन्धी धारणा को भी ग्रहण किया है। उनका यह कथन कि 'रसानुभूति काल मे श्रोता इस बात का विचार करने नही बैठता कि भाव मेरे है या दूसरे के'—एक प्रकार से

अभिनवगुप्त के ममत्व-परत्व के सम्वन्ध का परित्याग ही है । इसी प्रकार हृदयों के साधारणीकरण को भी उन्होंने एक प्रकार से स्वीकार कर लिया है। वे कहते है कि रसमग्न पाठक के मन मे यह भेद-भाव नही रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोडी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नही रहता ।

शुक्लजी ने साधारणीकरण के सिद्धान्त को आधुनिक कला-समीक्षा की कसौटी पर भी कसा है । आधुनिक कला-समीक्षा का यह सिद्धान्त है कि कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करना तर्क और विज्ञान का काम है––निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है कल्पना मे 'विम्व' या 'मूर्त भावना' उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार लाना नही । विम्ब जब होगा तव विशेष या व्यक्ति का ही होगा सामान्य या जाति का नही । इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य का आलम्वन सामान्य नही हो सकता है। भट्टनायक ने यह कहा है कि आलम्वन विशेष नही रहता सामान्य हो जाता है। इसलिए आधुनिक कला सिद्धान्त के साथ 'साधारणी-करण' का सामजस्य करने के लिए उन्होने भट्टनायक के सिद्धान्त का एक प्रकार से संशोधन कर दिया है। वे कहते है कि आलम्बन के साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन मे जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य मे वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार मे सब श्रोताओं या पाठकों के मन मे एक ही भाव का उदय थोड़ा या वहुत होता है। तात्पर्य यह है कि आलम्वन रूप मे प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मो की प्रतिष्ठा के कारण सवके भावों का आलम्वन हो जाता है। इस संशोधन से आधुनिक कला-समीक्षा की विम्व ग्रहण की कसौटी पर प्राचीन साधारणीकरण का सिद्धान्त भी पूरा उतरता है। परस्पर किसी प्रकार का विरोध नहीं रहता है।

रस दशा की कोटियाँ—'साधारणीकरण' सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय शुक्लजी ने रस दशा की तीन कोटियो की मौलिक उद्भावना की है। वे कहते है कि प्राचीन ग्राचार्यों ने इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करते समय श्रोता या पाठक के काव्यगत ग्राश्रय के साथ तादात्म्य की ग्रवस्था पर ही विचार किया है, परन्तु उन्होंने इस वात की ग्रोर ध्यान नही दिया कि काव्य मे ऐसे वर्णन भी ग्रा सकते है जहाँ श्रोता या पाठक काव्यगत ग्राश्रय के साथ तादात्म्य नही कर पाता, फलत. ग्राश्रय जिस भाव की ग्रनुभूति वर्णित ग्रालम्बन के प्रति करता है पाठक व श्रोता उस भाव की ग्रनुभूति न कर किसी ग्रन्य स्वतन्त्र भाव की ग्रनुभूति करने लगता है। इस दशा मे श्रोता व पाठक का हृदय उस ग्राश्रय (पात्र) के हृदय से ग्रलग रहता है। ऐसी स्थिति मे वह पात्र के शील द्रष्टा या प्रकृति द्रष्टा के रूप मे प्रभाव ग्रवश्य ग्रहण करेगा। यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा, यह दशा भी एक प्रकार की रस दशा ही है। इसी ग्राधार पर शुक्लजी ने रसदशा की कोटियों की उद्भावना की है। वे कहते है कि साधारणीकरण का सीधे शब्दों मे ग्रर्थ है श्रोता का भी उसी भाव मे मग्न होना जिस भाव की कोई काव्यगत पात्र (या कवि) व्यजना कर रहा है। यह दशा तो रस की उत्तम दशा है ग्रर्थात् वहाँ रसानुभूति उत्तम कोटि की होगी। जहाँ काव्यगत पात्र के द्वारा व्यजित भाव मे श्रोता या पाठक का हृदय योग नही दे पाता, केवल उस पात्र के शील द्रष्टा के रूप में स्थित रहता है वहाँ उस पात्र का ग्रालम्वन पाठक व श्रोता का ग्रालम्वन नहीं रहता ग्रपितु वह पात्र ही उनके किसी भाव का ग्रालम्वन हो जाता है। इस दशा मे ग्राश्रय के साथ तादात्म्य तो नही होता, परन्तु कवि के उस ग्रव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके ग्रनुरूप वह पात्र के स्वरूप की प्रतिष्ठा करता है। पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का ग्रालम्बन रहता है पाठक या श्रोता के भी उसी भाव का ग्रालम्वन प्राय. वह हो जाता है। ऐसी स्थिति में पाठक व श्रोता के हृदय में जो रसात्मक ग्रनुभूति होगी वह रस की मध्यम दशा कहलाएगी ग्रर्थात् रसदशा की मध्यम कोटि होगी।

उत्तम कोटि की रस दशा मे श्रोता व पाठक अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणो के लिए विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता मे विलीन हो जाता है, परन्तु मध्यम कोटि की रस दशा मे श्रोता व पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रखता है और पात्र मे शील विशेप के दर्शन से किसी अन्य भाव की अनुभूति करता है।

आधुनिक काल मे पाश्चात्य दृश्य काव्यो मे अन्तः प्रकृति के वैचित्र्य का प्रधानतया प्रदर्शन किया जाता है। इस शील वैचित्र्य को भी दृष्टि मे रखते हुए शुक्लजी ने साधारणीकरण तथा रसदशा की कोटियो की कल्पना की है। वे कहते है कि पात्रों के अन्त प्रकृति वैचित्र्य से तीन बाते हो सकती है—१. आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, २ आश्चर्यपूर्ण अवमादन, ३. कुतुहलमात्र।

आश्चर्य पूर्ण प्रसादन शील के चरम उत्कर्ष के साक्षात्कार से होता है। राम, भरत आदि महापुरुषों के उत्कृष्ट शील वैचित्र्य से पाठक व श्रोता के हृदय मे आश्चर्य मिश्रित श्रद्धा-भक्ति का संचार हो सकता है और उत्कृष्ट पात्रो द्वारा व्यजित भावो को पाठक व श्रोना अपनाकर उनमें लीन भी हो सकता है। भाव व्यजना काल मे पाठक या श्रोता का इन पात्रों के साथ तादात्म्य हो जाने से जो रसात्मक अनुभूति होगी वह उत्तम कोटि की होगी।

आश्चर्य पूर्ण अवसादन शील के अत्यन्त पतन के साक्षात्कार से होता है। क्रूर, आततायी पात्रो की भाव-व्यजना मे पाठक व श्रोता अपने हृदय का योग नही दे सकता। वह उनके क्रूर चरित्र से प्रभावित होकर आश्चर्य मिश्रित विरक्ति, घृणा आदि भावनाओ की अनुभूति करने लगता है। इस स्थिति में भी पाठक की अपने भावो मे तल्लीनता सम्भव हो जाती है। यही तल्ली-नता रस दशा है, परन्तु यह मध्यम कोटि की है।

कुछ लोगो के कथनानुसार ऐसी अद्वितीय प्रकृति भी कल्पित की जा सकनी है जिसके साक्षात्कार से न तो प्रसादन होता है और न अवसादन है अपितु कुतूहल या मनोरजन ही पाठक व श्रोता के हृदय मे उत्पन्न होता है। शुक्लजी कहते है कि इस प्रकार की अद्वितीय प्रकृति ससार मे वस्तुतः

नहीं हो सकती है। मामान्यत: मानव प्रकृति के दो वर्ग ही हो सकते है—सात्त्विकी प्रकृति, तामसी प्रकृति। इन दोनो वर्गों से भिन्न यदि किसी मनोवृत्ति के प्रदर्शन का यत्न काव्य मे किया जाएगा तो उनकी धारणा के अनुसार केवल ऊपरी मन बहलाव के लिए खड़ा किया हुआ कृत्रिम तमाशा ही होगा। यदि इस कुतूहल वृत्ति को भी काव्यानुभूति के अन्तर्गत ले लिया जाए तो वह रसानुभूति की निकृष्ट दशा ही होगी। इस प्रकार शुक्लजी ने रसवादियो के अखण्ड रस तत्त्व की तीन दशाएँ वर्णित करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया है।

रसात्मक बोध के विविध रूप——रसानुभूति के लिए साधारणीकरण को महत्त्व दिया गया है। यह साधारणीकरण काव्य मे कवि द्वारा मन: कल्पित रूप-व्यापार के विधान द्वारा सम्पन्न हो जाता है। प्राचीन काव्य समीक्षकों ने इस कल्पित रूप-विधान द्वारा रसोत्पत्ति स्वीकार की है और इस अनुभूति को जीवनगत वास्तविक अनुभूतियों से पृथक् मान लिया है। शुक्लजी रसात्मक बोध को वास्तविक जीवन की अनुभूतियों का एक उदात्त एव अवदात्त स्वरूप ही स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि उन्होंने वास्तविक जीवन की अनुभूतियों में भी रसात्मकता सिद्ध करने का यत्न किया है।

उनकी इस सम्बन्ध मे प्रथम धारणा यह है कि हमारी भावनाओं या अनुभूतियों का मूलाधार जगत् के रूप या व्यापार ही हैं। दूसरी धारणा यह है कि प्रत्यक्ष-दर्शन की अवस्था में ये रूप व्यापार हमारे बाहर प्रतीत होते है। रसानुभूति के लिए इनका विधान मन में सम्पादित किया जाता है। मानसिक रूप विधान में भी ये रहते रूप ही हैं, कोई भिन्न नहीं हो जाते है। मानसिक रूप विधान के भी दो पक्ष होते हैं। यदि हम बाहर प्रत्यक्ष देखे हुए रूपों या व्यापारों को ज्यों का त्यों मन मे लाते है तब यह रूप विधान स्मृति रूप-विधान कहलाता है और यदि प्रत्यक्ष देखे हुए रूपो या व्यापारों के आधार पर नया वस्तु-व्यापार-विधान कर लेते हैं तब उसे कल्पित-रूप-विधान कह दिया जाता है। यह निर्विवाद है कि दोनों ही रूप-

विधानों के मूल मे प्रत्यक्ष देखे हुए बाहरी रूप-विधान ही होते है। अतः तीन प्रकार का रूप-विधान माना जा सकता है—१. प्रत्यक्ष रूप विधान, २. स्मृति रूप विधान, ३. कल्पित रूप विधान।

प्रत्यक्ष रूप विधान—प्राचीन आचार्यो ने कल्पित रूप विधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति को ही रसानुभूति मानकर उसे प्रत्यक्ष रूप विधान तथा स्मृति-रूप-विधान से उत्पन्न होने वाली अनुभूति से पृथक् सिद्ध करने का उपक्रम किया है। उन्होने वास्तविक जीवन की इन दो अनुभूतियो मे रसबोध की क्षमता स्वीकार नही की है। इसके विपरीत शुक्लजी ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि विशेष दशाओं मे प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी रसानुभूति की कोटि मे आ सकती है। वे कहते है कि तथा-कथित रसानुभूति के दो लक्षण स्वीकार किये जा सकते है—१ अनुभूतिकाल मे अपने व्यक्तित्त्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार, २. किसी भाव के आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों मे उसी भाव का उदय होना। इन दोनों लक्षणों के आधार पर यदि प्रत्यक्षानुभूतियों की समीक्षा की जाए तो पता चलेगा कि इनमें भी कई भावों के आलम्बनों के साथ प्रायः यही स्थिति किसी-न-किसी अंश में संगठित होती दिखाई देती है, अत प्रत्यक्ष रूप विधान मे भी रसात्मकता स्वीकार की जा सकती है। उदाहरण के लिए 'रति' भाव को ले सकते है। प्रत्यक्ष रति की अनुभूति मे भी काव्यानुभूति के समान व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार हो जाता है। गहरी-प्रेमानुभूति की दशा मे मनुष्य रस लोक में ही पहुँचा रहता है। उसे अपने तन-बदन की सुध नहीं रहती। आलम्बन के साधारणीकरण के सम्बन्ध मे कुछ कठिनाई अवश्य है क्योंकि वास्तविक रति के उत्पन्न होने मे कुछ समय लगता है, परन्तु आलम्बन के अत्यन्त मनमोहन होने की स्थिति में एक साथ ही अनेक हृदयो मे समान रूप से प्रेम के प्रथम अवयव लोभ का उदय तो हो ही जाता है। 'हास' की अनुभूति मे तो उक्त दोनों लक्षण घटित हो जाते है। आलम्बन के सम्मुख आते ही हममे हास्य रस संचरित होने लगता है और वह आलम्बन हमारे समान अन्य हृदयों में भी समान रूप से हास भाव को जाग-

रित करने की क्षमता रखता है। यदि कोई उत्साही वीर हमारे सम्मुख लोक कल्याण कार्य करता आता है तो उसके उत्साह-भाव के आलम्बन मे हम भी उत्साह की आनन्दमयी अनुभूति कर सकते है। इसी प्रकार लोक पीडक या क्रूर कर्मा अत्याचारी को देख-सुनकर उसके प्रति जिस क्रोध का हमारे हृदय मे उदय होगा वह भी रस कोटि का होगा, क्योकि उसमे अपने व्यक्तित्व का परिहार और अन्य हृदयो का समान रूप मे योग सम्पन्न हो जाएगा। क्रोध की वास्तविक अनुभूति यद्यपि दु ख रूप होती है तथापि व्यक्ति बद्ध दशा मे मुक्त हो जाने के कारण यह अनुभूति भी आनन्द स्वरूप समझी जा सकती है।

भय की प्रत्यक्षानुभूति तभी रस कोटि की मानी जा सकती है जबकि हमारा ध्यान अपने व्यक्तित्व की ओर न होकर लोक से सम्बद्ध रहेगा। इसी के अनुरूप यदि किसी ऐसे घृणित आचरण वाले के प्रति हमारी जुगुप्सा होगी जिसे देखते ही लोक सामान्य की रुचि का व्याघात हो सकता है तो हमारी यह अनुभूति रसमयी मानी जा सकेगी। शोक भाव अपनी निज की इष्ट हानि पर होता है, परन्तु करुणा दूसरों की दुर्गति या पीड़ा से उत्पन्न होती है, अतएव शोक भाव से उत्पन्न होने वाले रस का नाम 'करुणा' रखा गया है। करुणा ही एक ऐसा व्यापक भाव है जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति सब रूपों मे और सब दशाओं मे रसात्मक होती है, क्योंकि करुणा से उत्पन्न होने वाला दु ख हमारा अपना नही होता है लोक सामान्य का होता है। इस स्थिति मे यद्यपि हम दु:ख का ही अनुभव करते है तथापि हमारा हृदय उस समय मुक्त दशा मे होता है, उसका अपने योग क्षेम, सुख-दुःख, हानि-लाभ से सम्बन्ध नहीं रहता है। महाकवि भवभूति ने जो करुण रस को ही सब रसों का मूल माना है उसके मूल में करुणा की यही विशेशता विद्यमान है।

इसी प्रसंग मे शुक्लजी ने प्रकृति के नानारूपों के दर्शन से उत्पन्न होने वाली अनुभूति को भी रसात्मक वर्णित किया है। उनका कथन है कि प्रकृति प्रेम हमारे अन्त:करण मे वासना रूप से वश-परम्परा से विद्यमान है। ऐसी स्थिति मे प्रकृति का, हमारे प्रेम भाव का आलम्बन होकर रसानु-

भूति कराना स्वाभाविक ही है। यह कहा जा चुका है कि शुक्लजी काव्य मे प्रकृति को आलम्बन रूप से भी ग्राह्य मानते है। 'काव्यगत प्रकृति वर्णन मे भी रसोद्बोधन की क्षमता हो सकती है,' उनका यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिए कि वे रसानुभूति के लिए आश्रय चित्रण को अनिवार्य नही मानते, अतएव काव्यगत प्रकृति वर्णन मे आश्रय का चित्रण न होने पर भी रसात्मकता हो सकती है। वे कहते है जहाँ आश्रय का स्पष्ट उल्लेख नही होता वहाँ उसका आक्षेप कर लिया जाता है। इस सम्बन्ध मे यह आपत्ति उठाई जाती है कि यदि प्रकृति को आलम्बन माना जाएगा तो आलम्बन के जड होने से तथा अनुकूल प्रतिक्रिया का अभाव होने से भाव की पूर्णता नही हो सकेगी। इसके उत्तर मे शुक्लजी यह कहते है कि यह आपत्ति उचित नही है, क्योंकि घृणा भाव का आलम्बन भी जड रहता है, परन्तु वहाँ रस दशा स्वीकार की जाती है। इस प्रकार प्रकृति की प्रत्यक्षानुभूति में तथा काव्यगत प्रकृति वर्णन से उत्पन्न होने वाली अनुभूति मे रसोद्बोध की क्षमता स्वीकार की जा सकती है।

मानसिक स्मृति रूप-विधान—स्मृति रूप-विधान मे भी रसोद्बोध की क्षमता मानी जा सकती है। शुक्लजी कहते है कि भूतकाल मे प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओं का वास्तविक स्मरण भी कभी-कभी रसात्मक होता है। प्रिय का स्मरण, बाल्यकाल या यौवनकाल के अतीत जीवन का स्मरण प्रवास मे स्वदेश-स्थलों का स्मरण निर्विवाद रूप से रसात्मक होता है। इस सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने के योग्य है कि स्मृति रूप-विधान प्रायः तभी रसात्मक होगा यदि उसका सम्बन्ध रति, हास और करुणा स्थायी भावों के साथ होगा। दूसरे भावो के आलम्बनों का स्मरण भी रसात्मक हो सकता है। यदि उनका सम्बन्ध केवल हमारी व्यक्तिगत भावसत्ता के साथ न होकर सम्पूर्ण नरजीवन की भाव-सत्ता के साथ हो।

स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञान मे भी रस संचार की बडी गहरी शक्ति शुक्लजी स्वीकार करते है। वे कहते है कि बाल्य या कौमार जीवन के किसी साथी के बहुत दिनों पीछे सामने आने पर कितने पुराने दृश्य हमारे मन के

भीतर उमड़ पड़ते है और हमारी वृत्ति उनके माधुर्य मे पूर्णतया मग्न हो जाती है। प्रत्यभिज्ञान द्वारा उत्पन्न इस रसात्मक दशा मे मनुष्य मन में आई हुई वस्तुओं के रूप-व्यापार मे इतना तल्लीन हो जाता है कि उसका अपना व्यक्तित्व सामने नही आता, भूल-सा जाता है। यदि हमारे वर्तमान जीवन की करुणाजनक परिस्थितियाँ अतीत जीवन की परिस्थितियो मे सर्वथा विपरीत होती है अर्थात् अत्यन्त सुख-समृद्धि के जीवन के अनन्तर हमे सर्वथा दु:ख तथा अभाव का जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है तो उस समय सुख-समृद्धि के दिनों की प्रत्यक्ष मिश्रित स्मृति मे करुणा वृत्ति के सचालन की अपूर्व शक्ति को निर्विवाद रूप से स्वीकार करना पड़ता है। इसी प्रसग में शुक्लजी ने मानव जीवन मे अतीत काल की स्मृति के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। वे कहते है—

"हृदय के लिए अतीत एक मुक्ति-लोक है जहाँ वह अनेक प्रकार के बन्धनो से छूटा रहता है और अपने शुद्ध रूप में विचरता है। वर्तमान हमें अन्धा वनाता है; अतीत वीच-वीच मे हमारी आँखें खोलता रहता है। मै तो समझता हूँ कि जीवन का नित्य स्वरूप दिखलाने वाला दर्पण मनुष्य के पीछे रहता है आगे तो बरावर खिसकता हुआ दुर्भेद्य पर्दा रहता है।"

अतीत सम्बन्धी इसी धारणा के कारण शुक्लजी ने अतीत की वास्तविक स्मृति में भी रसोद्बोदन की शक्ति स्वीकार की है। वे मानव की स्मृत्याभास कल्पनाओ मे भी रसात्मकता मानने को उद्यत है। हम इतिहास में पढ़ी हुई या आप्त पुरुषों से सुनी हुई वातों के आधार पर कभी-कभी अपने मन में स्मृति सदृश वस्तुरूप-विधान कर लिया करते है। किसी ऐतिहासिक स्थल पर पहुँचते ही हमारे मन मे उस स्थल से सम्बद्ध घटनाएँ जागरित होने लगती है और हमारा मन उन घटनाओं के अनेक रूपों तथा व्यापारों में ऐसा तल्लीन हो जाता है कि हम कुछ क्षणों के लिए अपना पृथक् अस्तित्व ही भुला देते है। इसी प्रकार कभी-कभी किसी अज्ञात एवं अपरिचित प्राचीन खण्डहर को देखकर हम अपने मन में शुद्ध अनुमान के सहारे स्मृति-सदृश रूप विधान करने में प्रवृत्त हो जाते है। इस

प्रकार की स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञा मानव की व्यक्तिगत अतीत जीवन की स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञा के समान ही मधुर होगी परन्तु इनका सम्वन्ध समष्टि रूप मे नर जीवन के अतीत के साथ होगा वैयक्तिक जीवन के अतीत के साथ नही। स्मृतियाँ मानव के मर्म का स्पर्श करती है; उसे व्यक्तित्व सम्बन्धो से छुड़ाकर एक मधुर भाव लोक का परिभ्रमण कराती है; उसे अपने रूपविधानों द्वारा तल्लीन करके रसमग्न कर देती है अत वास्तविक स्मृति-रूप-विधान मे रसोद्बोध की क्षमता स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नही होनी चाहिए।

कल्पित रूप विधानः, कल्पना—काव्य तत्त्वों मे 'कल्पना' को भी शुक्ल जी एक परमावश्यक तत्त्व स्वीकार करते है। वे कहते है कि काव्य की पूर्ण अनुभूति के लिए कल्पना का व्यापार कवि और श्रोता दोनों के लिए अनिवार्य है परन्तु है यह साधन ही साध्य नही। इस तत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए शुक्लजी ने धार्मिक क्षेत्र के 'उपासना' शब्द और प्राचीन साहित्य के 'भावना' शब्द के साथ आधुनिक काव्य-मीमांसा मे प्रसिद्ध 'कल्पना' शब्द की समता प्रतिपादित की है। वे कहते है कि जो वस्तु हमसे अलग है,हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन मे लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही 'उपासना' है। साहित्य वाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आजकल के लोग 'कल्पना'। जिस प्रकार भक्ति के लिए 'उपासना' या 'ध्यान' की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अन्य भावो के प्रवर्त्तन के लिए भी 'भावना' या 'कल्पना' अपेक्षित ठहरती है। इसी आधार पर उन्होने मानसिक रूप विधान का ही नाम 'सम्भावना' या 'कल्पना' रखा है।

काव्य का सारा रूप-विधान कल्पना ही करती है। कवि की कल्पना विधायक होती है और श्रोता व पाठक की ग्राहक। काव्य की अनुभूति के लिए दोनों प्रकार की कल्पना की अपेक्षा है। 'कवि कल्पना' जो रूप-विधान करती है वह दो प्रकार का होता है—१. प्रस्तुत रूप विधान, २. अप्रस्तुत रूप विधान।

प्रस्तुत रूप विधान—प्रस्तुत रूप विधान मे काव्य का विभाव पक्ष

आता है। विभाव पक्ष के अन्तर्गत उन सब वस्तुओं और व्यापारो को लिया जाता है, जो हमारे मन मे सौन्दर्य, माधुर्य, दीप्ति, कान्ति, प्रताप, ऐश्वर्य, विभूति इत्यादि की भावनाएँ उत्पन्न करते है। दूसरे शब्दो मे शृगार, रौद्र, वीर, करुण आदि रसों के आलम्बनो और उद्दीपनो के वर्णन, प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन विभाव पक्ष मे आते है। इस प्रकार के सभी प्रस्तुत रूपो तथा व्यापारो की योजना करने में ही कल्पना की उपयोगिता है । इसके अतिरिक्त अनुभावों की योजना से आश्रय के स्वरूप की प्रतिष्ठा 'कल्पना' ही करती है । अमूर्त्त भावो को मूर्त्त रूप प्रदान करने की क्षमता भी इसी तत्त्व में है। भावो की असीम ऊँचाई, गहराई का सकेत करने के लिए कल्पना ही तदनुरूप शब्द योजना करती है अन्यथा भावो की सम्यक् व्यजना ही नही हो सकती। भाव-व्यजना के लिए 'कल्पना' पूर्ण स्वच्छन्द होकर लोक मर्यादा का भी उल्लघन कर देती है, वह पलको के पाँवड़े बिछाती है और प्रेमी द्वारा प्रिय को आँखो मे बसाने की बात कहती है ।

अप्रस्तुत रूप विधान—प्रस्तुत वस्तुओं के स्वरूप को तथा तत्सम्बन्धी भावना को अधिक स्पष्ट एव उत्कृष्ट करने के लिए प्रस्तुत के साथ तत्सदृश अप्रस्तुत वस्तुओं को भी काव्य मे लाना पडता है। अप्रस्तुत रूप-व्यापार की योजना भी 'कल्पना' का ही कार्य है। इसमे काव्य का कला पक्ष आता है।

प्रस्तुत या अप्रस्तुत रूप योजना करने वाली वही कल्पना काव्य के लिए उपादेय मानी जासकती है, जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव प्रवर्त्तन और सचार करती हो, जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होकर हृदय पर प्रभाव डालती हो। शुक्लजी 'कल्पना' को काव्य का 'बोध पक्ष' कहते है और इसके साथ भाव का योग स्वीकार करते है। वे कहते है कि भारतीय रस सिद्धान्त के अनुसार काव्यगत कल्पना का मूलरूप भावात्मक या अनुभूत्यात्मक लिया जा सकता है। मनोविज्ञान के अनुसार भाव का जो स्वरूप निर्दिष्ट होता है उसमे ज्ञान भी अवयव रूप मे विद्यमान है, अतः जिस प्रकार लौकिक व्यवहार में प्रथम वस्तु का ज्ञान होता है और तदनन्तर उसके प्रति भाव संचार होता है। ठीक उसी प्रकार काव्य क्षेत्र मे भी भाव संचार

के लिए ज्ञान अग की आवश्यकता है। इस अंग की पूर्त्ति कल्पना तत्त्व द्वारा हो जाती है । 'कल्पना' वस्तुओ की रूप-योजना करती है जिसके अन्तः साक्षात्कार से कवि और पाठक को भाव-प्रसार के लिए आवश्यक ज्ञान प्रसार की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार एक प्रकार मे कल्पना काव्य का क्रियात्मक बोध पक्ष ठहरती है। शुक्लजी की धारणा है कि काव्य में इस बोध पक्ष के अतिरिक्त भावपक्ष भी रहता है अर्थात् इस कल्पित रूप-योजना के मूल मे प्रेरक रूप से भाव या मनोविकार रहते है और ये हीकल्पना मे आई वस्तुओ के रूपो या व्यापारों मे पाठक व श्रोता के मन को रमाने वाले होते है । वे पश्चिम के उन साहित्य मीमासकों से सहमत नही है, जो भाव-पक्ष की अवहेलना करके 'कल्पना' को सबमे अधिक महत्त्व प्रदान कर रहे है । इटली निवासी क्रोचे ने कल्पना पक्ष को प्रधानता देकर उसका मूलरूप ज्ञानात्मक स्वीकार किया है। वे इसे स्वयंप्रकाश ज्ञान अर्थात् बुद्धि की क्रिया के बिना मन में आप-से-आप उठी हुई मूर्त्त भावना कहते है। वे इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार जन्म ज्ञान दोनों से सर्वथा निरपेक्ष, स्वतन्त्र मानकर चले है। स्वयंप्रकाश ज्ञान का साँचे मे ढलकर व्यक्त होना ही कल्पना है। यह कल्पना ही मूल अभिव्यजना है जो भीतर होती है और शब्द, रग आदि द्वारा वाहर प्रकाशित की जाती है। इस प्रकार क्रोचे 'कल्पना' को आध्यात्मिक क्रिया मानते है और उसे विचार प्रसूत ज्ञान से भिन्न मानकर अत्यन्त महत्त्व प्रदान करते है। इसी के परिणाम स्वरूप काव्य मीमासा के क्षेत्र में अनेक वाद प्रचलित होने लगे है। कल्पना को आध्यात्मिक क्रिया तथा निरपेक्ष ज्ञान मान लेने से काव्य रूपों को वाह्य जगत् के अनन्त रूपों से भिन्न कहने की परम्परा ही चल पड़ी है । फलतः 'कल्पना आध्यात्मिक जगत् का आभास है', 'कल्पना का लोक ही निराला है', 'कला कला के लिए,' 'काव्य सौन्दर्य की साधना है', 'काव्य नूतन सृष्टि है' इत्यादि भ्रान्त उक्तियाँ तथा साहित्यिक धारणाएँ भी प्रचलित हो गई है। वस्तुतः काव्यगत रूप और व्यापार वाह्य जगत् के रूप आदि की ही छाप है । ये क्रोचे के कथानुसार आत्मा के कारखाने से निकले हुए कोई विलक्षण रूप नही है। इन्द्रियज ज्ञान के जो

संस्कार मन मे सचित रहते है वे ही कभी बुद्धि के धक्के से, कभी यों ही भिन्न-भिन्न ढग से अन्वित होकर जगा करते है। यही मूर्त्त भावना या कल्पना है। यदि इनका सम्बन्ध दृष्ट अथवा अनुभूत पदार्थो के साथ नही है और ये विशेषतया आत्मा से निकले हुए है तो उनकी उद्भावना जन्मान्धो को भी वैसी ही होनी चाहिए जैसी आँख वालों को हो सकती है। शुक्लजी की धारणा के अनुसार तो काव्यानुभूति जीवन-क्षेत्र मे संचित अनुभूतियों का ही रसात्मक रूप है। वे काव्य मे कल्पनाका भावात्मक रूप ही स्वीकार करते है, क्योंकि वे काव्य मे हृदय की अनुभूति को अंगी मानते है और मूर्त्त रूप को अग। इस प्रकार 'कल्पना' भाव की सहयोगिनी बनकर ही काव्य मे तत्त्व रूप से स्थान प्राप्त कर सकती है, साध्यरूप से नही।

शैली तत्त्वः शब्द विधान—शैली का सम्बन्ध काव्य के कलापक्ष के साथ होता है। यह एक प्रकार का रचना तत्त्व है। उसके द्वारा कवि एव रचनाकार जीवन से प्राप्त सामग्री को एक विशिष्ट क्रम में विन्यस्त करके उसमे सौन्दर्य और प्रभाव उत्पन्न कर देता है। शुक्लजी ने काव्य स्वरूप के विश्लेषण मे शैली तत्त्व की उपेक्षा नही की है। उनकी काव्य स्वरूप सम्बन्धी तीन परिभाषाओ मे प्रयुक्त शब्द विधान, उक्ति तथा वाङ्मय शब्द इसी तत्त्व के परिचायक है।

काव्य का सारा बाहरी ढाँचा शब्दों के ही विधान से निर्मित होता है। सामान्य व्यावहारिक भाषा मे भी शब्दो के विधान से कार्य चलाया जाता है, परन्तु व्यावहारिक भाषा के शब्दों और काव्य-भाषा के शब्दो मे अन्तर अवश्य रहता है, क्योकि उन दोनो मे भीतरी उद्देश्य का मौलिक भेद रहता है। व्यावहारिक भाषा मे केवल अर्थ ग्रहण से ही लक्ष्य सिद्धि हो जाती है। वक्ता केवल किसी वस्तु या तथ्य का बोध कराना चाहता है, परन्तु काव्य भाषा के शब्द विधान का उद्देश्य अर्थ बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन भी होता है। यही दोनों मे स्पष्ट अन्तर है।

शब्द शक्तियाँ—शुक्लजी काव्य मे अर्थ की उपेक्षा नही करते है। अर्थ से उनका अभिप्राय किसी वस्तु या विषय से ही है। काव्य का अर्थ अर्थात्

वस्तु कल्पित होती है। वे प्रत्यक्ष,अनुमति तथा आप्तोपलब्ध अर्थ को क्रमशः व्यवहार, दर्शन तथा इतिहास क्षेत्र का ही मानते है। दर्शन, विज्ञान तथा इतिहास क्षेत्र के अर्थ भी काव्य क्षेत्र मे आ सकते है यदि उनके साथ कल्पित अर्थ का भी योग हो जाए। भापा अपने शब्दों के द्वारा अर्थ का बोध कराती है। इतिहास मे, दर्शन में, विज्ञान मे, नित्य की बातचीत, लड़ाई-झगड़े मे भापा के शब्द यही काम करते है। काव्य की भाषा के शब्द भी इस बात के अपवाद नही है। काव्य के शब्द जब अपने विशिष्ट कार्य-भावोन्वेष एव चमत्कारपूर्ण अनुरंजन-करते है तब भी उनका अर्थ के साथ योग अवश्य बना रहता है।

शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध अटूट है। इसके साथ ही यह भी निर्विवाद है कि जहाँ अर्थ होगा वहाँ योग्यता और प्रसगानुकूलता या प्रकरण सम्बद्धता अवश्य विद्यमान होगी अर्थात् यह सम्बन्ध बुद्धि सम्मत एवं प्रसंगानुकूल ही होगा। काव्यगत भापा मे यदि कही योजना तथा उपपन्नता का अभाव परिलक्षित होता है तो शब्द की शक्तियो से इस योग्यता तथा उपपन्नता की खोज की जाती है। प्राचीन आचार्यों की भान्ति शुक्लजी ने भी अभिधा, लक्षणा तथा व्यजना नामक शब्दशक्तियो तया तात्पर्य वृत्ति की परिभापाएँ प्रस्तुत की है। प्राचीन भेदोंपभेदों का भी विश्लेषण अपनी संक्षिप्त टिप्पणियों के साथ किया है।

इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि शुक्लजी वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ में से काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ मे ही मानते है। वे कहते है कि अभिधा शक्ति से शब्द के योग्य एवं उपपन्न अर्थ (वाच्यार्थ) का बोध हो जाता है, परन्तु काव्य की भापा में प्रायः ऐसे शब्दो का प्रयोग मिलता है जिनका अर्थ स्पष्टतः अयोग्य एव अनुपपन्न प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों में योग्य अर्थात् बुद्धिग्राह्य एव प्रसगानुकूल अर्थ की खोज में लक्षण-व्यंजना शक्तियाँ विशेष सहायता कर देती है। इन शक्तियों से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही क्रमशः लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ होता है अर्थात् अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यजना द्वारा योग्य और

बुद्धिग्राह्य रूप मे परिणत होकर हमारे सामने आता है। उनकी धारणा यह है कि काव्य की भाषा में ऐसे अयोग्य, अनुपपन्न वाच्यार्थ वाले शब्दो के विधान से ही चमत्कारपूर्ण अनुरजन की क्षमता उत्पन्न होती है। उन्होने अपनी इस धारणा का समर्थन 'साकेत' महाकाव्य की उर्मिला की एक रसात्मक उक्ति के आधार पर किया है वह उक्ति यह है—

"आप अवधि बन सकूं कही तो क्या कुछ देर लगाऊँ ?
मै अपने को आप मिटा कर जाकर उनको लाऊँ।"

इसमे अपने को मिटाकर उर्मिला अपने प्रिय लक्ष्मण को वन से लाने की बात कहती है। स्पष्ट ही इस शब्द विधान का वाच्यार्थ, अयोग्य एव अनुपपन्न है, अर्थात् बुद्धि इसे स्वीकार नही कर सकती। कोई भी अपने को मिटाकर दूसरे को लाने की कल्पना नही कर सकता है। अब लक्षणा और व्यजना शक्तियो की सहायता से इस शब्द विधान मे से योग्य और विवक्षित अर्थ निकालने का प्रयास करके हम यह अर्थ ग्रहण करते है कि उर्मिला मे अपने प्रिय से मिलने का औत्सुक्य चरम सीमा मे पहुँच गया है। उनकी धारणा के अनुसार वैचित्र्य एव रमणीयता इस व्यग्यार्थ मे नही अपितु व्यग्यार्थ के आधारभूत वाच्यार्थ मे ही है। इसीलिए उनका सिद्धान्त है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है। इसका यही अर्थ है कि लक्षणा और व्यंजना अभिधा के ही आश्रित होती है अतः काव्यत्व का उसे ही आधार मान लेना चाहिए। इससे अभिधा द्वारा सकेतित वाच्यार्थ के महत्त्व का ही सकेत लेना चाहिए, लक्षणा और व्यजना के द्वारा सकेतित लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ के विरोध का नही। वे लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ को काव्य के लिए निष्प्रयोजन एव निरर्थक नही मानते हैं। वे कहते है कि काव्य तो है अयोग्य, अनुपपन्न-बुद्धि को अग्राह्य शब्द विधान, परन्तु उसके बुद्धिग्राह्य एव योग्य अर्थ का काव्य मे प्रयोजन यह है कि उसमे काव्य को धारण करने वाला वह सत्य अन्तर्निहित है जिसकी देखरेख मे काव्य मनमानी क्रीड़ा कर सकता है। इसी सत्य के साथ किसी उक्ति का सम्बन्ध देखकर यह निर्णय किया जा सकता है कि उसका स्वरूप कहाँ तक सुव्यवस्थित है। उक्ति की साधुता

और सचाई की परख के लिए उसको सामने रखने की आवश्यकता होती है। निस्सन्देह यह आवश्यकता अधिकतर समीक्षको को पडती है।

शुक्लजी लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग को काव्य भाषा के लिए अनिवार्य समझते है, क्योकि ऐसे ही शब्दो के प्रयोग से अगोचर बातें, सूक्ष्म भावनाएं-गोचर एव स्थूल मूर्त्त रूप मे आने—पाठक व दर्शक के सम्मुख उपस्थित होने लगती है, फलतः वे काव्य के उद्देश्य को पूर्ण करने मे प्रधान साधन बन जाते है। फिर भी अयोग्य एव अनुपपन्न शब्दो मे अन्तर्निहित योग्य एव उपपन्न अर्थ परस्पर सर्वथा असम्बद्ध नही हो सकते और उक्ति मे सौन्दर्य इसी अयोग्य (लाक्षणिक) शब्द के प्रयोग से ही आता है। हमें इस सम्बन्ध मे यह बात अवश्य ध्यान मे रखनी होगी कि वे उक्ति वैचित्र्य को ही सर्वस्व नही मानते। उनकी धारणा मे भाव प्रेरित तथा भावोन्मेष करने वाली ही उक्ति काव्य क्षेत्र मे उपादेय है। केवल विचित्रता काव्य भाषा मे सौन्दर्य नही ला सकती है उसके मूल में किसी-न-किसी भाव के योग की अनिवार्यतः आवश्यकता है। इसीलिए वे यह कहते है—"बहुत-सी अत्यन्त मार्मिक और भावपूर्ण कविताएँ ऐसी होती है जिनमें भाषा कोई वेशभूषा या रूपरग नही बनाती, अर्थ अपने खुले रूप में ही पूरा रसात्मक प्रभाव डालते है। उनकी दृष्टि मे काव्य में योग्य अर्थ होना अवश्य चाहिए—योग्यता चाहे खुली हो या छिपी हो।"

शुक्लजी का विश्वास है कि अत्यन्त अयोग्य और असम्बद्ध प्रलाप के भीतर भी कभी-कभी काव्य के प्रयोजन की योग्यता छिपी रहती है, जैसे शोकोन्मत या वियोग विक्षिप्त के प्रलाप में शोक की विह्वलता या वियोग की व्याकुलता ही योग्यता है। रीतिकाल के आचार्य कविदेव ने अभिधा को ही उत्तम काव्य कहा है। उसका भी उनकी दृष्टि में यही अर्थ है कि वाच्यार्थ को ही देव ने काव्यत्व का कारण माना है अर्थात् उसमे ही काव्य की रमणीयता रहती है।

शुक्लजी वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का शब्द से सीधा और निकट का सम्बन्ध मानते है पर व्यंजना का उससे सम्बन्ध वाच्यार्थ के द्वारा होता है।

इसके अतिरिक्त उनके सिद्धान्त मे लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ का रूपान्तर मात्र होता है और व्यग्यार्थ वाच्यार्थ मे पृथक् अर्थ होता है।

व्यजना के सम्बन्ध मे उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया है कि वस्तु व्यजना और भाव व्यजना दोनो भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ है। साहित्य-कारो ने जो इन दोनो मे भिन्नता कही है वह पूर्णतया स्पष्ट नही है। वस्तु व्यजना और भावव्यजना मे केवल इतना ही अन्तर कहा गया है कि एक मे—वस्तु व्यजना मे—वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ पर आने का पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित होता है। दूसरी में—भावव्यजना मे—यह क्रम, होने पर भी, लक्षित नही होता है। शुक्लजी इन दोनो मे केवल इतना ही अन्तर नही समझते, वे तो भावव्यजना को सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्ति मानते हे। उनका कथन यह है कि भाव या रस के सम्बन्ध मे व्यजना शब्द का प्रयोग ही समुचित नही है, क्योंकि भाव की अनुभूति को व्यग्यार्थ नही माना जा सकता हैं। यदि व्यग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा। वस्तु व्यजना मे जिस प्रकार वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ तक पहुँचने की बात कही जा सकती है ठीक उसी प्रकार रत्यादि की अनुभूति के सम्बन्ध मे नही कही जा सकती है। अमुक रति या क्रोध कर रहा है, इस प्रकार के व्यग्यार्थ के ज्ञान मे ही रति या क्रोध की रसात्मक अनुभूति नही हो सकती है। रति, क्रोध आदि भावो का अनुभव करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ तक पहुँचना नही कहा जा सकता, अतएव भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ नही कहा जा सकता है। इस प्रकार शुक्लजी ने व्यंजना के दूसरे भेद भाव व्यजना पर आक्षेप किया है और इस बात की ओर साहित्य मीमांसको का ध्यान आकर्षित किया है कि यदि भाव या रस को व्यंग्यार्थ मानना है तो रत्यादि भाव का ज्ञान आस्वाद पदवी तक किस प्रक्रिया से पहुँचना है इस प्रश्न का समाधान ढूँढना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में उन्होंने केवल इतना ही कह दिया है कि यह एक भिन्न प्रकार की वृत्ति है। भविष्य के साहित्य मीमांसकों को इस सम्बन्ध में अपनी विचार परम्परा जारी रखनी चाहिए।

रीति—शब्द विधान से शब्द विन्यास प्रणाली का अर्थ भी लिया जा

सकता है। प्राचीन आचार्यो द्वारा प्रतिपादित रीति तत्त्व का समावेश भी इसी शब्द विधान के अन्तर्गत माना जा सकता है। शुक्लजी भी 'रीति तत्त्व' को उसी रूप में स्वीकार करते है जिस रूप मे साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने स्वीकार किया है। वे रीति को काव्य का शरीर मानते है। जैसे मानव शरीर मे कई अगो-प्रत्यंगो का परस्पर सघटन होता है,उसी प्रकार काव्य के शरीर का सघटन कई शब्दों के विशिष्ट विन्यास से होता है। शुक्लजी की धारणा है कि काव्य प्रसग मे रीति तत्त्व की चर्चा नाद सौन्दर्य की दृष्टि से की गई है। इस तत्त्व की उपेक्षा करना वे उचित नही समझते। फिर भी इसे काव्य की आत्मा नही माना जा सकता है। हाँ, किसी भाव के प्रभाव की पूर्णता उत्पन्न करने के लिए विशिष्ट वर्ण विन्यास पर्याप्त उपयोगी कहा जा सकता है। उनका यह सिद्धान्त है कि जिस प्रकार मूर्त्त विधान के लिए काव्य चित्रविद्या की प्रणाली का अनुसरण करता है, उसी प्रकार नाद सौष्ठव के लिए वह बहुत-कुछ सगीत तत्त्व का भी सहारा लेता है। नाद-सौष्ठव के निमित्त वर्ण-विशिष्टता को इतना महत्त्व नही दिया जाना चाहिए कि काव्य की आत्मा-भाव की ही उपेक्षा हो जाए।

अलंकार—अलकार भी शब्द विधान अर्थात् काव्य शरीर से ही सम्बन्ध रखते है। इन्हें काव्य के कला-पक्ष मे स्थान दिया जा सकता है। शुक्लजी की धारणा के अनुसार काव्य मे प्रस्तुत के अतिरिक्त अप्रस्तुत भी अपेक्षित होता है। यह अप्रस्तुत रूप-विधान प्रस्तुत अर्थ, वस्तु या व्यापार की भावना को अधिक स्पष्ट तथा उत्कृष्ट रूप देने के लिए किया जाता है। अतः प्रस्तुत अर्थ अलकार्य तथा अप्रस्तुत रूप विधान अलकार का एक प्रमुख विषय माना जाएगा। नवीन पाश्चात्य अभिव्यजनावाद आदि काव्यवादों के अन्धानुकरण की दृष्टि से कई लोग यह कहते है कि अलंकार कोई चीज नही; उनका जमाना गया। शुक्लजी ऐसे लोगों के साथ सहमत नही। वे क्रोचे के समान यह भी नही मानते कि शाब्दिक अभिव्यजना या उक्ति से भिन्न 'अलकार' कोई पदार्थ नही। उनकी यह धारणा है कि अलंकार और अलकार्य का भेद मिट नही सकता है। उक्ति चाहे कितनी ही कल्पनामयी

हो उसकी तह मे कोई प्रस्तुत अर्थ अलकार्य अवश्य होना चाहिए। जैसे व्यग्यार्थ के आधार पर अयोग्य एव अनुपपन्न वाच्यार्थ को भी काव्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान मिल जाता है इसी प्रकार अलकार्य प्रस्तुत अर्थ के आधार पर अलकारो को भी काव्य मे समुचित स्थान दिया जा सकता है। अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत अर्थ के बिना किसी उक्ति की समीचीनता का निर्णय नही हो सकता और न ही उसकी रमणीयता का यथार्थत: प्रदर्शन ही किया जा सकता है।

शुक्लजी की दृष्टि मे अलकार विभिन्न अप्रस्तुत वस्तु-विधान और प्रस्तुत वस्तु के वर्णन की विभिन्न प्रणालियाँ है। ये साधन रूप है साध्य नही। काव्य मे प्रस्तुत वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने ओर भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए ही इनकी आवश्यकता है। इसके द्वारा काव्य मे प्रभावोत्पादकता का गुण उत्पन्न होता है। ये अलकार तीन रूप मे प्रयुक्त होते है—१ अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप मे, २. वाक्य वक्रता के रूप मे, ३ वर्ण विन्यास के रूप में। इन तीन ही रूपो मे इनका उद्देश्य केवल प्रस्तुत भाव या भावना को उत्कृष्ट रूप प्रदान करना ही है।

वर्ण्य वस्तु और वर्णन प्रणाली दोनो भिन्न-भिन्न बाते है। कुछ प्राचीन काव्य समीक्षकों ने 'अलकार' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ मे किया था। उन्होंने वण्य वस्तु और वर्णन प्रणाली का एक ही प्रकार की काव्य सामग्री के रूप मे उल्लेख किया है। धीरे-धीरे यह अवस्था दूर होती चली गई और साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ तक पहुँचते-पहुँचते वर्ण्य वस्तु और वर्णन प्रणाली का अन्तर स्वीकार कर लिया गया और पृथक् तत्त्व के रूप से अलकारो की विवेचना की जाने लगी। फिर भी अभी तक कुछ ऐसे अलकार है जो वास्तव मे वर्ण्य वस्तु का निर्देश करते है, जैसे, स्वभावोक्ति, अत्युक्ति और उदात्त। वर्ण्य वस्तु का निर्देश करना अलकार का काम नही है। इसीलिए शुक्लजी स्वभावोक्ति को अलकार नही मानना चाहते। 'स्वभावोक्ति' के लक्षण से ही यह बात स्पष्ट की जा सकती है। 'जिसमें बालकादिकों की निजकी क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति कह-

लाता है। दूसरे शब्दो मे सृष्टि की वस्तुओ के रूप और व्यापार का वर्णन स्वभावोक्ति है। इस लक्षण के अनुसार जब किसी बालक की रूप चेष्टाओं का वर्णन किया जाएगा तब उसे स्वभावोक्ति कहा जा सकता है। वास्तव मे यह वर्णन काव्य के भावपक्ष के अन्तर्गत है, कलापक्ष के नही। पाठक व दर्शक मे वात्सल्य भाव की रसात्मक अनुभूति के लिए बालक के रूप आदि का वर्णन आलम्बन विभाव के अन्तर्गत और उसकी चेष्टाओं का वर्णन उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत माना जाएगा। इस वर्णन को अलकार क्षेत्र में नही लाना चाहिए। यह स्पष्ट है कि शुक्लजी अलकारों को काव्य का सर्वस्व नही कहते। वे तो सुन्दर प्रस्तुत अर्थ के सौन्दर्य को बढाने वाले है। वे कहते है कि सुन्दर अर्थ की शोभा बढाने मे जो अलकार प्रयुक्त नही वे, काव्यालकार नही। वे ऐसे ही है जैसे शरीर पर से उतार कर किसी अलग कोने मे रखा हुआ गहनो का ढेर। किसी भाव या मार्मिक भावना से असपृक्त अलकार चमत्कार या तमाशे है।

अलंकार वास्तव मे अप्रस्तुत रूप-व्यापार के विधान है। यह सारा विधान साम्य भावना के आधार पर ही होता है। शुक्लजी ने इस साम्य-भावना को भी स्पष्ट करने का यत्न किया है। केवल शब्द या नाम की समानता के आधार पर की गई अप्रस्तुत योजना किसी भाँति भावोद्बोधक नही हो सकती। वह तो केवल भावशून्य चमत्कार पूर्ण खेल या तमाशा ही है। रूपरग की समानता पर भी जो अप्रस्तुत उपमान लाये जाएँगे वे भी तभी काव्योपयोगी माने जाएँगे जब वे प्रस्तुत के सौन्दर्य आदि की भावना मे कुछ वृद्धि करेगे। सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतो की ओर जाती है जो प्रस्तुतों के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति कोमलता, प्रचण्डता, भीषणता, उग्रता उदासी, खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते है। जैसे क्रोधी व्यक्ति के क्रोध की भावना को स्पष्ट करने मे लाल आँखो के उपमान के रूप में लाल कमल के स्थान पर लाल अगार का विधान अधिक उपयुक्त होगा। रूप-रग की, गुण या क्रिया की समानता की मात्रा यदि अत्यन्त अल्प हो तो भी प्रभाव की समता के आधार पर यदि अप्रस्तुत योजना की जाएगी तो

वह काव्योपयोगी मानी जाएगी और वहाँ अलंकार का जो रूप उपस्थित होगा वह काव्य की आत्मा-भाव को, काव्य के शरीर-शब्द विधान को अलंकृत करने वाला होकर उपादेय समझा जाएगा।

काव्य भाषा—शुक्लजी ने काव्य भाषा की सबसे पहली विशेषता 'लाक्षणिकता' स्वीकार की है। इसी से भाषा मे चित्रमयता गुण का आविर्भाव होता है। काव्य भाषा मे दूसरी विशेषता ऐसे शब्द समूह की रहती है जिनमे किसी विशेष रूप या व्यापार की सूचना मिलती है। तीसरी विशेषता वर्ण-विन्यास के विशिष्ट रूप से उत्पन्न होती है। शब्द विधान में प्रयुक्त वर्णों की समान रूपता, आवृत्ति आदि से एक ऐसी लय की सृष्टि होती है जो कि काव्य भाषा मे नाद सौन्दर्य उत्पन्न करके मर्मस्पर्शिनी बना देती है। शब्दालकार प्राय इसी वर्ण-विन्यास के आधार पर कल्पित किये गए है। चौथी विशेषता व्यक्तियो के नामों के स्थान पर उनके रूप-गुण या कर्म बोधक शब्दो के व्यवहार से उत्पन्न होती है। यदि ऐसे शब्दो का प्रयोग स्वाभाविक और अर्थ गर्भित होगा तो इनसे सुनने वाली की भावना के निर्माण मे पर्याप्त उपयोग लिया जा सकता है।

काव्य के भेद—शुक्लजी ने काव्य के भेदों का उल्लेख करते हुए दो आधार कल्पित किये है—१. अनुरजन, २. अर्थबोध। यदि अनुरजन से लोक मगल या आनन्द का अर्थ ग्रहण किया जाए तो आनन्द की अवस्था एव स्वरूप भेद मे काव्य के दो भेद हो जाएँगे। १. आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य, २ आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य। काव्य के इन दोनों रूपो में से आनन्द की साधनावस्था को लेकर चलने वाले काव्य शुक्लजी की रुचि और प्रवृत्ति के अधिक अनुकूल है। ऐसे ही काव्य मे जीवन की अनेक परिस्थितियों का विशद चित्रण किया जा सकता है। जीवन के प्रकाश और अन्धकार पक्ष इसी रूप में मिल सकते है। इसके अतिरिक्त मानव के सभी भावों का साक्षात्कार भी इसी रूप के द्वारा हो सकता है। ऐसे काव्यो का बीज भाव करुण होता है अतः उनसे ही वास्तव मे आनन्द-मगल का विधान हो सकता है। मंगल

का विधान करने वाले करुणा और प्रेम ये दो भाव ठहरते है। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रजना की ओर। लोक मे प्रथम साध्य रक्षा है। रजन का अवसर उसके पीछे आता है। इसीलिए साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यो को प्रमुखता दी जा सकती है।

काव्य-विभाग का दूसरा आधार अर्थ-बोध है। काव्य के मूल रूप में कल्पित अर्थ बोध की प्रधानता रहती है। यह अर्थबोध भाव चमत्कार से समन्वित होकर ही काव्य का आधार वन सकता है। अर्थ और भाव के समन्वय की मात्रा की विभिन्नता के आधार पर भी काव्य के पाँच भेद शुक्लजी ने किये है—१ श्रव्य काव्य, २. दृश्य काव्य, ३ कथात्मक गद्य काव्य, ४ काव्यात्मक गद्य प्रवन्ध या लेख, ५ विचारात्मक निवन्ध या लेख।

श्रव्य काव्य : कविता— कविता के स्वरूप पर शुक्लजी ने बड़े विस्तार से विचार किया है। कविता ही काव्य का वह रूप है, जिसमे भाव-चमत्कार की मात्रा अन्य सब रूपों से अधिक होती है। इस रूप मे काव्य के दो लक्ष्यों मे से भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरजन ही प्रधानता प्राप्त कर लेता है। अर्थ बोध का पहला लक्ष्य गौण रूप से रहता अवश्य है, परन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति परोक्ष रूप से ही की जाती है। शुक्लजी ने कविता का यह लक्षण दिया है—

"हृदय की मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते है।"

शुक्लजी के इस लक्षण मे प्राचीन भारतीय रसानुभूति का लक्ष्य स्पष्ट झलकता है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य दृष्टिकोण से भी इसकी विवेचना की जा सकती है। हृदय की मुक्ति का लक्ष्य भाव तत्त्व के अन्तर्गत माना जा सकता है। 'शब्द विधान' को कल्पना तत्त्व का उपलक्षक माना जा सकता है, क्योकि कल्पना का कार्य शब्द विधान में सहायक है। 'मनुष्य की वाणी' से शैली तत्त्व को ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार पाश्चात्य-काव्य-दर्शन के आधार पर यदि उनके कविता लक्षण की समीक्षा की जाए तो ऐसा आभास होता है कि इसमे विचार तत्त्व की उपेक्षा की गई है। गम्भीरता से

उनके विचारों का यदि अनुशीलन दिया जाए तो इस बात की पुष्टि नही होती। उन्होंने अपने लक्षण मे 'हृदय' का ग्रहण करके बुद्धि तत्त्व का भी समावेश कर लिया है, क्योंकि वे ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार स्वीकार करते है। इसके अतिरिक्त भाव के स्वरूप के प्रथम अवयव के रूप में उन्होने अर्थ बोध को स्वीकार किया है। इस प्रकार भाव के साथ अर्थ का योग स्वतः सिद्ध होने के कारण 'हृदय' के ग्रहण से भाव और विचार दोनों तत्त्वो का निर्देशन हो गया है। कविता के रूप मे भाव की प्रधानता रहने के कारण उसका ही प्रत्यक्षतः ग्रहण कर लिया गया है।

इस लक्षण मे 'छन्दोवद्धता' का भी उल्लेख नही हुआ है। इसका यह अभिप्राय नही कि वे कविता के लिए 'छन्दोवद्धता' को आवश्यक नही समझते। इस सम्वन्ध मे उनकी उक्ति प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है—

"छन्द और लय (Rhythm) के विषय मे विचार करते समय इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि कविता एक बहुत ही पूर्ण कला है। इस पूर्णता के लिए वह सगीत और चित्र कला दोनो की पद्धति का थोड़ा-बहुत सहारा लेती है।...छन्द वास्तव में बँधी हुई लय के भीतर भिन्न-भिन्न ढाँचों का योग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है। लय-स्वर के चढाव-उतार के छोटे-छोटे ढाँचे ही है जो किसी छन्द के चरण के भीतर न्यस्त रहते है।"

छन्द लय के प्रत्येक ढाँचे की मात्रा और उनके परस्पर योग की मात्रा का निर्धारण कर देता है और इस प्रकार कविता के लय स्वर से पाठक भी परिचित हो जाता है। अन्यथा लय के अज्ञात रहने से पाठक कवि के नाद सौन्दर्य की अनुभूति नही कर सकता है। इस धारणा से यह स्पष्ट है कि शुक्लजी छन्द के वन्धन का सर्वथा त्याग उपादेय नही समझते। नए-नए छन्दो के विधान मे उनको कोई आपत्ति नही है। चरणों के छोटे-बड़े रहने में भी उन्हें कोई आपत्ति नही। वे भिन्न-भिन्न छन्दों के दो-दो चरण रखते हुए रचना करने मे कोई हानि नही समझते। जो कविता में केवल लय से उत्पन्न होने वाले नाद सौन्दर्य को ही पर्याप्त समझते है, उनसे शुक्लजी सह-

मत नही है। वे इस वात में भी कोई सार नही समझते कि छन्द के वन्धन से विचार के पैर बंध जाते है और कल्पना के पर सिमट जाते है। वे कहते है कि छन्दोवद्ध रचना करने वाले महाकवियों के भाव और विचार वड़ी स्वच्छन्दता से कविताओं मे स्थान पाते रहे हैं।

कविता और वाद—शुक्लजी की धारणा के अनुसार मच्ची कविता किसी दार्शनिक 'वाद' को लेकर नही चलती। वह तो उन हृदय के भावों का समावेश करना चाहती है जो इस व्यक्त जगत् के नाना रूपो और व्यापारों के प्रति उत्पन्न होते है। दार्शनिक वाद तत्त्व चिन्तन के—बुद्धि प्रयास के—परिणाम होते है। ये ज्ञान क्षेत्र के विषय हो सकते है। कविता मे ज्ञान को प्रवेश तभी मिल सकता है जब कि उसका आधार लेकर कल्पना या भावना उठ खड़ी होती है अर्थात् जव उसका सचार भावपक्ष मे होता है अन्यथा नही।

रहस्यवाद—यदि गम्भीरता से उनकी धारणाओ का विश्लेषण किया जाए तो हम देखेगे कि वे हिन्दी काव्यधारा में रहस्यवादी धारा के प्रचलित होने के विरोधी नही, परन्तु वे इसे काव्य का सामान्य स्वरूप स्वीकार करना नही चाहते। इसके अतिरिक्त वे इसे रहस्य भावना के रूप मे तो ग्रहण करने को उद्यत है एक दार्शनिक वाद के रूप मे वे इसे काव्य मे स्थान देना नहीं चाहते है। उनकी धारणा के अनुसार आधुनिक रहस्यवाद जगत् रूपी अभिव्यक्ति से तटस्थ है, वह जीवन से, भावभूमि से निरपेक्ष है, उसमे कल्पना की झूठी कलाबाजी है, भावो की नकली उछल-कूद और वैचित्र्य-विधायक कृत्रिम शब्दभंगी है अतएव वे इसे इसी रूप मे काव्य के सामान्य स्वरूप के क्षेत्र से नही देखना चाहते।

रहस्यवाद के आविर्भाव के सम्वन्ध में भी शुक्लजी कहते हैं कि भारतीय तथा यूनानी तत्त्व चिन्तकों, दार्शनिको द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद सामी पैगम्वरी मतों—यहूदी, ईसाई, इस्लाम मे रहस्यवाद के रूप में आविर्भूत हुआ, क्योंकि इन मतों में मानव की स्वाभाविक बुद्धि का धर्म मे विशेष स्थान नही है। भारतवर्ष मे यह अद्वैतवाद ज्ञान क्षेत्र में ही अपना प्रसार प्राप्त

कर सका। भारत मे दर्शन के नानावादों को काव्यक्षेत्र मे घसीटने की प्रथा न थी। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि अनेक वेदान्तीवाद प्रचलित हुए पर काव्य क्षेत्र से, भक्ति काव्य मे भी, वे दूर ही रखे गए। निर्गुण सम्प्रदाय के कबीर आदि ने सूफियो की नकल पर अद्वैतवाद, मायावाद, प्रतिबिम्बवाद आदि दार्शनिक वादो के तथ्यो की व्यजना विभिन्न रूपको, साध्यवसान रूपको तथा अन्योक्तियो के माध्यम से करते रहे है। ब्रह्म, माया, पचेन्द्रिय, जीवात्मा, परलोक आदि को लेकर कबीर ने जो अनेक मूर्तस्वरूप खड़े किये वे प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते है। निर्गुण सम्प्रदाय के कवियो की कुछ रूप योजनाएँ ऐसी भी है जिनमे सर्वस्वीकृत सर्वानुभूत तथ्यों को भाव क्षेत्र मे लाने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। ऐसी रूप योजना उस रूप योजना से जिसमें केवल अद्वैतवाद के स्पष्टीकरण का ही प्रभाव है—अधिक मर्मस्पर्शिनी है अतएव इसे काव्य क्षेत्र में महत्त्व दिया जा सकता है। शुक्लजी का कथन यह है कि वाद या सिद्धान्त के रूप मे प्रतिपादित बातों को स्वभाव सिद्ध तथ्यो के रूप में चित्रित करना और उनके प्रति अपने भावो का वेग प्रदर्शित करके अन्यों के हृदय में उस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा करना सच्चे कवि का काम नही। मनुष्य के हृदय को इस प्रकार स्वाभाविक मार्ग से हटाकर इधर-उधर भटकाने की चेष्टा करना वे उचित नही समझते।

अद्वैतवाद के दो पक्ष कल्पित किये जा सकते है—आत्मा और परमात्मा की एकता तथा ब्रह्म और जगत् की एकता। दोनों मिलकर सर्ववाद की प्रतिष्ठा करते हैं। रहस्यवाद के मूल मे प्राय· ये तीनों ही रूप विद्यमान है। शुक्लजी के विरोध का अधिकतर आधार पहले अर्थात् आत्मा और परमात्मा की एकता का पक्ष ही हैं। यह पक्ष शुद्ध रूप से ज्ञान क्षेत्र का विषय है। अरब, फारस तथा योरोप मे इस पक्ष को रहस्यभावना के रूप मे ग्रहण कर लिया गया और परिणामस्वरूप रहस्योन्मुख सूफियो और पुराने कैथलिक ईसाई भक्तो की साधना समान रूप से माधुर्य भाव की ओर प्रवृत्त हुई। इस प्रकार उस अज्ञात, अव्यक्त एव अगोचर ब्रह्म के प्रति प्रेम और मिलन की

अभिलाषा को लेकर आत्म निवेदन प्रारम्भ हुआ। शुक्लजी के विरोध की मूल युक्ति यही है कि तत्त्व दृष्टि से, मनोविज्ञान की दृष्टि से, साहित्य की दृष्टि से अज्ञात के प्रति प्रेम या लालसा सम्भव नही है। ये दोनों हृदय की अन्तर्वृत्तियाँ है। इनका अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्वन्ध नही हो सकता है। व्यक्त और गोचर के प्रति ही इन भावनाओं का प्रकाशन हो सकता है। प्रेम के लिए परिचय चाहिए—चाहे पूरा—चाहे अधूरा। इसी प्रकार लालसा, मिलन की अभिलाषा भी ऐसी वस्तुओ के प्रति होती है जिसकी प्राप्ति या साक्षात्कार से सुख और आनन्द होता है फलत. अव्यक्त और अगोचर के प्रति लालसा का प्रश्न ही नही उठता। अतः शुक्लजी कहते है कि जिस तथ्य का हमे ज्ञान नही, जिसकी अनुभूति से वास्तव में हमारे हृदय मे स्पन्दन नही हुआ उसकी व्यजना या आडम्वर रचकर दूसरों का समय नष्ट करना उचित नही है। ऐसे लोगों को तो काव्य क्षेत्र से निकल-कर साम्प्रदायिको के बीच मे जाकर ही अपना हाव-भाव प्रदर्शित करना चाहिए। असीम और अनन्त ब्रह्म की भावना के लिए भी अज्ञात या अव्यक्त की ओर झूठे इशारे करने की कोई आवश्यकता नही है। उनका यह दृढ विश्वास कि अज्ञात की 'जिज्ञासा' का तो कुछ अर्थ हो सकता है उसकी लालसा या प्रेम का नही। भारतीय दृष्टि के अनुसार भी अज्ञात और अव्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा ही हो सकती है। जिज्ञासा और लालसा में अन्तर होता है। जिज्ञासा केवल ज्ञेय वस्तु के स्वरूप को जानने की इच्छा मात्र है। ज्ञेय वस्तु के प्रति राग, द्वेष, प्रेम आदि भावों का उसके साथ कोई सीधा सम्बन्ध नही है। इसके विपरीत लालसा रति भाव का अंग है। अत यह स्पष्ट है कि एक का सम्बन्ध ज्ञान के साथ और दूसरी का सम्वन्ध भाव के साथ है। इसी आधार पर शुक्लजी अव्यक्त ब्रह्म की जिज्ञासा को तो स्वीकार करने को उद्यत है, परन्तु उसकी लालसा को नही। वे अव्यक्त, अभौतिक और अज्ञात की अभिलाषा को सर्वथा विदेशी कल्पना ही मानते है। श्री शकराचार्य ने व्यवहार पक्ष में उपासना के लिए सोपाधि, सगुण ब्रह्म की ही प्रतिष्ठा की है, अव्यक्त पारमार्थिक सत्ता की नहीं। दूसरे शब्दों

में श्री शकर ने यह प्रतिपादित किया है कि अव्यक्त, निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म उपासना के व्यवहार मे सगुण ईश्वर हो जाता है। अतः उपासना जब होगी तब व्यक्त और सगुण की ही होगी। इस प्रकार काव्य क्षेत्र मे भी यदि ब्रह्म के प्रति भावो का प्रकाशन होगा तो ब्रह्म के मूर्त एव व्यक्त रूप 'जगत्' के प्रति ही होगा।

यदि यह कहा जाए कि इस व्यक्त जगत् में सुख और आनन्द, दुःख और क्लेश के साथ घुला-मिला रहता है। इसके अतिरिक्त सुख और आनन्द की मात्रा भी जगत् मे इतनी स्वल्प होती है कि मानव सुख-सौन्दर्य की, आनन्दमगल की पूर्णता की भावना करने के लिए अव्यक्त एव अभौतिक क्षेत्र मे जाने के लिए विवश हो जाता है। इस सम्बन्ध में शुक्लजी कहते है कि इस प्रकार की पूर्णता की भावना करने के लिए मानव के अभौतिक क्षेत्र मे विचरने की बात विदेशी कल्पना है, भारतीय नही। भारतीय कल्पना इस पूर्णता के लिए यदि कही गई है तो विशेषतया दो क्षेत्रों के भीतर ही गई है। या तो वह इस भूलोक के बाहर पर व्यक्त जगत् के भीतर ही किसी अन्य लोक में गई है या इस भूलोक के भीतर ही पर अतीत के क्षेत्र मे गई है। ये दोनों ही क्षेत्र मानव कल्पना के लिए स्वाभाविक कहे जा सकते है। पृथ्वी पर रहता हुआ भी मानव व्यक्त जगत् की अनन्तता का प्रत्यक्षतः अनुभव करता रहा है। अनन्त आकाश के बीच नक्षत्रों के बृहन्मण्डल को देखकर मानव की कल्पना ने अनन्त लोकों की सृष्टि की है और उन्हें स्वर्ग लोक या पुण्य लोक स्वीकार किया। इस प्रकार इन लोकों में मानव ने अपने आनन्दमगल की पूर्णता की चरमसीमा की भावना करके असीम परितृप्ति की अनुभूति की है। धार्मिक क्षेत्र मे तथा काव्यक्षेत्र मे इस प्रकार की भावना को समान रूप से स्थान दिया जा सकता है और दिया जाता रहा है। इसी प्रकार अतीत के क्षेत्र मे विचर कर भी मानव कल्पना को सुख-सौन्दर्य की पूर्णता की भावना करने का अवसर मिल सकता है। निस्सदेह 'अतीत का राग' एक बहुत प्रबल भाव है। अतीत और हमारा साहचर्य बहुत पुराना है। उसे हम जानते है, पहचानते है, इसीलिए प्यार

करते है। अतः अतीत के प्रति भावनाओ का प्रकाशन भी काव्य क्षेत्र में समुचित स्थान प्राप्त कर सकता है।

आधुनिक योरोपीय कविताओं में भूलोक के भीतर ही भविष्य के गर्भ में कल्पना को लेजाकर अपने सुख-सौन्दर्य की पूर्णता की भावना की जाती है। भविष्य का सुख-स्वप्न उन कविताओ का प्रधान लक्षण है। यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो यह सुख-स्वप्न एक प्रकार से भविष्य की उपासना या भविष्य का प्रेम नही अपितु वह प्रस्तुत वर्तमान जीवन का प्रेम ही है। भविष्य का प्रेम अस्वाभाविक है। जीवन प्रेम के संचारी रूप में उत्पन्न होकर आशा का भाव मानव के जीवन के पूर्ण सौन्दर्य-आनन्द का दर्शन कराता है। उसी रूप में भविष्य के सुख स्वप्नों को काव्य क्षेत्र में स्थान दिया जा सकता है। अपने सुख-सौन्दर्य की आनन्दमगल की पूर्णता की भावना के लिए व्यक्त जगत् के असीम, अनन्त एवं विस्तृत क्षेत्र का परित्याग करना सर्वथा विदेशी कल्पनाएँ है। इन्हीं कल्पनाओं के आधार पर योरोपीय रहस्यवाद की प्रतिष्ठा हुई है। शुक्लजी उसी रहस्यवाद का विरोध करते है।

योरपीय रहस्यवाद शुक्लजी की दृष्टि मे साम्प्रदायिक रहस्यवाद है। सूफियों के प्रतिविम्ववाद से ही उसे प्रेरणा मिली है। सूफियो ने अपने धार्मिक विश्वासों के अनुकूल अद्वैतवाद को प्रतिविम्ववाद के रूप में ग्रहण किया। इस वाद के अनुसार यह नाम-रूपात्मक दृश्य जगत् ब्रह्म का प्रतिविम्व है। दृश्य जगत् मे जो नाना रूप दिखाई पड़ते है वे तो अनित्य है पर रूपो की जो भावनाएँ या कल्पनाएँ होती है वे अनित्य नही है, वे कल्पना चित्र नित्य है। इन्ही कल्पना चित्रों से उस आत्म जगत् को जान सकते है जिसे 'आलमे गैव' और 'आलमे ख्वाव' भी कहते है। सूफियों की धारणा के अनुसार आँख मूँदने पर किसी वस्तु का जो रूप दिखाई पड़ता है वही उस वस्तु की आत्मा या सार सत्ता है।

सूफियों की उक्त धारणा के आधार पर इग्लैण्ड के रहस्यवादी कवि विलियम ब्लैक ने अपने कल्पनावाद की प्रतिष्ठा की और यह कहा कि—

"कल्पना का लोक नित्य लोक है। यह शाश्वत और अनन्त है। उस नित्य लोक मे उन सब वस्तुओ की नित्य और पारमार्थिक सत्ताएँ है जिन्हें हम प्रकृति रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित देखते है।"

शुक्लजी कहते है कि सूफियो के कल्पनावाद के अनुरूप की ब्लैक ने दृश्य जगत् से परे 'परम कल्पना' का प्रतिपादन 'परम आत्मा' के समान किया और मानव कल्पना को उस 'परम कल्पना' का अंग माना है। प्रकृति के नाना रूपों को उसी की छाया कह दिया। इस प्रकार कल्पना को इलहाम बनाकर कवियों को पैगम्बर का रूप देकर काव्य के पुनीत क्षेत्र में पाखण्ड का रास्ता खोल दिया।

ब्लैक के अट्ठावन वर्ष पीछे एक प्रतीक रहस्यवाद उठा। उसमें भी कल्पना को यही इलहामी रूप दिया गया और यह माना गया कि कल्पना दूसरे के अन्त.करण मे अज्ञात रूप से प्रवेश पा लेती है। बैठे-बैठे अन्य देश और अन्य काल की घटनाएँ देख लेती है। इस प्रकार असीम-ससीम के राग की गूँज उठने लगती है। योरोपीय साम्प्रदायिक रहस्यवाद में ब्लैक का कल्पनावाद क्रोचे का अभिव्यंजनावाद तथा कलावाद का सम्मिश्रण हुआ है। इस प्रकार का रहस्यवादी पूर्ण गोचर को सामने पाकर अगोचर, अभौतिक की अपनी लालसा प्रकट करता है। कल्पना मे आए हुए रूप वस्तुत. गोचर प्रकृति ही के है। हमारे भाव वस्तुत: वाह्य प्रकृति के गोचर रूपों ही के प्रति होते है, इसीलिए कल्पना मे आई उनकी छाया भी हमे रसमग्न कर देती है। वाह्य प्रकृति के गोचर रूप-व्यापार ही हमारे हृदय के भावों के आलम्बन होते है साम्प्रदायिक रहस्यवादी उक्त कल्पनावाद का सहारा लेकर अनुभूति के स्वाभाविक क्रम का विपर्यय कर देते है अर्थात् वे हमारे हृदय के मूल आलम्बनों को छाया और छाया को मूल आलम्बन वनाकर काव्य क्षेत्र मे एक वहुत वडा आडम्बर खडा कर देते है। इसी कारण ऐसे रहस्यवादियों के द्वारा की गई भावाभिव्यंजना असत्य तथा भद्दी नकलसी जान पड़ती है। यद्यपि रहस्यवादी की भव्य रूप-योजना और उसके प्रति भावाभिव्यजना वाह्य गोचर प्रकृति के ही आकर्षण या प्रेम से प्रेरित होती है और उसी के

प्रति होती है,परन्तु वह पाठक के मन में अपनी साम्प्रदायिक भावनाओं का आश्रय लेकर ऐसी झूठी प्रतीति उत्पन्न करना चाहता है कि उसके भाव इन तथाकथित छायात्मक रूपों के प्रति सर्वथा नही है; यह तो इन रूपों के परे जो अगोचर और अव्यक्त पारमार्थिक सत्ता है उसके प्रति है। अपनी इसी असत्य भावना को प्रकट करने के लिए वह अभिव्यजना रीति में भी अलौकिकता, अस्वाभाविकता, विचित्रता लाने का यत्न करता है। भावों की असत्यता और व्यजना की इसी कृत्रिमता के ही कारण शुक्लजी की इस रहस्यवादी प्रकृति के प्रति विरक्ति उत्पन्न हुई है। वास्तव मे वे स्वाभाविक रहस्य भावना के विरोधी नही है। ब्रह्म और जगत् की एकता की अनुभूतियो मे उन्हे सर्ववाद की झलक तथा सत्यता, स्वाभाविकता की प्रतीति हुई है। इसी एकता का आधार लेकर वुद्धि प्रयास द्वारा प्रतिष्ठापित सर्ववाद का सहारा पाकर जव किसी भक्त कवि की मनोवृत्ति रहस्योन्मुखी होगी तव वह अपने को जगत् के नाना रूपो के सहारे उस परोक्ष सत्य की ओर ले जाता हुआ जान पड़ेगा यह एक स्वाभाविक रहस्य भारना होगी। इस भावना के आलम्वन व्यक्त जगत् के ही होगे। इसके लिए किसी छायात्मक रूपो का आलम्वन कल्पित करना नही पडेगा। यह स्वाभाविक रहस्य भावना वड़ी रमणीय और मधुर भावना है। शुक्लजी इसे अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियो मे से एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा (Mood) मानते है। अन्यान्य अनुभूतियो के साथ सच्चे कवि इस मनोवृत्ति का भी अनुभव कर सकते है।

स्वाभाविक रहस्य भावना का मूल—शुक्लजी कहते है 'अज्ञान का राग' मानव की अन्तर्वृत्ति को रहस्योन्मुख कर देता है। ज्ञान का राग जिस प्रकार वुद्धि को नाना तत्त्वो के अनुसन्धान की ओर प्रवृत्त करता है और उसकी सफलता पर सन्तुष्टि अनुभव करता है उसी प्रकार 'अज्ञान का राग' मनुष्य को ज्ञान के प्रसार के साथ-ही-साथ फैलते हुए अज्ञान के अन्धकार या धुँधलेपन की ओर आकर्षित करता है। इस स्थिति मे वुद्धि की असफलता भी विशेष तुष्टि प्रदान करने लगती है। इस विश्व की विशाल

विभूति के भीतर अनेक ऐसे दृश्य है जिनके प्रति मानव-बुद्धि प्रयास करने के अनन्तर भी हार-थक जाती है उस समय यही वृत्ति उसे कुछ सन्तुष्टि प्रदान करती है। विश्व के नाना दृश्य मानव की कल्पना में विद्यमान अनेक आध्यात्मिक रूपो के आलम्बन बन जाते है और इसे आनन्द मग्न करने लगते हैं। यही सच्ची रहस्य भावना है जो काव्य के लिए उपयोगी कही जा सकती है। यह एक प्रकार से जिज्ञासा से उत्पन्न होने वाली रहस्य भावना है। इसके साथ किसी साम्प्रदायिक भावना या वाद के साथ कोई सम्बन्ध नही होता है। इसके साथ तो प्रकृति के क्षेत्र के किसी अभिव्यक्त सौन्दर्य या माधुर्य मे उठे हुए आह्लाद की अनुभूति का सम्मिश्रण रहता है। ऐसे सौन्दर्य के प्रति हृदय मे उत्पन्न हुई उत्सुकता या अभिलाषा वस्तुतः व्यक्त या ज्ञात के प्रति ही होगी।

जिज्ञासा से उत्पन्न रहस्य भावना कभी-कभी अज्ञात की ओर भी सकेत करती चलती है। ऐसी स्थिति में यदि केवल अज्ञात की ओर अनिश्चित संकेत मात्र रहते है तो उसे काव्य क्षेत्र मे ग्रहण किया जा सकता है। जब इस स्वाभाविक अनुभूति की सीमा से आगे बढकर कोई उस अज्ञात को अव्यक्त और अगोचर कहने लगता है और उसका चित्रण भी पूरे ब्योरे के साथ करने लगाता है तव एक प्रकार से वह अपनी दिव्य दृष्टि की छाप अन्य हृदयों पर अकित करने का अनुचित प्रयास करता है। सारांश यह है कि शुक्लजी किसी वाद को आधार बनाकर इस रूप मे चलने वाली रहस्यानुभूति को काव्य मे स्थान नही देना चाहते है।

अभिव्यंजनावाद—साम्प्रदायिक रहस्यवाद के मूल मे शुक्लजी के कथनानुसार इटली निवासी क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भी है। अभिव्यंजना वाद के मूल में कलावाद अर्थात् 'कला कला ही के लिए है' यह सिद्धान्त विद्यमान है। कलावाद यह कहता है कि जिस प्रकार बेल-बूटे और नक्काशी का सम्बन्ध जगत् या जीवन की किसी वास्तविक दशा, स्थिति या तथ्य से नहीं होता, उसी प्रकार काव्य का भी नहीं होता। शिल्पकार या कलाकार के मन में सौन्दर्य की भावनाएँ जिन रूप-रेखाओं या आकारों मे प्रस्फुटित

होती हैं उन्हीं रूपों और आकारो को वह बेल-बूटों और नक्काशियो मे अभिव्यंजित कर देता है। वे बेल-बूटे कल्पना की स्वतन्त्र सृष्टि होते है। जीवन के किसी वास्तविक तथ्य, भाव या विचार के रूप मे उनका अर्थ ढूँढना व्यर्थ है । अपने अर्थ वे ही है। यही बात काव्य के सम्वन्ध मे भी समझनी चाहिए ।

शुक्लजी उक्त धारणा को स्वीकार नही करते है वे यह नही मानते है कि काव्य का प्रभाव या उद्देश्य मूर्त्ति निर्माण, चित्रकला, भवन निर्माण कला के समान केवल मनोरंजन होता है। इसी कारण वे काव्य को सामान्य कला के रूप में ग्रहण करना नही चाहते है। वे कला शब्द को काव्य समीक्षा दे ही देखना नही चाहते है। वे तो इससे शीघ्रातिशीघ्र पीछा छुडाना चाहते है। इस प्रकार वे प्राचीन भारतीय आचार्यो का ही समर्थन करते है, जिन्होने काव्य को चौसठ कलाओं से पृथक् मानकर ही उसकी मीमांसा की है। क्रोचे ने उक्त कलावाद की धारणा को शास्त्रीय रूप देने का प्रयास अपने 'सौन्दर्य शास्त्र' में किया। इस प्रकार उसने अपने अभिव्यजनावाद का प्रवर्त्तन किया और काव्य को कला के अन्तर्गत मानकर यह कहा कि अभिव्यंजना से अलग कोई अभिव्यंग्य वस्तु या अर्थ नहीं होता है। काव्य की उक्ति किसी दूसरी उक्ति का प्रतिनिधित्व नही करती है। इसी धारणा के अनुसार मानव की अन्तः प्रकृति के भाव, शारीरिक चेष्टाएँ तथा बाह्य प्रकृति के विभिन्न रूप और व्यापार काव्य में उपादान सामग्री के रूप मे है । इस अवस्था में उनमे परस्पर प्रस्तुत-अप्रस्तुत या अलंकार्य-अलकार का कोई प्रश्न नही हो सकता है।

इसके अतिरिक्त अभिव्यजनावाद में अभिव्यंजना के व्यवसाय को इस जगत् और जीवन से स्वतन्त्र-वाह्य प्रकृति और अन्तः प्रकृति से परे-आत्मा की अपनी निजी क्रिया माना गया है। क्रोचे ने आत्मा की दो क्रियाएँ—विचारात्मक और व्यवहारात्मक वर्णित की है। विचारात्मक क्रिया के भी दो भेद किये है—कला सम्बन्धी ज्ञान और तर्क सम्बन्धी ज्ञान। कला सम्बन्धी ज्ञान के अन्तर्गत स्वयं प्रकाश ज्ञान अर्थात् कल्पना में उद्भुत ज्ञान—किसी

एक विशेष वस्तु का ज्ञान—लिया है। स्वयंप्रकाश ज्ञान मन मे बिना बुद्धि की क्रिया के उठी हुई मूर्त्त भावना है। यह मूर्त्तभावना या कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया है जो दृश्य जगत् के नाना रूपों और व्यापारों को द्रव्य या उपादान की तरह लेकर हुआ करती है। कल्पना उस स्थूल द्रव्य को लेकर एक रूप-साँचा खड़ा करती है और उस द्रव्य को साँचे में ढालकर अपनी कृति को गोचर या व्यक्त करती है। इस प्रकार कला के क्षेत्र मे यह साँचा (Form) ही सब कुछ है। द्रव्य या सामग्री ध्यान देने की वस्तु नही। सक्षेप मे यदि कहा जाए तो स्वयप्रकाश ज्ञान का साँचे में ढलकर व्यक्त होना ही कल्पना है और कल्पना ही मूल अभिव्यजना है जो भीतर होती है और शब्द, रग आदि द्वारा बाहर प्रकाशित की जाती है। क्रोचे के अनुसार कला की अभिव्यजना का क्रम निम्नलिखित रूप मे कहा जा सकता है—

१ अन्त. सस्कार, २. अभिव्यजना अर्थात् कला परक आध्यात्मिक योजना या कल्पना, ३ सौन्दर्य की भावना से उत्पन्न आनुषगिक आनन्द ४ कला परक आध्यात्मिक वस्तु (कल्पना) का स्थूल भौतिक रूपो मे अवतरण।

उक्त चारों विधानो के पूरा हो जाने पर अभिव्यजना का अनुष्ठान पूर्ण हो जाता है। यह स्पष्ट है कि क्रोचे के इस अभिव्यजनावाद मे 'कल्पना-पक्ष' को प्रधानता दी गई है और उसे ज्ञानात्मक कहा गया है। शुक्लजी भारतीय रस सिद्धान्त के अनुसार कल्पना का मूलरूप भावात्मक स्वीकार करते है। भावानुभूति के योग मे ही कल्पना का स्थान काव्य-विधान मे माना जा सकता है। भाव द्वारा प्रेरित होकर भाव का प्रवर्त्तन करनेवाली कल्पना ही उनकी दृष्टि मे काव्य विधायिनी मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त कल्पना मे उठे हुए रूपो को—प्रतीति-मात्र को ज्ञान कहना भी वे उचित नही समझते। इस प्रकार अपनी प्रिय अन्तर्दशा को ज्ञान की सज्ञा देकर महत्त्व देने का प्रयास ही माना जा सकता है। इससे तो अपनी सामान्यत: बेठौर-ठिकाने की अन्तर्दशा भी ज्ञान की संज्ञा पाकर आध्यात्मिक या पारमार्थिक ज्ञान का कृत्रिम रूप धारण कर सकती है। शुक्लजी कल्पना

मे आए हुए रूपों को बाह्य जगत् के रूपों की छाप ही मानते है उन्हें आत्मा की क्रिया नही मानते। जन्मान्धों और आँख वालो की कल्पना मे इसी कारण पर्याप्त विषमता सिद्ध की जा सकती है।

क्रोचे की इस बात से भी शुक्लजी सहमत नहीं है कि प्रकृति के नाना रूप, व्यापार, जीवन की भिन्न-भिन्न घटनाएँ या तथ्य द्रव्य या उपादान मात्र है अतः इनके औचित्य-अनौचित्य के विचार की आवश्यकता नही है। वे कहते है कि लोक की रीति-नीति,आचार-व्यवहार की दृष्टि से अनौचित्य शिल्प अर्थात् बेल-बूटे, नक्काशी आदि की सौन्दर्य भावना मे तो कोई बाधा नही डालता, पर काव्य का प्रभाव कभी-कभी बहुत हलका कर देता है। भारतीय रस सिद्धान्त की दृष्टि मे यदि भाव-व्यजना मे भाव अनुचित है, ऐसे के प्रति है जैसे के प्रति न होना चाहिए तो रस दशा के लिए अपेक्षित साधारणीकरण नही हो सकेगा, श्रोता या पाठक का हृदय उस भाव की रसात्मक अनुभूति ग्रहण न करेगा। यह स्पष्ट है कि शुक्लजी इग्लैण्ड के प्रसिद्ध समालोचक आई० ए० रिचर्ड्स के अनुरूप सदाचार मे काव्य कला का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते प्रतीत होते है।

क्रोचे कला मे अनुभूति को महत्त्व देना चाहते, क्योकि अनुभूति के सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों पक्ष होते है। काव्य मे प्रायः इन दोनो पक्षो की व्यजना रहती है। यदि अनुभूति को महत्त्व दिया जाएगा तो दुःखात्मक अनुभूति के लिए काव्य रचना या पठन व श्रवण अव्यावहारिक हो जाएगा। अत काव्यानुभूति को भावानुभूति के रूप मे स्वीकार ही नहीं करना चाहिए। शुक्लजी कहते है कि क्रोचे द्वारा उपस्थित प्रश्न बहुत पुराना है। भारतीय साहित्य ग्रन्थों मे जो इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया गया है यद्यपि वह पूर्ण सन्तोषजनक नही है तथापि उससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि काव्यानुभूति तो भावानुभूति के ही रूप मे होती है। उसे आनन्द स्वरूप ही कहा जाए इसके लिए शुक्लजी कोई विशेष आग्रह प्रदर्शित नही करते है। वे दुःखात्मक अनुभूति की व्यजना से उत्पन्न अनुभूति को दुःखस्वरूप ही मानते हैं अर्थात् करुणा भाव की अनुभूति से उत्पन्न आँसू

दुःख के ही होते है आनन्द के नही परन्तु हृदय की मुक्तावस्था के कारण वह दु ख भी रसात्मक हो जाता है। इसी प्रसग मे वे यह भी स्पष्ट कर देते है कि क्रोचे भी भावानुभूति से पीछा नही छुड़ा सका है। वह द्रव्य को भावात्मकता कहता है (Matter is emotivity not aesthetically elaborated) इस भावात्मकता का यदि कोई अर्थ हो सकता है तो यही कि मन मे सचित बाह्य जगत् के नाना रूपो मे भावो के उद्बोधन की शक्ति होती है। शुक्लजी को काव्य द्रव्य की यह परिभाषा मानने मे कोई आपत्ति नही है।

अलंकारो के सम्बन्ध मे क्रोचे की यह धारणा है कि उक्ति से भिन्न अलकार कोई वस्तु नही है। शुक्लजी अलकार्य और अलंकार का भेद मानते है और कहते है कि उक्ति भले ही कितनी ही कल्पनामयी हो परन्तु उसके मूल मे कोई-न-कोई प्रस्तुत अर्थ अवश्य रहता है। इसी अर्थ के आधार पर उक्ति के सौन्दर्य की परीक्षा सम्भव हो सकती है। क्रोचे कला क्षेत्र मे 'सौन्दर्य' शब्द से भी उक्ति के सौन्दर्य का ही अर्थ लेता है प्रस्तुत वस्तु के सौन्दर्व का नही। शुक्लजी काव्य स्वरूप की दृष्टि से 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग ही उचित नही मानते। इसके स्थान पर 'रमणीय' शब्द का ही प्रयोग करना चाहते है। 'सुन्दर' शब्द बाह्यार्थ की ओर संकेत करता है और रमणीय शब्द हृदय की ओर। यह 'सुन्दर' शब्द काव्यानुभूति के स्वरूप को ही संकुचित करता है। प्रत्येक कविता का ग्रहण सौन्दर्यानुभूति के रूप मे नही होता; अतएव शुक्लजी सौन्दर्य शास्त्र मे काव्यमीमासा का प्रसग उठाना उचित नही मानते है। उक्त सब बातों के आधार पर उन्होने अभिव्यजनावाद का विरोध किया है।

प्रतीकवाद—सन् १८८५ के लगभग प्रतीकवादियों का एक सम्प्रदाय फ्रॉस मे खडा हुआ, जिसमे अनूठे रहस्यवाद और भावोन्मादमयी भक्ति का सहारा लिया। इस वाद ने प्रतीकों के सर्वसम्मत, सामान्य व्यवहार को अतिरजित रूप मे प्रस्तुत करने का यत्न किया। इसी कारण उसने परोक्षवाद (Occultism) का सहारा लिया। प्रतीकों मे भावोद्बोधिनी शक्ति

उन वस्तुओ के स्वरूपगत आकर्षण से, चिर-परिचित आरोप के बल से तथा वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा के प्रभाव मे उत्पन्न होती है जैसे कुमुदिनी से शुभ्रहास की, चन्द्र से मृदुल आभा की, समुद्र से विस्तार और गम्भीरता की, वीणा से वाणी या विद्या की, चातक से निस्वार्थ प्रेम की प्रतीति स्वभावतः ही होने लगती है। प्रतीकवादियो ने इस स्वाभाविक प्रक्रिया को न अपनाकर एक नवीन प्रक्रिया की कल्पना की है। इसके अनुसार मन के विस्तार से महामन का, स्मृति के विस्तार से महास्मृति का उद्घाटन हो जाता है। इस महामन और महास्मृति का आह्वान प्रतीकों द्वारा उसी प्रकार हो सकता है जिस प्रकार तान्त्रिकों के द्वारा विविध चक्रों या यन्त्रो द्वारा देवताओ का। इस प्रक्रिया को स्वीकार करके प्रतीकवादी यह प्रतिपादित करते है कि प्रकृति के जिन रूपो और व्यापारो का कवि अपनी रचना मे उल्लेख करेगा वे प्रतीकमात्र होगे। कवि की दृष्टि वास्तव में उन प्रतीको के प्रति न मानी जाकर उन अज्ञात और परोक्ष शक्तियों के या सत्ताओ के प्रति मानी जाएगी जिनके वे प्रताक होगे। दूसरे शब्दों में यदि प्रकृति का वर्णन करेगे तो उनका अनुराग प्रकृति के नाना रूपों के परदे के भीतर छिपी हुई अज्ञात और अव्यक्त सत्ता के प्रति समझना चाहिए। इस प्रकार प्रतीकवादी काव्य की रचनाओं का सम्वन्ध व्यक्त पार्थिव जगत् से हटा लेते है फलतः काव्य का लक्ष्य इस जगत् और जीवन से अलग हो जाता है।

शुक्लजी प्रतीकवादियो की इस प्रक्रिया को तथा लक्ष्य को यथावत् स्वीकार नही कर सकते, परन्तु वे यह मानते है कि प्रतीक रूप में वस्तुओं का व्यवहार कविता मे बरावर होता आया है। किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की भावना तत्काल मन में आ जाती है उसी प्रकार काव्य में प्रतीक रूप से वर्णित वस्तुएँ भी मनोविकारों या भावनाओ को जगाने मे समर्थ हो जाती हैं। जैसे कमल, चन्द्र, समुद्र, आकाश, चातक आदि प्रतीक रूप मे वर्णित होकर माधुर्यपूर्ण सौन्दर्य की; आभा की; विस्तार की; सूक्ष्मता की तथा

निस्वार्थ प्रेम की व्यंजना कर देते है। काव्य में ऐसे प्रतीको का व्यवहार होता आया है और हो सकता है। इस सम्बन्ध में यह बात विशेष ध्यान रखने के योग्य है कि थोड़े से ही प्रतीक सार्वभौम हो सकते है। भिन्न-भिन्न देशों की परिस्थिति और संस्कृति के अनुसार प्रतीक भी भिन्न-भिन्न हुआ करते है।

प्रतीकों का व्यवहार भारतीय काव्य में प्रायः अलंकार प्रणाली के भीतर हुआ है। इसका यह अर्थ नही लेना चाहिए कि दोनो प्रतीक और उपमान एक ही है। प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नही होता अपितु भावोद्बोधन की शक्ति होती है। अलकार प्रणाली मे प्रयुक्त उपमानो का आधार मुख्यतः सादृश्य और साधर्म्य ही होता है। जिन उपमानों मे प्रतीकत्व भी होता है उनसे काव्य की शोभा बढ जाती है। सारांश यह है कि शुक्लजी प्रतीक प्रयोग को काव्य मे उचित समझते है, परन्तु वे इसे इतनी दूर तक घसीटना नही चाहते कि वह एक वाद का रूप धारण कर ले।

छायावाद—इस प्रकार योरोप मे प्रचलित साम्प्रदायिक रहस्यवाद, अभिव्यजना, कलावाद तथा प्रतीकवाद के अनुकरण पर हिन्दी कविता में 'छायावाद' नाम से एक वाद प्रचलित हुआ। खडी बोली हिन्दी की कविता अपने स्वाभाविक विकास क्रम के अनुसार अपने नवीन रूप को प्रकट कर रही थी। द्विवेदी युग की इत्तिवृत्तात्मकता, नीति सत्ता धीरे-धीरे दूर होती जा रही थी। मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय आदि कई कवि खडी बोली कविता को अधिक कल्पनामय, चित्रमय तथा भावाभिव्यंजक रूप देने में प्रवृत्त थे। इसी समय रवीन्द्रनाथ की रहस्यात्मक कविताओं की धूम मचने लगी। ये कविताएँ पाश्चात्य ढाँचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर लिखी गई थी। पुराने ईसाई सन्त अपनी अन्त. साधना के द्वारा प्राप्त की हुई भावनाओं को आध्यात्मिक ज्ञान का आभारा देते हुए नाना रूपकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया करते थे। इस रूपात्मक आभास को योरोप में छाया (Phantasmata) कहा जाता था। इन ईसाई सन्तों की वाणी का तथा योरोपीय काव्य क्षेत्र में प्रवर्त्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद का अनुकरण करके

जो आध्यामिक गीत बगाल मे ब्रह्म समाज के अनुयायियों द्वारा निर्मित होने लगे उन्हें छायावाद कहा जाने लगा। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से बगला के साहित्य क्षेत्र मे आया और फिर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के अनुकरण पर हिन्दी साहित्य मे भी इसका प्रचार व प्रसार होने लगा।

शुक्लजी का सवसे बड़ा आक्षेप छायावाद पर यही है कि इसके कारण काव्य के क्षेत्र मे पाश्चात्य साम्प्रदायिक वादो के आधानुकरण पर 'कल्पना' को अत्यन्त महत्त्व प्रदान कर दिया गया है, फलतः जिस प्रकार रमणीय वस्तुओ की कल्पना की जाती है उसी प्रकार नाना प्रकार की विचित्र भावानुभूतियों की भी कल्पना की जाने लगी। वे कहते है कि योजना भले ही कल्पना चमत्कार से दिव्य, लोकोत्तर तथा चमत्कार विधायिनी हो परन्तु भावानुभूति का स्वरूप सच्चा ही होना चाहिए। यदि भावानुभूति का स्वरूप भी कल्पित होगा तो अन्य हृदयों से उसका सम्वन्ध स्थापित न हो सकेगा। जैसे यदि कोई मृत्यु को केवल जीवन की पूर्णता कहकर उसकी प्रवल लालसा प्रकट करे, अपने मर मिटाने के अधिकार पर गर्व की व्यजना करे तो कथन के वैचित्र्य से हमारा मनोरंजन तो अवश्य होगा, परन्तु आश्रय या कवि के साथ पाठक व श्रोता के हृदय का तादात्म्य नही हो सकेगा। रसानुभूति के लिए इस तादात्म्य की अनिवार्यतः आवश्यकता है।

शुक्लजी कहते है कि 'छायावाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थो मे समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में दूसरा काव्य शैली के व्यापक अर्थ में। प्रथम अर्थ मे 'छायावाद' का सम्बन्ध काव्य वस्तु से है। इसमें कवि अनन्त, असीम, अज्ञात, अव्यक्त ब्रह्म को प्रियतम में कल्पित करके उसके प्रति चित्रमयी भाषा मे अनेक प्रकार के प्रतीकों के माध्यम से अपनी लालसा, मिलन की अभिलापा, प्रेमजन्य विरह की वेदना, मिलन जन्य उल्लास हर्ष पुलको की अभिव्यजना करता है। शुक्लजी छायावाद का यही मूल अर्थ मानते है। इस रूप मे उनका आक्षेप वही है जो साम्प्रदायिक रहस्यवाद के सम्वन्ध में स्पष्ट किया जा चुका है। उन्हे अज्ञात और अव्यक्त के प्रति अभिव्यक्त की गई प्रेम-लालसा की अनुभूतियाँ अस्वाभाविक प्रतीत होती है।

छायावाद अपने पहले अर्थ मे जिस प्रकार ईसाई सन्तो के छायाभासों का अनुकरण करके प्रचलित हुआ उसी प्रकार अपने दूसरे अर्थ मे वह फ्रास के प्रतीकवाद का आश्रय लेकर अग्रसर हुआ । फ्रास मे आध्यात्मिक प्रेम सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त और सब प्रकार की कविताओ के लिए भी प्रतीक शैली को अपनाया जाने लगा। ठीक इसी प्रकार हिन्दी में 'छायावाद' का अर्थ सामान्यत: प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यजना करने वाली छाया के रूप मे अप्रस्तुत का कथन ही समझा जाने लगा । इस प्रकार अभिव्यजना प्रणाली के अर्थ मे छायावाद को काव्य मे स्थान देने का यह दुष्परिणाम हुआ कि काव्य मे भावानुभूति के स्थान पर कल्पना विधान को प्रमुखता मिल गई। छायावादी कवियो की मुख्य प्रवृत्ति अप्रस्तुतों की योजना, लाक्षणिक चित्रमयता तथा विचित्रता उत्पन्न करने की ही हो गई फलत. नाना विषयो को लेकर काव्य का प्रसार रुक-सा गया । जगत् और जीवन के नाना मार्मिक पक्षो की अवहेलना होने लगी । जीवन की अनेक परिस्थितियो की ओर ले जाने वाले प्रसगों या आख्यानों की उद्भावना भी बन्द-सी हो गई । शुक्लजी का इस रूप के सम्बन्ध में सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि अप्रस्तुत योजना की झोक में प्रकृति के नाना रूपो तथा व्यापारो पर मनमाने आरोप किये जाने लगे है । प्रकृति के नाना रूपों के सौन्दर्य की भावना सदैव स्त्री-सौन्दर्य का आरोप करके करना इसी दोष का उदाहरण कहा जा सकता है । इसके अतिरिक्त शैली रूप मे छायावाद के अत्यधिक प्रचलन से रसानुभूति के लिए आवश्यक विभाव पक्ष सर्वथा विलुप्त या अनिर्दिष्ट हो गया और काव्य का विषय क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो गया अनेक प्रकार के प्रेमोद्गारों तक ही काव्य की गति-विधि बध सी गई ।

शुक्लजी की छायावादी प्रणाली की विधान सम्बन्धी कई विशेषताएँ ग्राह्य है । वे कहते है कि छायावादी शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ । इसमे भावावेश की आकुल व्यजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पद विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप सघटित करने वाली प्रचुर सामग्री

वास्तव में उपादेय कही जा सकती है । छायावाद की आभ्यन्तर प्रभाव साम्य लेकर की जाने वाली अप्रस्तुत योजना भी शुक्लजी ने काव्य की दृष्टि से उत्तम मानी है । प्रभाव साम्य के अधार पर लाक्षणिक और व्यजनात्मक पद्धति का उत्कृष्ट रूप में विकास छायावाद की विशेपता है । खडी वोली की प्रारम्भिक रूखी-सूखी इत्तिवृत्तात्मक कविताओं मे काव्यत्व एव सरसता की सृष्टि छायावाद के उक्त गुणों के कारण से उत्पन्न हुई है । इस दृष्टि से वह वस्तुतः सराहनीय है ।

प्रबन्ध काव्य तथा मुक्तक काव्य—शुक्लजी रसवादी आचार्य है । प्रबन्ध काव्य मे—महाकाव्य मे—रस की धारा प्रवाहित होती है, परन्तु मुक्तक एक प्रकार से रस के छीटे होते है । इसके अतिरिक्त महाकाव्य में मानव जीवन का पूर्ण दृश्य होता है । मुक्तक मे जीवन के किसी एक ही भाव की व्यंजना मात्र रहती है । शुक्लजी की काव्य सम्बन्धी धारणा मुक्तकों की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य—महाकाव्य या खण्डकाव्य—को ही अधिक महत्त्व देती है ।

नाटक—शुक्लजी ने पाश्चात्य नाटको तथा प्राचीन सस्कृत नाटकों की प्रवृत्ति का तुलनात्मक अनुमन्धान किया है और इस परिणाम पर पहुँचे है कि भारतीय काव्य शास्त्र में रूपक या नाटक भी काव्य है अतएव इस रूप में भी प्रधान लक्ष्य 'रस' ही रहता है । पाश्चात्य नाटको की प्रधान प्रवृत्ति अन्तःशील के वैचित्र्य प्रदर्शन की ओर है । हिन्दी नाटकों मे इन दोनों लक्ष्यों का समन्वय हो गया है । शुक्लजी की नाटक सम्बन्धी धारणा इसी समन्वय को प्रधानता देती है । वे इस सम्वन्ध मे पाश्चात्य नाटक प्रवृति का अन्धानुकरण नही करना चाहते । वे तो हिन्दी नाटको में दोनों ही विशेपताओं-भावात्मकता तथा जीवन की वास्तविकता का सम्मिश्रण देखना चाहते है । उनकी धारणा है कि काव्य की अपेक्षा नाटक मे भावव्यंजना या चमत्कार के लिए स्थान परिमित होता है, क्योकि उसमें भाषा अपने अर्थोन्मेष का कार्य सीधे ढग से करती है । भावोन्मेष का कार्य बीच-बीच मे ही प्रसंगानुसार स्थान प्राप्त कर सकता है ।

कथात्मक गद्यकाव्य उपन्यास या छोटी कहानी—भावोन्मेष की स्थिति

को आधार बनाकर काव्य का तीसरा भेद शुक्लजी ने कथात्मक गद्य काव्य कहा है। कथात्मक गद्य काव्य का स्थान अब उपन्यासों और छोटी कहानियो ने ले लिया है। वे काव्य के इस रूप मे भावोन्मेष की अधिकता उपादेय नही मानते है। इस रूप में अर्थबोध अपने प्रकृत रूप मे अधिक विद्यमान रहता है। भाव-विधान या उक्तिवैचित्र्य की मात्रा अत्यल्प ही रहती है। कथा प्रवाह के अन्तर्गत घटनाएँ ही पाठक का मर्म स्पर्श करती है; अतएव पात्रों द्वारा भावों की लम्बी-चौड़ी व्यजना अपेक्षित नही रहती।

भारतीय कथात्मक गद्य काव्य अलकृत और रसात्मक रहा है। इसके लिए वस्तुत. आधुनिक उपन्यास का बंगला के माध्यम से आया अग्रेजी ढाँचा अधिक उत्कृष्ट है। शुक्लजी उपन्यासो मे जीवन के विविध पक्षो को विन्यस्त देखना चाहते हैं। अन्तर्वृत्तियों का यथार्थ स्वरूप पात्रों की चेष्टाओं के रूप मे वर्णित करना उनकी दृष्टि मे उत्तम है। सामाजिक उपन्यासों मे देश की सामान्य जीवन-पद्धति ही अंकित होनी चाहिए। योरोपीय सभ्यता के साँचे मे ढले हुए छोटे से समुदाय के जीवन का चित्रण अधिक मात्रा मे नही होना चाहिए। ये उनकी धारणा के अनुसार आधुनिक जीवन के एक पक्ष तो है, परन्तु सामान्य पक्ष नही। वे छोटी कहानी को उपन्यास के समान ही प्रतिपादित करते है और उसे अत्यन्त मार्मिक समझते है।

काव्यात्मक गद्यप्रबन्ध : गद्यकाव्य—काव्यात्मक गद्यप्रबन्ध या लेख शुक्लजी की दृष्टि के अनुसार छन्द के बन्धन से मुक्त काव्य ही है। इसमें अर्थ बोध कही तो प्रकृत और सीधे रूप में विद्यमान रहता है और कही भाव या चमत्कार द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। वे साहित्य मे इस प्रकार के गद्यप्रबन्धो का विशिष्ट स्थान मानते है, परन्तु इनकी अधिकता को उपादेय नही मानते है। उनका विचार है कि इस प्रकार के गद्य प्रबन्धों की अधिकता से गद्य के विकास मे तथा भाषा की शक्ति की वृद्धि मे बहुत बाधा पडेगी।

निबन्ध—साहित्य के उक्त चारो रूपो मे कल्पना प्रसूत वस्तु या अर्थ की प्रधानता रहती है, परन्तु निबन्ध रूप मे विचार प्रसूत अर्थ अगी होता

है। आप्तोपलब्ध या कल्पित अर्थ उसके अंग रूप होकर आते हैं। निबन्ध वस्तुतः अर्थ प्रधान होता है। व्यक्तिगत वैचित्र्य अर्थ के साथ मिला-जुला रहता है। हृदय की प्रवृत्तियाँ या भाव बीच-बीच में अर्थ के साथ आकर अपना आभास देते रहते हैं। इस प्रकार शुक्लजी की धारणा के अनुसार निबन्ध के प्रकृत रूप में विचार प्रवाह, व्यक्तिगत वैचित्र्य तथा हृदय के भावों के समन्वय की अपेक्षा है।

'शुक्लजी की आलोचना पद्धति'

समालोचना साहित्य—शुक्लजी के आचार्यत्व की समीक्षा करने के लिए उनकी समालोचना-पद्धति पर भी विचार करना आवश्यक है। सर्वप्रथम इस सम्बन्ध मे यही कहा जा सकता है कि वे समीक्षात्मक रचनाओ को भी साहित्य के अन्तर्गत मानते है। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि वे समालोचनात्मक साहित्य की अपेक्षा रचनात्मक साहित्य को अधिक महत्त्व देते है। उनका कथन है कि लक्ष्य ग्रन्थो के अनन्तर ही लक्षण ग्रन्थो की रचना की जाती रही है। लक्ष्य ग्रन्थो की व्याख्या तथा परीक्षा के लिए ही लक्षण ग्रन्थों की आवश्यकता है, अतः साहित्य मे प्रमुखता रचनात्मक साहित्य को ही मिलनी चाहिए।

समालोचना का उद्देश्य—शुक्लजी समालोचना का उद्देश्य केवल गुण-दोष विवेचन ही नही मानते है। उत्कृष्ट समालोचना वही होती है जिसमे गुण-दोष विवेचन को ही प्रमुखता न देकर कवि की विशेषताओ का दिग्दर्शन कराने के लिए उसकी विचारधारा की छानबीन की जाए।

समालोचना के भेद—वे समालोचना के दो प्रधान मार्ग मानते है—निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक। निर्णयात्मक आलोचना मे कवि की निन्दा या प्रशसा उसकी रचना के गुण दोषों के आधार पर की जाती है। इसके विपरीत व्याख्यात्मक समालोचना मे, रचना मे वर्णित विषयो को सुव्यवस्थित रूप दे दिया जाता है और उनका स्पष्टीकरण किया जाता है। वह उसका मूल्य निर्धारित नही करती अपितु काव्य-वस्तु के अग-प्रत्यग की विशेषताओं की खोज करती है अथवा रचना के अन्तर्गत भावो की विशद व्याख्या मे तत्पर रहती है। व्याख्यात्मक समीक्षा के ही दो रूप और हो

जाते है—ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक। इन दोनो रूपों में काव्य वस्तु के साथ सम्बन्ध रखने वाली अन्य बहुत-सी बातों का विचार किया जाता है। ऐतिहासिक समालोचना यह निर्धारित करती है कि समीक्ष्य रचना का उसी प्रकार की अन्य रचनाओ के साथ क्या सम्बन्ध है और उसका साहित्य-परम्परा मे क्या स्थान है। मनोवैज्ञानिक समालोचना मे कवि के जीवन-क्रम और स्वभाव आदि के अध्ययन द्वारा उसकी अन्तर्वृत्तियो का सूक्ष्म अनुसन्धान भी किया जाता है।

रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र मे अभिव्यजनावाद, कलावाद, रहस्यवाद और छायावाद के प्रचलन का प्रभाव समीक्षात्मक साहित्य पर पडना आवश्यक था। फलतः प्रभावाभिव्यजक समीक्षा का प्रचलन हुआ। शुक्लजी इस प्रकार की समीक्षा का कोई मूल्य स्वीकार नही करते। वे कहते हैं कि उसे आलोचना कहना ही व्यर्थ है, क्योंकि किसी कवि की आलोचना कोई इसी लिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को ठीक-ठीक हृदयगम करने मे सहारा मिले, इसलिए नही कि आलोचक की भावभंगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की समीक्षा मे प्रायः भाषा विचार मे बाधक बनकर आ खड़ी होती है। शुक्लजी की धारणा के अनुसार विशुद्ध समालोचक के लिए विद्वत्ता और प्रशस्त रुचि दोनों अपेक्षित है। निर्णयात्मक समीक्षा के लिए विद्वत्ता की आवश्यकता है और प्रभावात्मक समीक्षा के लिए प्रशस्त रुचि की अपेक्षा है। निर्णयात्मक आलोचना का ध्यान उन साधनो की ओर रहता है जिनके द्वारा कवि या लेखक अपनी अनुभूतियो को पाठक हृदय तक प्रेषित करने का कार्य सम्पन्न करता है। वह साधन की उपयुक्तता को अपना लक्ष्य बनाती है। उसके आधार पर ही साध्य की सिद्धि की परीक्षा की जा सकती है। प्रभाववादी समीक्षक साध्य को सिद्ध मानकर ही चलता है, अतः वह साधनो की उपेक्षा कर साध्य-सिद्धि को ही अपनी समीक्षा का आधार बना लेता है। शुक्लजी इन दोनो समीक्षाओ का समन्वय देखना चाहते है। वे कहते है कि इन दोनो समीक्षाओ का समन्वय बुद्धि और हृदय

के साथ-साथ चलने से ही हो सकता है। निर्णयात्मक समीक्षा की एक अन्य उपयोगिता वे यह भी कहते है कि इससे साधनहीन कवियो की रोक-टोक हो सकेगी अन्यथा साहित्य क्षेत्र मे अव्यवस्था, अराजकता के साथ-साथ निरर्थक एव अनुपयोगी रचनाएँ भी प्रविष्ट होने लगेगी। केवल प्रभावाभिव्यजक समीक्षा को शुक्लजी, न ज्ञान के क्षेत्र मे, न भाव के क्षेत्र मे, मूल्य प्रदान करना नही चाहते। वे समीक्षा का विचारात्मक स्वरूप ही उपादेय समझते है। योरोपीय साहित्य समीक्षा के नाम से प्रचलित अर्थ शून्य शब्दाडम्बर को वे महत्त्व नही देना चाहते। शुक्लजी अपनी धारणा को स्पष्ट करने के लिए 'समीक्षा' शब्द पर ध्यान देते है। वे कहते है कि समीक्षा का अर्थ अच्छी तरह देखना और विचार करना है, अतः वह जब होगी तब विचारात्मक होगी। कल्पनात्मक या भावात्मक कृति की परीक्षा के लिए दूसरी वैसी ही कल्पना प्रधान तथा भावप्रधान रचना करने से समीक्षा का शुद्ध स्वरूप निर्मित नही हो सकता। शुद्ध समीक्षा भाषा के साकेतिक या तथ्यबोधक प्रयोग से ही हो सकती है। भाव प्रवर्त्तक प्रयोग से नही। कलावादी स्पिगर्न प्रभावाभिव्यजक समीक्षा और विचारात्मक समीक्षा में पुरुष और स्त्री का भेद वर्णित करते है। निर्णयात्मक समीक्षा पुरुष है अर्थात् सक्रिय है और दूसरी प्रभावात्मक समीक्षा स्त्री है अर्थात् निष्क्रिय है। पहली एक प्रतिष्ठित आदर्श को लेकर काव्य की परीक्षा मे प्रवृत्त होती है और दूसरी समीक्षा काव्य के प्रभाव को चुपचाप ग्रहण करती हुई उसी मे मग्न हो जाती है। शुक्लजी पुरुष समीक्षा के पक्षपाती है।

समीक्षा के साधन—शुक्लजी भारतीय काव्य समीक्षा के शास्त्र वर्णित साधनों को अत्यन्त व्यापक एव प्रौढ स्वीकार करते है। उनका विश्वास है कि भारतीय काव्य समीक्षा के शब्द शक्ति, रस, अलकार आदि के आधार पर एक ऐसी समीक्षा प्रणाली प्रतिष्ठापित की जा सकती है जिसके द्वारा हम सारे संसार के सम्पूर्ण साहित्य की आलोचना भली भाँति कर सकते है।

शुक्लजी की समीक्षा पद्धति . समीक्षादर्श—शुक्लजी व्याख्यात्मक समीक्षा के समर्थक है। रस और अलकार आदि प्राचीन तत्त्वो के आधार

पर गुण-दोष विवेचन की शैली को वे रूढ़िगत समीक्षा मानते है। वे उसमें सुधार करना चाहते है। वे कवि की विशेपताग्रो का अन्वेषण और उसकी अन्त. प्रकृति की छानबीन करने वाली समीक्षा को उच्चकोटि की समीक्षा स्वीकार करते है। वे समन्वयवादी समीक्षक है। उन्होने सैद्धान्तिक समीक्षा और प्रयोगात्मक समीक्षा को मिला दिया है। उन्होने जो कुछ सैद्धान्तिक निरूपण किया वही उनकी आलोचना का मान दण्ड हो गया और वे उन सिद्धान्तों तक प्रयोगात्मक समीक्षा द्वारा पहुँचे है। इसके अतिरिक्त उन्होने भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तो का समन्वय किया है। अपने सिद्धान्तो के समर्थन मे दोनो पक्षों मे सामग्री ग्रहण की है। पाश्चात्य सिद्धान्तो मे से जो सिद्धान्त भारतीय परम्परा के अनुकूल है उनको ही स्वीकार किया है।

शुक्लजी रसवादी आचार्य है। उनकी हृदय की मुक्तावस्था रस दशा है, रसानुभूति के समकक्ष है। वे केवल उक्ति वैचित्र्य को ही काव्य नही मानते। काव्यत्व के लिए भाव की प्रेरकता अनिवार्यत स्वीकार करते है। इस पर भी वे भारतीय आचार्यो की भाँति रस को किसी इतर लोक की अनुभूति नहीं मानते। वे रस की कोटियाँ मानकर चले है। उन्होंने प्राचीन साधारणीकरण के सिद्धान्त की नवीन व्याख्या की है। इनके रस सिद्धान्त मे शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना तथा लोक सामान्य भावभूमि की कल्पना नवीन है।

आई० ए० रिचर्ड्स की भाँति वे मूल्यवादी या नीतिवादी समीक्षक है। उन्होंने रसानुभूति को जीवन की वास्तविक अनुभूति से पृथक कोई अन्तर्वृत्ति नही माना है। वे साहित्य और जीवन का सम्बन्ध मान कर चले है। काव्य उनकी दृष्टि में व्यक्त जगत् की अभिव्यक्ति है, इसलिए 'रस' के अनुभूति पक्ष के साथ ही सहृदय समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का भी उन्होंने सूक्ष्म विवेचन किया है। वे काव्य को मनुष्यता की उच्च भूमि तक पहुँचाने का साधन स्वीकार करते है। लोक कल्याण की भावना सदा उनके सम्मुख रहती है, अतएव वे स्वान्तः सुखाय रचना के पृष्ठपोषक नही

है। स्वान्तः सुखाय को जन सुखाय वना देने में ही वे रचनाकार की कृतार्थता स्वीकार करते है। उन्होने 'सद्यः परनिवृत्तये' तथा शिवे तरक्षतये' इन दोनो प्रयोजनों मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इनका नीतिवाद इसी सामंजस्य पर प्रतिष्ठित है।

सौन्दर्यानुभूति को वे प्रायः रसानुभूति के ही समकक्ष स्वीकार करते है। दोनों शव्दो का एक ही अर्थ मे प्रयोग करते है। उनकी दृष्टि में अन्तः सज्ञा की तदाकार परिणति ही सौन्दर्यानुभूति है। रूप सौन्दर्य ही सौन्दर्य नही कर्म सौन्दर्य भी सौन्दर्य का प्रतीक है। वे इन दोनों मे सामजस्य देखना चाहते है। वे व्यक्ति को निरकुश स्वतन्त्रता देने के पक्षपाती नही है व्यक्ति और समाज के सामजस्य को वे प्रमुखता देते है। उनकी दृष्टि मे काव्य व्यक्ति के शील-विकास का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इसके द्वारा बुद्धि, हृदय और कर्मशक्ति तीनों का विकास होता है। इस प्रकार वे नीतिवादी होकर भी कवि को उपदेशक वन जाने का अधिकार नहीं देते। उनकी दृष्टि मे काव्य में नीति-अनीति का विवाद ही निरर्थक है क्योंकि वे शिवं और सुन्दर मे कोई भेद नही मानते है। काव्य में जो 'सुन्दर' है वही 'शिव' है।

वर्ण्य विषय की दृष्टि मे लोकमगल की साधनावस्था को वे ग्रहण करते है अर्थात् केवल कोमल भावो के वर्णन करने की अपेक्षा कोमल और कठोर, शान्त और उग्र दोनो प्रकार के भावो का उल्लेख काव्य मे आवश्यक मानते है। प्रकृति को भी वर्ण्य विषयो के अन्तर्गत स्वीकार करते है। वे प्रकृति को आलम्वन रूप मे भी काव्य मे स्थान देना चाहते है।

काव्य तत्त्वो मे भाव और ज्ञान का सामजस्य उनको अभीष्ट है। कल्पना को प्रस्तुत विभाव, अनुभाव आदि की योजना मे तथा अप्रस्तुत विधान में साधन मानते है, उसे साध्य नही मानते। भावप्रेरित कल्पना ही उनकी दृष्टि मे काव्य के लिए उपादेय है। वे अलकार और अलंकार्य का भेद स्वीकार करते है। उनकी दृष्टि में अलंकार विशेष प्रकार की वर्णन शैली है।

काव्य और कला को एक ही रूप में वे महत्त्व नही देते है। वे कला

श्रौर काव्य के उद्देश्यों में पर्याप्त अन्तर मानते है।

मुक्तक की अपेक्षा प्रवन्ध काव्य को अधिक महत्त्व देते है। प्रवन्ध को रसधारा और मुक्तक को रस के छीटे मानते है। उन्होने काव्य के मुख्य दो रूप स्वीकार किये है—लोकमंगल की साधनावस्था अर्थात् प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले तथा लोकमगल की सिद्धावस्था अर्थात् उप भोग पक्ष को लेकर चलने वाले।

समीक्षा साहित्य—शुक्लजी ने प्रायः हिन्दी साहित्य के सभी कालो के कवियो की समीक्षा की है। समीक्षा-साहित्य मे हम केवल उन रचनाओ को ले सकते है जो स्वतन्त्र रूप से और पूर्ण विस्तार के साथ लिखी गई है। इस दृष्टि से शुक्लजी के समीक्षा-साहित्य में तीन कृतियाँ ही परिगणित की जा सकती है—गोस्वामी तुलसीदास, जायसी ग्रन्थावली, सूरदास। इन तीनों में से भी जायसी ग्रन्थावली की भूमिका को ही विशेष महत्त्व दिया जा सकता है। क्योकि इसी मे उन्होने 'जायसी' की उचित विस्तार के साथ सभी अ गो तथा उपागों की क्रमवद्ध समीक्षा प्रस्तुत की है।

गोस्वामी तुलसीदास—इस संकलनात्मक ग्रन्थ मे अट्ठारह निबन्ध सकलित किये गए है। यह गोस्वामीजी के महत्त्व के साक्षात्कार और उनकी विशेपताओं के प्रदर्शन का लघु प्रयत्न मात्र है। इसमे शुक्लजी के सभी समीक्षा के आदर्श हमे मिल सकते है। 'तुलसी की भक्ति पद्धति', 'प्रकृति और स्वभाव', 'लोकधर्म', 'मगलाशा' प्रकरणों मे तुलसीदास की अन्तः प्रवृत्तियों की विस्तारपूर्वक छानवीन की गई है। तुलसीदासजी भक्त कवि है। उनकी अन्तः प्रकृति की व्याख्या भक्ति के स्वरूप व पद्धति के विश्लेषण मे ही की जा सकती है इसीलिए शुक्लजी ने उक्त निबन्धों मे तुलसी की भक्ति भावना का अन्य प्रचलित भक्ति सम्प्रदायों से अन्तर स्पष्ट करने का उपक्रम किया है। निर्गुण भक्ति, भावात्मक और साधनात्मक रहस्य-वादी प्रवृत्ति, माधुर्योपासना की प्रवृत्ति से तुलसी की शुद्धभक्ति का अन्तर स्पष्ट करना एक प्रकार से उनकी अन्तः प्रवृत्ति की छानबीन ही है। ये प्रसंग शुक्लजी की व्याख्यात्मक समीक्षादर्श के उदाहरण कहे जा सकते है।

शुक्लजी नीतिवादी समीक्षक है अर्थात् वे काव्य के प्रभाव पक्ष को अपनी आलोचना पद्धति का विशेष अ ग मानते है। इस दृष्टिसे इस सकलन ग्रन्थ के 'धर्म और जातीयता का समन्वय', 'लोकनीति और मर्यादावाद', 'शील साधना और भक्ति' आदि प्रकरण विशेष उल्लेखनीय है। इनमे तुलसी के काव्य के प्रभाव पक्ष का गम्भीर विश्लेषण किया गया है। ये उनकी मूल्यवादी प्रवृत्ति के परिचायक कहे जा सकते है।

शुक्लजी की समन्वयवादी प्रवृत्ति 'शीलसाधना और भक्ति' तथा 'ज्ञान और भक्ति' इन दो प्रकरणो मे स्पष्ट झलकती है। इनमे कर्म सौन्दर्य और रूप सौन्दर्य के, भक्ति और शील के, भाव और ज्ञान के समन्वय का अन्वेषण किया गया है। सकलन के अन्य प्रकरणों मे तात्त्विक एव सैद्धान्तिक समीक्षा का स्वरूप आभासित होता है। 'तुलसी की काव्य पद्धति', 'तुलसी की भावुकता', 'शीलनिरूपण और चरित्र-चित्रण', 'वाह्य दृश्य चित्रण', 'अलकार विधान', 'उक्ति वैचित्र्य', 'भाषा पर अधिकार' ये सब प्रकरण शुक्लजी के सिद्धान्तो का पूर्ण प्रकाशन करते है। शुक्लजी रसवादी समीक्षक है। इन निबन्धो मे रस के तत्त्वो के आधार पर तुलसी के काव्य की समीक्षा की गई है। वे विम्व ग्रहण की महत्ता प्रतिपादित करते है और इसके लिए सश्लिष्ट चित्रण की अनिवार्यता स्वीकार करते है। तुलसी के काव्य की समीक्षा मे यह सिद्धान्त भी प्रयुक्त किया गया है। तुलसी के अलकार विधान की समीक्षा, तुलसी के काव्य में व्याप्त कतिपय मार्मिक सूक्तियों की अन्वेषणा तथा भाषाशैली सम्बन्धी विशेषताओ का विशद विवेचन उनके समीक्षादर्शो का प्रत्यक्ष प्रमाण व उदाहरण कहा जा सकता है। अन्त मे 'हिन्दी साहित्य मे गोस्वामीजी का स्थान' शीर्षक प्रकरण में उन्होने 'निर्णयात्मक समीक्षा' का स्वरूप झलका दिया है। प्रभावाभिव्यंजकों की अर्थ शून्य, कल्पना प्रधान शब्दाडम्बर तथा निरर्थक वाक्यावली इस सारे सकलन में हमे कही भी नही मिलती प्राय: समीक्षा का विचारात्मक स्वरूप ही हमारे सम्मुख आता है। अत: यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने इस सकलन ग्रन्थ मे अपनी समीक्षा-पद्धति के पूर्ण स्वरूप का आभास दे

दिया है ।

सूरदास—'सूरदास' नामक समीक्षा ग्रन्थ भी पाँच लेखो का सकलन मात्र है । 'भक्ति का विकास', 'श्री वल्लभाचार्य' ये दो प्रकरण सूरदास के भक्त-हृदय के विश्लेषण मे सहायक कहे जा सकते है फलत: व्याख्यात्मक समीक्षा के परिचायक है । 'जीवन वृत्त' शीर्षक प्रकरण ऐतिहासिक समीक्षा का ही अ ग है । इसमे भक्तिधारा मे 'सूरदास' का स्थान स्पष्ट करने का प्रयास है। इसके मूल मे भक्ति परम्परा के अन्य कवि तुलसीदास के साथ साम्य तथा वैषम्य को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति विद्यमान है । 'काव्य मे लोक-मगल' यह प्रकरण 'सूरदास' की समीक्षा के साथ सीधा सम्बन्ध नही रखता इसमे तो केवल शुक्लजी के साहित्यिक सिद्धान्त का प्रतिपादन है ।'सूरदास' की वास्तविक समीक्षा 'आलोचना' शीर्षक प्रकरण मे ही है। यह सारी समीक्षा सैद्धान्तिक समीक्षा ही है क्योंकि इसका आधार रस, रस के तत्त्व आलम्बन, उद्दीपन विभाव, अनुभाव, सचारीभाव-शास्त्रीय समीक्षा के साधन ही है । इसके अतिरिक्त तुलसी के साथ तुलना करके तुलनात्मक समीक्षा का तथा सूरदास का स्थान निर्धारित करके निर्णयात्मक समीक्षा का स्वरूप भी उपस्थित कर दिया गया है।

जायसी ग्रन्थावली—'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका के रूप में जायसी की क्रमबद्ध आलोचना का सर्वांगपूर्ण चित्र शुक्लजी ने इस ग्रन्थ के द्वारा प्रस्तुत कर दिया है । 'मलिक मुहम्मद जायसी','प्रेमगाथा की परपरा' 'जायसी का जीवन वृत्त', 'जायसी का रहस्यवाद', 'मत और सिद्धान्त' शीर्षक प्रकरण ऐतिहासिक समीक्षा के अग हैं । इनमे जायसी की प्रेम-गाथा परम्परा मे स्थिति का विश्लेषण किया गया है। रहस्यवाद आदि साम्प्रदायिक सिद्धान्तो का विश्लेषण भी ऐतिहासिक समीक्षा का ही रूप प्रस्तुत करता है । 'पद्मावत की कथा', 'ऐतिहासिक आधार', पद्मावत की प्रेम-पद्धति' शीर्षक प्रकरण जायसी की कृति की व्याख्यात्मक समीक्षा के रूप कहे जा सकते है । 'ईश्वरोन्मुख प्रेम', 'प्रेम तत्त्व', 'जायसी की जानकारी' ये प्रकरण रचना के आधार पर कवि की अन्तर्वृत्तियों के अनुसन्धान स्वरूप

है और व्याख्यात्मक समीक्षा के अंग है। उक्त प्रकरणों के अतिरिक्त 'वियोग पक्ष', 'सभोग शृगार', 'सम्वन्ध निर्वाह', 'अलकार', 'स्वभाव चित्रण' आदि प्रकरण सैद्धान्तिक समीक्षा के अग है क्योंकि इनमे जायसी की रचना की तात्त्विक विवेचना की गई है। 'सक्षिप्त समीक्षा' का प्रकरण एक प्रकार से निर्णयात्मक समीक्षा के स्वरूप को ही झलकाता है।

ये समीक्षाएँ शुक्लजी के समीक्षादर्शो के प्रतिबिम्ब स्वरूप है। शुक्ल जी ने अपना सैद्धान्तिक निरूपण विशेषतया इन तीनों कवियो की रचनाओं की प्रयोगात्मक आलोचनाओ के आधार पर ही किया है।

शुक्लजी का रचनात्मक साहित्य

सृजनात्मक प्रतिभा—शुक्लजी के सारे साहित्य का अनुशीलन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होने गद्य के माध्यम से अपनी सृजनात्मक प्रतिभा का प्रकाशन किया है। उनकी गद्यात्मक रचनाओ मे उनके निबन्ध तथा इतिहास सम्बन्धी रचनाएँ आती है। उनकी सृजनात्मक प्रतिभा का आभास पद्यात्मक रचानाओ मे भी मिलता है। परन्तु इनकी मात्रा अत्यन्त अल्प है। ये रचनाएँ भी दो रूपो मे मिलती है—अनूदित तथा मौलिक। हिन्दी साहित्य मे उनका स्थान गद्यात्मक रचनाओं के आधार पर ही निर्धारित किया जा सकता है।

निबन्ध : वर्गीकरण—शुक्लजी का गद्य साहित्य प्रधानतया निबन्ध रूप मे ही मिलता है। उनकी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षाएँ भी निबन्ध रूप मे ही मिलती है। निबन्धकार के रूप मे उन्होने हिन्दी साहित्य मे प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है। उनके निबन्ध मुख्यत दो वर्गो मे विभक्त किये जा सकते है—प्रारम्भिक तथा प्रौढ। प्रारम्भिक निबन्धो मे 'साहित्य', 'भाषा की शक्ति', 'उपन्यास', 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी'; 'मित्रता' परिगणित किये जा सकते है। ये निबन्ध पत्र-पत्रिकाओ में उनके साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक काल मे प्रकाशित हुए। प्रौढ निबन्धो की भी दो श्रेणियाँ की जा सकती है—समीक्षात्मक तथा मनोविकार सम्बन्धी। समीक्षात्मक निबन्ध भी दो प्रकार के है—सैद्धान्तिक समीक्षात्मक तथा व्यावहारिक समीक्षात्मक। सैद्धान्तिक समीक्षात्मक निबन्धो मे 'कविता क्या है'; 'काव्य मे लोक मंगल की साधनावस्था'; 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्य-वाद'; 'रसात्मक बोध के विविध रूप'; 'काव्य मे प्राकृतिक दृश्य'; 'काव्य

मे रहस्यवाद'; 'काव्य में अभिव्यजनावाद' शीर्षक उच्चकोटि के निबन्ध परिगणित किये जा सकते है। व्यावहारिक समीक्षात्मक निबन्धों मे 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'; 'तुलसी का भक्ति मार्ग'; 'मानव की धर्मभूमि' आदि प्रमुख है। मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों मे 'भाव या मनोविकार'; 'उत्साह'; 'श्रद्धाभक्ति'; 'करुणा'; 'लज्जा और ग्लानि'; 'लोभ और प्रीति'; 'घृणा'; 'ईर्ष्या'; 'भय' और 'क्रोध' लिए जा सकते है। ये निबन्ध 'चिन्तामणि' भाग प्रथम तथा द्वितीय में सकलित है 'रस मीमांसा' नामक पुस्तक मे भी इनके भाव, विभाव और साहित्यिक विषयों पर लिखे गए निबन्ध ही है।

निबन्ध का स्वरूप—शुक्लजी निबन्ध को गद्य साहित्य का एक महत्त्व पूर्ण अंग मानते है। वे कहते है कि यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है, क्योंकि भाषा की शक्ति का पूर्ण विकास निबन्ध रूप में सबसे अधिक सम्भव होता है। निबन्ध के स्वरूप में शुक्लजी सर्वप्रथम विचार-प्रवाह की ओर ध्यान ले जाते है। विचार-प्रवाह चिन्तन दशा का परिचायक है अर्थात् चिन्तन काल मे ही विचारों का प्रवाह गतिशील होता है। यह स्थिति भावावेग की स्थिति से भिन्न होती है। भावावेश की स्थिति में शब्द विधान स्वत एवं अन्त स्फुरित होता है अतएव भाषा को अपने विकास के लिए कम अवसर मिलता है। इसके विपरीत चिन्तन दशा में शब्द विधान सहज रूप से ही नही हो पाता उसके लिए विशेष श्रम अपेक्षित होता है, अतएव भाषाशक्ति के विकास को पूर्ण अवसर मिल जाता है। यही कारण है कि शुक्लजी निबन्ध को गद्य भाषा की कसौटी मानते है।

आधुनिक पाश्चात्य समीक्षकों के अनुसार निबन्ध-स्वरूप में व्यक्तिगत विशेषताओं का सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। शुक्लजी भी इस विशेषता को निबन्ध के प्रकृत स्वरूप मे विशेष महत्त्व देते है परन्तु वे इसका यह अर्थ नही लेते कि इस विशेषता के प्रदर्शन के लिए विचारो की शृंखला का ही अभाव कर दिया जाए। साहित्यकार के चिन्तन में उसका हृदय मिला रहता है। निबन्ध में व्यक्तिगत विशेषता का यही रहस्य है। वे निबन्ध में भाव को इतना महत्त्व नही देना चाहते कि वह विचारधारा मे गतिरोध उत्पन्न कर

दे। वे तो उसी निबन्ध को उत्कृष्ट कोटि का मानते है, जिसमे नए-नए विचारों की उद्भावना या अभिव्यक्ति हुई हो और वे विचार एक दूसरे मे गुंथे हुए हो और उनके पढ़ने से पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार पद्धति पर दौड़ पड़े।

यद्यपि शुक्लजी निबन्धो के विचारात्मक, भावात्मक और वर्णनात्मक ये भेद मानते है और लक्ष्य भेद से व्यास, समास, धारा, तरग, विक्षेप तथा प्रलाप नामक विभिन्न शैलियो का अस्तित्व भी स्वीकार करते है तथापि उनकी धारणा के अनुसार समास शैली प्रधान विचारात्मक निबन्धो मे ही निबन्ध का यथार्थ स्वरूप उपलब्ध हो सकता है।

शुक्लजी के निबन्धों की विशेषताएँ—शुक्लजी के प्रौढ निबन्धो के गम्भीर अनुशीलन के पश्चात् निम्नलिखित विशेषताएं हमे मिलती है—

१. बुद्धि तत्त्व की प्रधानता, २. निजी भावना का योग, ३. नीतिवादिता, ४ शास्त्रीयता तथा मौलिकता, ५. भारतीयता, ६ निगमन एव व्याख्यात्मक पद्धति, ७ समास शैली, ८ भाषा सम्बन्धी विशेषताएँ, सूक्तिमयता।

बुद्धि तत्त्व—विचार प्रधान निबन्धो मे बुद्धि तत्त्व की प्रधानता रहती है। शुक्लजी के निबन्धो मे भी सबसे प्रमुख विशेषता इसी तत्त्व की प्रधानता ही है। वे अपने निबन्धो को अन्तर्यात्रा मानते है। उनके अपने शब्दों मे इस यात्रा के लिए बुद्धि ही निकलती रही है अर्थात् वे अपने निबन्धों में बुद्धि तत्त्व को प्रधानता देने के सकल्प से ही प्रवृत्त हुए है। हृदय तो केवल यात्रा के श्रम के परिहार के उद्देश्य से बीच-बीच मे झाँकता ही रहा है।

वैज्ञानिक प्रवृत्ति—उनके निबन्धो मे हमे वैज्ञानिक प्रवृत्ति के दर्शन होते है इसी के आधार पर हम बुद्धि तत्त्व की प्रधानता का निर्धारण कर सकते है। इसी प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप उनके निबन्धों मे वस्तुगत दृष्टि वर्गीकरण की प्रवृत्ति, तुलनात्मक शैली, क्रमबद्धता तथा अन्विति आदि गुण उत्पन्न हो गए है।

वस्तुगत दृष्टि—वैज्ञानिक का लक्ष्य वर्ण्य विषय ही रहता है अपना व्यक्तित्व नही। इसीलिए वह वस्तु के शुद्ध स्वरूप को अपने सम्मुख

रखकर चलता है। यही बात हमे शुक्लजी के निवन्धों मे प्रायः सर्वत्र मिलती है। सामान्यतः सभी निबन्धों में उनका ध्यान वर्ण्य वस्तु पर ही रहता है। निजी भावना के समावेश का आग्रह वस्तु से दूर भटकने की प्रेरणा नही दे पाता है। प्रत्येक भाव या मनोविकारो के लक्षणों मे वस्तुगत दृष्टि का प्रमाण हमे मिल सकता है। श्रद्धा, लज्जा, लोभ, आदि भावों के लक्षण मे, उत्साह, करुणा, ईर्ष्या तथा भय के विश्लेषण मे इसी दृष्टि का पूर्ण प्रभाव है। ये लक्षण और विश्लेषण एकमात्र बुद्धि की क्रिया के ही परिणाम है।

वर्गीकरण की प्रवृत्ति—वैज्ञानिक की दृष्टि दो पदार्थो के परस्पर भेद पर जाती है। उन भेदों के उपभेदो पर भी वह पूर्ण तत्परता, सूक्ष्मता तथा गम्भीरता मे ध्यान देता चलता है। इस अन्वीक्षण के आधार पर वह समान गुण-रूप-क्रिया वाले पदार्थो को एक वर्ग मे निहित कर देता है। एक वर्ग के भी कई उपवर्ग वनाने का यत्न वैज्ञानिक करता है। शुक्लजी अपने वर्ण्य विषय के स्पष्टीकरण तथा स्वरूप-प्रतिपादन के लिए इसी वैज्ञानिक रीति का अनुसरण करते हैं। भेद दर्शन के आधार पर वर्गीकरण उनके निबन्धों की प्रमुख विशेपता है। उदाहरण स्वरूप एक प्रसग यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।—'उत्साह' के प्रसग मे शुक्लजी उत्साह के मूल मे विद्यमान 'आनन्द' का वर्गीकरण करते है और लिखते है—

"कर्म के अनुष्ठान मे जो आनन्द होता है उसका विधान तीन रूपो में दिखाई पड़ता है—१. कर्म भावना से उत्पन्न, २. फल भावना से उत्पन्न, ३ आगन्तुक अर्थात् विपयान्तर से प्राप्त।

यही वर्गीकरण की प्रवृत्ति श्रद्धा, लज्जा, लोभ आदि भावो के विश्लेषण में हमें मिलती है। इसी के अनुरूप उनके समीक्षात्मक निवन्धों से भी अनेक उदाहरण वर्गीकरण की प्रवृत्ति के उपलक्ष्य मे प्रस्तुत किये जा सकते है। यह प्रवृत्ति उनके प्रत्येक निवन्ध में किसी-न-किसी रूप मे अवश्य विद्यमान है।

क्रम बद्धता तथा अन्विति—वैज्ञानिक दृष्टि का तीसरा लक्षण क्रम बद्धता तथा अन्विति है। निवन्ध मे प्रवाहित विचारधारा में क्रम बद्धता तथा अन्विति बुद्धि के व्यापार से आ सकती है, अतः ये दोनों गुण भी बुद्धि तत्त्व

के परिचायक है। शुक्लजी के निबन्धों में प्रायः विषय-वर्णन का एक सुनिश्चित क्रम दृष्टिगोचर होता है। वे पहले वर्ण्य पक्ष की स्थापना करते है, फिर समान विषयान्तर से तुलना, प्रतिपाद्य विषय का विश्लेषण व वर्गीकरण, प्रत्येक वर्ग की व्याख्या करके निबन्ध की समाप्ति करते है। इसी के परिणामस्वरूप विचारो की सगति तथा परस्पर अन्विति सम्पादित हो जाती है। इस प्रकार विविधता मे भी एकता के, भिन्नता मे भी अभिन्नता के दर्शन हो जाते है। यही कारण है कि उनके प्रत्येक निबन्ध में असम्बद्ध एव सर्वथा अप्रासगिक विचारो का समावेश नही होने पाता है। एक ही विषय के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध रखने वाली बाते निबन्ध मे विन्यस्त होकर एक विशिष्ट प्रबन्ध का रूप धारण कर लेती है फलतः अनावश्यक वस्तु आने नही पाती और आवश्यक रहने नही पाती। इसी अन्विति के कारण निबन्ध का प्रकृत स्वरूप उद्भावित होता है। निबन्ध मे अपेक्षित विचार-गुम्फन तथा कसावट भी इसी से उत्पन्न हो जाती है। इसी गुण के कारण शुक्लजी के निबन्धो में विचारो की परम्परा कही टूटने नही पाती। विचारधारा क्रम तथा अन्विति के तटो के अन्दर प्रवाहित होती हुई पाठक की चेतना को सिंचित कर उर्वरा करती चलती है। इसी मे उसकी कृतकृत्यता सम्पन्न हो जाती है।

निजी भावना का योग : हृदयवृत्ति—निबन्धों मे यदि लेखक की निजी भावनाओं का योग न हो तो वह शुद्ध दार्शनिक रचना का रूप धारण कर लेती है। भावना योग से विचार प्रधान रचना भी साहित्यिक क्षेत्र के अन्तर्गत मानी जा सकती है। शुक्लजी ने अपने निवन्धों की रचना करते समय इस तथ्य पर पूरा ध्यान रखा है। अपने वर्ण्य विषय के विवेचन के मध्य मे जहाँ कही ऐसे प्रसग आ गए है जहाँ वे अपनी रुचि व प्रवृत्ति को झलका सकते है वहाँ उन्होने इस अवसर को अपने हाथ से जाने नही दिया है। ऐसे स्थलो मे उनकी साहित्यिक व वैयक्तिक रुचियाँ अभिव्यक्त होकर उनके विचार प्रधान निबन्धो को सरसता प्रदान कर देती है। ऐसी ही अभिव्यक्तियों वाले प्रसग उनके निबन्धो में विषयी का, व्यक्तित्व का अंश

सन्निविष्टि कर देते है। ऐसे ही स्थलो मे हमे शुक्लजी के व्यक्तित्व की झाकियाँ उपलब्ध हो सकती है। उनका आत्म सम्मान, उनकी गम्भीरता, विनोद प्रियता, सकोचशीलता, सात्त्विकता, सामाजिकता, लोक कल्याण भावना, कृत्रिमता के प्रति विरक्ति प्रकृति के प्रति अनुरक्ति उनके निवन्धो के बीच-बीच मे उचकती दृष्टिगोचर होती है। उनके सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षात्मक निवन्धो मे बुद्धि-व्यापार के साथ हृदय की रुचि-प्रवृत्ति का सम्मिश्रण निर्विवाद रूप से झलकता प्रतीत होता है। सिद्धान्तत वे सगुण भक्तिका समर्थन करते है, व्यक्त जगत् को महत्त्व देते है, उन्हे स्वाभाविक रहस्यभावना साम्प्रदायिक रहस्यवाद से अपेक्षाकृत अधिक प्रिय है, वे काव्य का जीवन मे अटूट सम्वन्ध मानते है, वे भाववादी एव रसवादी है और काव्य मे श्रोता व पाठक को भी महत्त्व प्रदान करते है, शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्वन्ध की और कला शब्द की काव्य क्षेत्र मे अनुपयोगिता के प्रदर्शन की चेष्टा उनकी सहज प्रवृत्ति है। उनके निजी व्यक्तित्व और साहित्यिक व्यक्तित्व की ये सभी विशेषताएँ उनके निवन्धो के कलेवर मे प्राण स्वरूप हो सचारित हो रही है। व्यक्तित्व प्रधान वाले ऐसे अनेक स्थल उनके निवन्धो मे से प्रस्तुत किये जा सकते है। इस प्रकार हृदय वृत्ति के योग से उनके विचार प्रधान नीरस शब्द-विधान में काव्यत्व की सृष्टि होने लगती है। भाषा में प्रतीकात्मकता, लाक्षणिकता, सरसता और सरलता ऐसे स्थलो मे ही दृष्टि-गोचर होती है। तुलनात्मक दृष्टि से यदि शुक्लजी के निवन्धो का विश्लेषण किया जाए तो उनकी हृदय वृत्ति का प्रसार विशेषतया दो निवन्धों-श्रद्धा-भक्ति तथा लोभ व प्रीति-मे परिलक्षित होता है।

नीतिवादिता—शुक्लजी की हृदय वृत्ति नीतिवादिता के रूप मे भी स्थान-स्थान पर अपना प्रसार प्राप्त करती रही है। नीतिवादी साहित्यकार या समीक्षक काव्य के सौन्दर्य के पक्ष के साथ उसके प्रभाव पक्ष पर समान रूप से दृष्टि रखता है। वह मनोरजन के साथ उसकी व्यावहारिक उपयोगिता को भी प्रमुखता देता है। दूसरे शब्दों मे वह मूल्यवादी होता है। वह शुद्ध सौन्दर्य के साथ उसके मूल्य एवं महत्त्व का सम्वन्ध भी जोड़ देता है। इसी

प्रयास मे वह उपदेशक व जीवन पथ-प्रदर्शक बन कर विशिष्ट मार्ग का सकेत भी करने लगता है। इसके मूल मे उसकी अपनी रुचि व प्रवृत्ति सक्रियता से विद्यमान रहती है। जिसे वह उपयोगी समझता है, जिसे वह महत्त्व प्रदान करता है, जिसे वह बहुमूल्य करना चाहता है उसका समर्थन उसका साहित्य या समीक्षा करती प्रतीत होती है। अतएव वह मूलत: व्यक्तित्व का ही अग सिद्ध होता है। ऐसे स्थल उसे वैज्ञानिक दृष्टि से दूर होता प्रदर्शित कर देते है। शुक्लजी के निबन्धों मे भी जहाँ-तहाँ इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते है। वे भी अपने मन्तव्यो, धारणाओ, रुचियो तथा प्रवृत्तियो का समर्थन करते, अपनी धारणा के अनुकूल उचित मार्ग का सकेत करते प्रतीत होते है। फलत: वे अपने निबन्धो मे व्यक्तित्व का समावेश कर देते है और विषय प्रधानता और व्यक्तित्व प्रधानता का परस्पर मिलन होने लगता है। जब वे भाव क्षेत्र को पवित्र क्षेत्र कहते है; जब वे किसी भाव को अच्छा या बुरा कहते है, जब कर्म भावना प्रसूत आनन्द को ही सच्चे वीरों का आनन्द प्रतिपादित करते है; जब वे पाप के फल को छिपाने वाले को अपराधी घोषित करते है; जब वे वृत्तियो के परिष्कार मे आस्था प्रकट करते है; जब वे शील गुण की प्रशसा करते है और सकोच को शील का प्रधान अग मानते है, उसे सदाचार का एक सहज साधक, शिष्टाचार का एकमात्र आधार वर्णित करते है, तब उनके व्यक्तित्व की विशेषताएँ नीतिवादिता, सामाजिकता, लोककल्याण भावना ही ऊपर उभरती परिलक्षित होती है। जब वे कर्त्तव्य-पथ का निर्देश करके बीच-बीच में पाठको को सावधान करते चलते है तब उनकी नीतिवादिता साकार हो हमारे सम्मुख आ विराजती है। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व निबन्धों में झलकने लगता है।

शास्त्रीयता तथा मौलिकता—शुक्लजी के निबन्धों मे शास्त्रीयता और मौलिकता का अपूर्व सामजस्य है। उनके निबन्धो मे प्रवाहित विचारधारा का मूलश्रोत भारतीय काव्यशास्त्रो तथा नवीन पाश्चात्य साहित्य समीक्षकों द्वारा वर्णित तथ्य ही है। उनकी मौलिकता सर्वथा नवीन विचारधारा को प्रवाहित करने मे नही है, अपितु इन शास्त्रीय सिद्धान्तो मे अपने व्याव-

हारिक अनुभव के आधार पर कुछ संशोधन तथा परिवर्धन करने में ही है। उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों तथा मनोवैज्ञानिक क्षेत्र के तथ्यों को अपने समाज-दर्शन के अनुरूप तथा व्यावहारिक अनुभूति के अनुसार नवीन व्याख्या प्रस्तुत करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। वर्ण्य विषय पुराने तथा शास्त्रीय है, परन्तु उनका स्वरूप-विश्लेपण व्यावहारिक अनुभूति पर अवलम्बित है। भाव या मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों की विवेचना के अनन्तर प्रायः समालोचक इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन निबन्धों में शुक्लजी की दृष्टि मनोविज्ञान के अन्तर्गत शास्त्रीय स्वरूप पर नहीं अपितु उनके समाजगत या जीवनगत व्यावहारिक स्वरूपों पर रहती है। कोई भी समीक्षक इन निबन्धों को शुद्ध मनोवैज्ञानिक नहीं कह सकता, क्योंकि इनमें भावों का केवल शास्त्रीय विवेचन नहीं है प्रत्युत व्यावहारिक विवेचन भी है। वैज्ञानिक क्षेत्र में शुद्ध बुद्धि ही सक्रिय होती है, हृदय निष्क्रिय ही रहता है परन्तु साहित्य में दोनों की सक्रियता अपेक्षित रहती है। कहीं बुद्धि की क्रिया को प्रधानता मिल जाती है और कहीं हृदय की क्रिया बुद्धि की क्रिया से आगे बढ़ने लगती है। यही बात हमें शुक्लजी के निबन्धों में परिलक्षित होती है। मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों को इसी आधार पर साहित्यिक निबन्ध कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन निबन्धों में उन्हीं भावों की साहित्यिक व्याख्या की गई है जिनका रस-प्रक्रिया के साथ सम्बन्ध है। निस्सन्देह इनमें वैज्ञानिक तथ्यों का समावेश है, उस क्षेत्र की बौद्धिकता, तर्कमयता, वर्गीकरण की प्रवृत्ति भी है, परन्तु सकल्पात्मक अनुभूति का, निजी व्यक्तित्व तथा भावनाओं का पुट भी यथोचित मात्रा में विद्यमान है। विषय, शैली तथा उदाहरणों की दृष्टि से भी ये साहित्यिक अधिक है, वैज्ञानिक कम।

सैद्धान्तिक समीक्षात्मक निबन्धों में भी शास्त्रीयता तथा मौलिकता का सम्मिश्रण स्पष्ट प्रतीत होता है। इनमें प्राचीन रस सिद्धान्त का समर्थन किया गया है, परन्तु इसकी व्याख्या में पर्याप्त नवीनता है। प्राचीन आचार्यों की भान्ति रस को किसी इतर लोक की अनुभूति नहीं कहा गया है। रस सिद्धान्त

मे शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना तथा लोक सामान्य भूमि की कल्पना नवीन है। प्रत्यक्ष रूप-विधान को भी कल्पित रूप विधान के समान रसोद्बोधक मानना उनकी नवीन उद्भावना है। प्रकृति के प्रत्यक्ष दर्शन मे तथा कल्पित रूप विधान मे समान रूप से रसानुभूति की क्षमता स्वीकार करना एक नवीनता ही है। शास्त्रीय सिद्धान्तों को समयानुकूल व्यापक बनाने के लिए उनकी नवीन व्याख्या मे भी शुक्लजी की मौलिकता निर्विवाद है। उदाहरण के लिए साधारणीकरण के प्रसग में रस की विभिन्न कोटियो की उद्भावना और इस सिद्धान्त का नवीन पाश्चात्य व्यक्ति वैचित्र्यवाद के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न उनकी मौलिकता का स्पष्ट प्रमाण कहा जा सकता है।

भारतीयता—शुक्लजी के निबन्धो मे भारतीय जीवन का ही चित्र विशेषतया अंकित हुआ है। भारतीय दर्शन, धर्म, साहित्य तथा इतिहास के तथ्यों का ही विश्लेषण उनके निबन्धो मे हमे मिलता है। 'उत्साह' के प्रसग मे उन्होने गीता के कर्म सिद्धान्त का समर्थन किया है। इसी प्रकार भारत में प्रचलित भक्ति भावनाओं मे से भारत की शास्त्रीय एवं परम्परा प्राप्त सगुण भक्ति के प्रति ही अपनी आस्था व रुचि प्रदर्शित की है। भक्ति के स्वरूप निरूपण मे भी भारतीय परम्पराओं तथा ग्रन्थों को ही अपने चिन्तन का प्रमुख आधार बनाया है। उनकी आन्तरिक प्रवृत्ति मूलतः भारतीय काव्य सिद्धान्तों के प्रति ही परिलक्षित होती है। यदि कहीं सशोधन व परिवर्धन भी हुआ है तो वह केवल भारतीय सिद्धान्तों को अधिक व्यापक बनाने के सदुद्देश्य से ही हुआ है। मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों मे भाव के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए भारतीय जीवन से ही उदाहरण प्रस्तुत किये है। स्थान-स्थान पर भारतीय साहित्यिक ग्रन्थो के उद्धरण भी भारतीयता के सूचक कहे जा सकते है।

निगमन एवं व्याख्यात्मक पद्धति—विचारात्मक निबन्धों की प्रायः दो शैलियाँ प्रचलित है—आगमन तथा निगमन। आगमन शैली मे निबन्धकार सामान्य से विशेष की ओर जाता है अर्थात् वह सामान्यतः अपने

विचारो का विन्यास तथा उनकी व्याख्या करने के उपरान्त निष्कर्ष के रूप मे विशिष्ट सिद्धान्त या सूत्र वाक्य प्रस्तुत करता है, मानो वह उस निष्कर्ष तक तर्क व अनुमान के माध्यम से पहुँच सका है। दूसरी ओर निगमन शैली का निबन्धकार विशेष से सामान्य की ओर प्रवृत्त होता है अर्थात् वह प्रारम्भ मे ही अपने चिन्तन का सार, विशिष्ट सिद्धान्त या सूत्र वाक्य विन्यस्त कर देता है और तदनन्तर उसकी विवेचना उदाहरणों, उद्धरणो व तर्क द्वारा करता चलता है। शुक्लजी के निबन्धो मे प्रायः निगमन शैली का ही अनुसरण हुआ है। वे प्रतिपाद्य विषय सम्बन्धी अपना निष्कर्ष सकेत रूप मे प्रारम्भ मे ही कर देते है। फिर उसकी सुनिश्चित क्रम मे व्याख्या करते चलते है। मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध प्राय. इसी शैली मे लिखे गए है। यही कारण है कि इन निबन्धो का प्रारम्भिक वाक्य एक प्रकार से सूक्ति रूप मे ही मिलता है। 'अनुभूति के द्वन्द्व ही से प्राणी के जीवन का आरम्भ होता है', 'दु ख के वर्ग में जो स्थान भय का है वही स्थान आनन्दवर्ग में उत्साह का है,' इत्यादि। निगमन शैली एक प्रकार से व्याख्यात्मक पद्धति ही है। प्रारम्भ मे विन्यस्त सूत्र वाक्य की व्याख्या ही उक्त निबन्धो मे प्रस्तुत की गई है। शुक्लजी ने वर्ण्य विषय की व्याख्या करने के लिए तुलनात्मक शैली का भी प्रचुरता से प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त वे अपने विषय के स्पष्टीकरण के लिए बीच-बीच मे उपसहार भी करते चलते है। निरूपित विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए वे 'साराश यह है' इस वाक्याश से अपने निष्कर्ष सक्षिप्त तथा सारपूर्ण वाक्यों के द्वारा प्रस्तुत कर देते है।

समास शैली—विषय प्रतिपादन तथा स्पष्टीकरण के लिए निगमन तथा व्याख्यात्मक पद्धति अपनाने पर भी शुक्लजी के वाक्य विन्यास से समास शैली का ही सकेत होता है। इस शैली मे वाक्य रचना इस रूप मे की जाती है कि प्रत्येक वाक्य नवीन विचार को लेकर ही आता है। नवीन विचार के लिए नवीन वाक्य आना है पुराने विचार के लिए नया वाक्य नही आता है। विन्यस्त वाक्यो मे इस प्रकार विचारों का ताँता-सा बँध जाता है। प्रायः प्रत्येक वाक्य विचारो का सग्रह-सा प्रतीत होता है। शुक्ल-

जी के निवन्ध प्रायः इसी शैली मे लिखे गए है। उनका प्रत्येक वाक्य विचारमाला का रूप धारण कर लेता है। कही किसी व्यर्थ शब्द का विन्यास नही। सदर्भ मे से किसी वाक्य को निकाला नही जा सकता है। कई स्थलों पर ऐसे शब्दो का विन्यास कर दिया गया है जिनकी स्वतन्त्र व्याख्या की भी अपेक्षा है। इस प्रकार पाठक की ग्राहक-कल्पना का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। यदि वह ऐसे व्याख्येय पदों की व्याख्या स्वयं नहीं कर पाता है तो वर्ण्य विषय के समझने मे उसे कठिनता की अनुभूति होती है। यही कारण है कि उनके निवन्ध वर्ण्य विषय तथा भाषा की दृष्टि से उच्च श्रेणी के विचार-शील पाठको के लिए ही उपयोगी कहे जा सकते है। सामान्य एव निम्नस्तर के पाठकों के लिए वे नीरस गद्य भार स्वरूप ही बन गए है। एक ही विचार को कई प्रकार के शब्दो तथा वाक्यो के द्वारा स्पष्ट करने मे जो एक प्रकार की सरलता भाषा मे आ जाती है वह उनके निवन्धो मे नही आ सकी है। विचारों के अत्यधिक भार मे भाषा मन्दगति से ही प्रवाहित होती है, फलतः वाक्य भी लम्बे हो गए है। 'व्यापक उद्देश्य', 'संकुचित और परिमित विधान', 'अभावमय', 'आनन्दशून्य', 'असलक्ष्यक्रम अनुमान', 'स्वरूप वैचित्र्य की रक्षा', 'आदर्श रूप का सघटन'; 'सामान्य आदर्श' और 'करुण तीव्रता का सापेक्ष विधान' इत्यादि शब्द तथा वाक्यांश विभिन्न वाक्यो में प्रयुक्त होकर विना व्याख्या के भाव स्पष्ट करने मे कठिनता उत्पन्न कर देते है।

भाषा का स्वरूप—उक्त समास-शैली के अनुसरण मे शुक्लजी की गद्य भाषा का स्वरूप तत्सम शब्द बहुल हो गया है। सामान्यतः मनोविकार सम्बन्धी तथा समीक्षात्मक निवन्धो मे तत्सम शब्दो के प्रयोग ही बहुलता से हुए है, परन्तु समीक्षात्मक निवन्धों मे तद्भव शब्दों, प्रचलित शब्दों, मुहावरो और लोकोक्तियो का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त गम्भीरता उनकी भाषा की उल्लेखनीय विशेषता है। वह गम्भीर से गम्भीर विषयों के प्रतिपादन के लिए सक्षम कही जा सकती है। कही-कही हास्य-व्यंग्य की झलक भी इस गम्भीरता के आवरण को हटाती हुई दिखाई पड़ जाती है। गद्य भाषा की तथ्य-निरूपण शैली का प्रायः उन्होंने

अनुसरण किया है। भावावेश शैली का बहुत थोड़े स्थलों पर ही प्रयोग हुआ है। कई ऐसे स्थल भी हमे मिल जाते है जिनसे यह संकेत मिलता है कि उनकी भाषा मे वस्तु अथवा दृश्यों के चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता विद्यमान है। उससे मूर्तिविधायिनी शक्ति का सकेत मिलता है। प्रायः भाषा इतिवृत्तात्मक है। भाव प्रकाशन के अवसर विचारात्मक निबन्धों में अत्यल्प होते है अतएव शुक्लजी के निवन्धो की भाषा मे भाव प्रकाशन की धारा-तरंग विक्षेप शैलियो का प्रायः अभाव है।

शुक्लजी के निबन्धो की भाषा कहीं-कही काव्य गुणों से युक्त भी मिलती है। वह अलंकृता कही जा सकती है। 'प्रफुल्ल-प्रसून-प्रसार के सौरभ-सचार, मकरन्द लोलुप मधुप-गुजार, कोकिल कूजित निकुञ्ज और शीतल-सुख-स्पर्श समीर' इत्यादि प्रयोगो मे भाषा को अनुप्रास की छटा से सुशोभित करने की तथा काव्यगत सौन्दर्य की सृष्टि करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इसके साथ ही कही-कही ऐसे भी स्थल मिल जाते है जहाँ सरल तथा भावमयी शैली का अनुसरण किया गया है, जहाँ शुक्लजी का हृदयगत भाव अपने अविरल प्रवाह के साथ, पूरे वेग से, धारा के समान, आगे वढता-चलता प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों की भाषा मे दुरूहता या अस्पष्टता नही। यह हम निस्संकोच कह सकते है कि उनका भाषा पर पूर्ण अधिकार है। वह उनके भावो की अनुगामिनी एव वशवर्तिनी है। जैसे भाव का प्रकाशन करना होता है भाषा वैसा ही रूप धारण कर लेती है। उनके भाव भाषा के रूप से झलकने लगते है। जहाँ-जहाँ उनकी हृदय वृत्ति ने आगे वढकर अन्तर्यात्रा के पथ पर अपना प्रसार किया है वहाँ-वहाँ भाषा सर्वथा भावानुसारणी ही कही जा सकती है। हृदय वृत्ति के प्रसार के सकुचित होते ही भाषा अपने सहज-सयत एव गभीर-रूप को धारण करके बुद्धि वृत्ति की सेवा में निरत हो जाती है। जहाँ वे किसी कुप्रवृत्ति के प्रति व्यग करना चाहते है वहाँ उनकी विनोदवृत्ति सहायक वनकर भाषा को तदनुकूल रूप प्रदान कर देती है। जहाँ कही ऐसे हास्य और व्यग के स्थल उनके निबन्धों मे आए है वहाँ भाषा का रूप अत्यन्त सरल है और वहाँ प्रचलित बोलचाल की भाषा के

शब्द ही अधिकतर प्रयुक्त होते है। कही-कही इस व्यंग्य के साथ हृदय का क्षोभ भी भाषा के शब्दो तथा वाक्यों में उचकता प्रतीत होता है। अपनी भाषा से ही वे कही भर्त्सना करते, धमकाते खीझते-झुँझलाते; कही सलाप या भाषण करते; कही विवरण प्रस्तुत करते दृष्टिगोचर होते है। कभी-कभी उनकी नीतिवादिता पूरे वेग के साथ आगे बढने लगती है और उनकी भाषा मे भाषण शैली का विकास होने लगता है और वे व्याख्यान देते प्रतीत होते है। शुक्लजी की भाषा उनके व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। गम्भीर विषय के विवेचन मे गम्भीरता तथा हृदय के भावो के प्रकाशन मे सरलता इसी तथ्य पर प्रकाश डालती है। तथ्य निरूपण के बीच-बीच भावाभिव्यजक भाषा का चलतापन पर्याप्त रोचक कहा जा सकता है। बोलचाल मे प्रयुक्त होने वाले उर्दू-फारसी के प्रचलित शब्द भी स्वच्छन्दता से आते गए है। उदाहरण के लिए दास्तान, हरदम, जमाना, तादाद, वक्फ, इजारा, मुरौवत, कुर्क-अमीन, गैर, नौवत, नजर, जुर्म, खब्त-उल-हवास आदि शब्द प्रस्तुत किये .जा सकते है। लोकोक्तियों तथा मुहावरो के यथा स्थान एवं यथोचित रीति से प्रयुक्त होने से भाषा मे प्रभावोत्पादकता की सृष्टि हुई है। निस्सन्देह भाषा-विषयक शुक्लजी का दृष्टिकोण बड़ा उदार था। वे भावो के अनुरूप भाषा को रूप प्रदान करने मे पूर्ण सिद्धहस्त कहे जा सकते है। उनके निबन्धो की साहित्यिकता मे भाषा-सम्बधी गुणों का भी पर्याप्त भाग कहा जा सकता है।

सूक्तिमयता—शुक्लजी की तथाकथित अन्तर्यात्रा के बुद्धि पथ को जैसे हृदय वृत्ति ने सरसता प्रदान की वैसे ही उनकी सूक्तिमयता ने इस पथ को आलोकित किया है। उक्ति से केवल अर्थ का द्योतन मात्र होता है, परन्तु सूक्ति अर्थ प्रकाशन मे चमत्कारपूर्ण कौतुक उत्पन्न कर देती है। शुक्लजी ने अपने निबन्धों मे ऐसी अनेक स्वरचित सूक्तियाँ विन्यस्त की है कि उनकी भाषा मे साहित्यिक-संक्षेप की सृष्टि हो गई है। उनकी जीवनानुभूतियाँ बडे मार्मिक ढग से इन सूक्तियों के द्वारा पाठक तक पहुँचती है। प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर ऐसी अनेक सूक्तियाँ उपलब्ध होती है। मनोविकार सम्बन्धी

निबन्धों मे तो उनकी भरमार है। इनमे पर्याप्त काव्यत्व है। कविता की भाँति ये भी शीघ्र ही जीभ पर नाचने लगती है। उदाहरण के लिए कुछ सूक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत की जाती है—१. भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है, २ कर्म सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते है, ३ प्रेम मे घनत्व अधिक है श्रद्धा मे विस्तार, ४ यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण, ५. करूणा सेत का सौदा नहीं ६ दूसरों का भय हमे भगा सकता है, हमारी बुराई को नही, ७ लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख, ८ ईर्ष्या अत्यन्त लज्जावनी वृत्ति है, ९ वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है १० कर्त्ता से बढकर कर्म का स्मारक दूसरा नही।

इतिहास सम्बन्धी रचनाएँ—शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास भी लिखा है। प्रश्न यह है कि क्या इस इतिहास को उनकी साहित्यिक रचनाओं मे परिगणित किया जा सकता है। यदि गम्भीरता मे विचार किया जाए तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि जिस रूप मे यह इतिहास लिखा गया है उस रूप मे वह अशत: साहित्य का एक विशिष्ट रूप माना जा सकता है। यह शुद्ध इतिहास नही है,इसने तो ऐतिहासिक समालोचना का रूप धारण कर लिया है। शुद्ध इतिहास मे व्यक्ति को प्रधानता नही दी जाती अर्थात् उसमे लिखने वाले का अपना व्यक्तित्व प्रतिफलित नही होता है। साहित्यिक रचना के लिए व्यक्तित्व के प्रतिफलन की अपेक्षा स्वीकार की जाती है। शुक्लजी के इस इतिहास मे कुछ अश ऐसा भी है जिसमे उनका अपना निरपेक्ष चिन्तन, स्वतन्त्र मान्यताएँ, व धारणाएँ, रुचि व प्रवृत्ति का आभास स्पष्टतया मिल सकता है। जिस भावयित्री प्रतिभा मे किसी कवि की समीक्षा की जाती है, रचना के गूढतम रहस्यो का अन्वेषण-विश्लेषण किया जाता है, उसकी अन्त: प्रवृत्तियो का निर्धारण व निरूपण किया जाता है वही भावयित्री प्रतिभा इस इतिहास के मूल मे भी परिलक्षित होती है। इस प्रकार इसमे ऐतिहासिकता और साहित्यिकता का समन्वय हो गया है। ऐतिहासिकता कवियो के इतिवृत्त, सवत् आदि के समावेश से सम्पन्न हो गई है और साहित्यिकता कवियो की रचनाओं की समीक्षा से समाविष्ट हो गई है। यह इति-

हास कवियो की अन्तः प्रवृत्तियो, रुचियो, साहित्यिक विशेषताओं, उनकी पारस्परिक समताओ व विषमताओ के अध्ययन मे भी सहायक हो सकता है। समीक्षात्मक ग्रन्थों के अनुरूप उसकी साहित्यिक रुचियो के निर्माण मे, स्वरूप निर्धारण मे, पथ-पदर्शन मे उपयोगिता मानी जा सकती है। यद्यपि साहित्य-समीक्षा और साहित्य के इतिहास मे सामान्य भिन्नता होती है तथापि शुक्लजी ने अपने इस इतिहास मे इन दोनो मे अभिन्नता सम्पादित कर दी है। यह 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', इतिहास के साथ समीक्षा भी है अतएव यह साहित्य का ही एक अग बन गया है।

शुक्लजी के इस इतिहास मे उनके व्यक्तित्व का अनुसन्धान किया जा सकता है। कही-कही उन्होने अपने वैयक्तिक जीवन का भी अश प्रस्तुत किया है। विशेषतया उनका व्यक्तित्व कवियो की समीक्षा तथा मूल्याकन मे प्रतिफलित हुआ है। कबीर तथा केशव के इतिवृत्त का उल्लेख करते हुए शुक्लजी ने अपनी दार्शनिक व साहित्यिक मान्यताओ को प्रमुखता दी है। शुद्ध इतिहासकार वैज्ञानिक की भाँति निरपेक्ष होकर इतिवृत्त का विवरण प्रस्तुत करता है, परन्तु उन्होने सापेक्षता से उक्त दोनो कवियो का इतिवृत्त प्रस्तुत किया है। यही सापेक्षता प्रायः प्रत्येक काल के कवियो के विवरण व विवेचन मे सिद्ध की जा सकती है।

शुक्लजी के व्यक्तित्व की सर्वप्रमुख विशेषता वैज्ञानिक प्रवृत्ति है। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने से पूर्व उन्होने अपनी इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर 'काल विभाजन' किया और तदनन्तर अन्वेषण-सश्लेषण की प्रक्रिया मे इतिहास के स्वरूप की उद्भावना की है।

साहित्य के इतिहास की परिभाषा—शुक्लजी ने काल विभाजन के आधार की प्रतिष्ठा के लिए सर्वप्रथम 'साहित्य के इतिहास' की परिभाषा निर्धारित की है। वे कहते है, "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का सचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप मे भी परिवर्तन होता चलता है। आदि से अन्त तक इन्ही चित्तवृत्तियों की

परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास, कहलाता है ।''

काल विभाजन—उक्त परिभाषा को अपना मूल आधार बना कर शुक्लजी ने 'काल विभाजन' के लिए 'चित्तवृत्ति' को ग्रहण किया है। कवियों की सामान्य चित्तवृत्ति का अनुशीलन करके साहित्यिक प्रवृत्ति का निर्धारण और उस प्रवृत्ति के विस्तार के काल के अनुसन्धान के द्वारा विकास-क्रम की सीमा का निर्णय इस इतिहास के काल विभाजन के प्रमुख अग कहे जा सकते है ।

नामकरण—कालक्रम का विभाजन करने के उपरान्त उसका नामकरण भी विशिष्ट साहित्यिक रचनाओ की बहुलता को दृष्टि मे रखते हुए किया गया है अर्थात् एक काल मे जिस प्रकार की रचनाएँ अधिक सख्या मे निर्मित हुई है उन्ही के आधार पर उन्होने उस काल विशेष का नामकरण कर दिया है। यही कारण है कि उन्होने प्रत्येक काल के प्रारम्भ में 'सामान्य परिचय' लिखा है। उन्होने हिन्दी साहित्य के नौ सौ वर्षो के इतिहास का निम्नलिखित रूप से विभाजन व नामकरण किया है—

१. आदिकाल (वीरगाथा काल, सवत् १०५०—१३७५), २. पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल, सवत् १३७५—१७००), ३. उत्तर मध्यभारत (रीति काल, सवत् १७००—१९००), ४. आधुनिक काल (गद्य काल सवत् १९००—१९८४)

वीर गाथा काल—(१०५०—१३७५) तीन सौ पच्चीस वर्ष के इस दीर्घ काल के नामकरण का आधार चित्तवृत्ति ही है। इस नामकरण के सम्बन्ध मे वे लिखते है कि ''आदि काल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नही होता है । धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहो मे मिलती है। इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढाइयों का आरम्भ होता है तब से हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप मे बधती हुई पाते है। राजाश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति,

शृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओ मे सुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रय-दाता राजाओ के पराक्रम पूर्ण चरितो या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यही प्रबन्ध परम्परा 'रासो' के नाम से पाई जाती है जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथा काल' कहा है।"

यह स्पष्ट है कि उन्होंने काल विभाजन तथा नामकरण मे रचनाओ और उनकी विशेष प्रवृत्तियों को ही प्रधानता दी है रचयिता कवियों को नही। इस प्रकार काल का नामकरण करके फिर उन्होने उसका विश्लेषण किया है। इस काल के भाषा स्वरूप को आधार बना कर उन्होने इसे तीन भागों मे विभक्त कर दिया—अपभ्रश काल, देश भाषा काव्य (वीरगाथा) फुटकर रचनाएँ। फिर इन तीनो का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। इस सारे वर्गीकरण और विवेचन मे उनका अपना व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। वे काव्यत्व के लिए स्वाभाविक अनुभूतियो को महत्त्व देते है। यही बात हमे यहाँ मिलती है। वर्गीकरण करते हुए इसीलिए उन्होने 'अपभ्रंश काल' शब्द का प्रयोग किया है 'अपभ्रग काव्य' नही। इसके विपरीत 'देश भाषा काल' न कह कर 'देश भाषा काव्य' का प्रयोग किया है। शुक्लजी सिद्धों और योगियो की रचनाओं को शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नही मानते है, क्योंकि उनमे साम्प्रदायिक शिक्षाएँ तो है, परन्तु उनका जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओ के साथ कोई सम्बन्ध नही।

'रासो' ग्रन्थों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता सम्बन्धी सारा विवेचन 'निबन्ध' रूप का संकेत करता प्रतीत होता है। फुटकर रचनाओं के प्रकरण में भी उनके व्यक्तित्व की झलक मिलती है। उनकी रुचि व प्रवृत्ति विद्यापति के प्रसंग की इन पंक्तियो मे देखी जा सकती है—"आध्यात्मिक रंग के चश्मे आज-कल बहुत सस्ते हो गए है। उन्हे चढाकर जैसे कुछ लोगों ने 'गीतगोविन्द' के पदो को आध्यात्मिक सकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी। सूर आदि कृष्ण भक्तों के शृंगारी पदों की भी ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते है, पता नही बाल लीला के पदों का वे क्या करेगे।"

भक्ति काल—इस काल मे विवेचन व इतिवृत्त वर्णन का उक्त क्रम ही दृष्टिगोचर होता है। 'सामान्य परिचय' में उस सामान्य चित्तवृत्ति का परिचय दिया गया हे जिसके आधार पर काल की सीमा का निर्धारण तथा नामकरण किया गया है। तदनन्तर विशेपताओं के आधार पर इस काल की रचनाओ का वर्गीकरण करके कवियों का इतिवृत्त तथा उनकी कृतियों की आलोचना प्रस्तुत की गई है। यह 'सामान्य परिचय' एक प्रकार से भक्ति काल विपयक निवन्ध ही है। इस प्रकार इतिहास सम्वन्धी यह ग्रन्थ साहित्यिक रूप धारण कर लेता है। शुक्लजी की समन्वयवादी प्रवृत्ति तथा कर्म सौन्दर्य की रुचि स्पप्ट रूप मे इस परिचय की पक्तियो में मिलती है। इसमे विपय की प्रधानता के साथ व्यक्तित्व की सत्ता भी परिलक्षित होती है। भक्ति काल की विभिन्न धाराओ का स्वरूप तथा इनके अन्तर्गत आने वाले कवियो के इतिवृत्त और रचनाओ की समीक्षा इस प्रकरण मे प्रस्तुत कर दी गई है। समीक्षा का आधार भी शुद्ध रूप से भारतीय काव्य सिद्धातों को वनाया गया है। इतिहासान्तर्गत कवियो की सक्षिप्त, सारपूर्ण समीक्षाएँ साहित्यिकता का पूर्ण परिचय देती है। विश्वम्भर मानव के कथनानुसार साहित्य के इतिहास को चित्र भवन समझना चाहिए। इस चित्र भवन मे साहित्यकारों के आकृति चित्र के साथ उनके हृदय और मस्तिप्क के चित्र भी रहने चाहिएँ। शुक्लजी का इतिहास इसी प्रकार का चित्र भवन है। इस दृप्टि से वे एक निपुण चित्रकार कहला सकते है।

एक ही धारा के अन्य कवियो के साथ किसी कवि की तुलनात्मक समीक्षा ऐतिहासिक समीक्षा कही जा सकती है। ठीक यही रूप हमे इस इतिहास मे स्थान-स्थान पर मिलता है। प्रेममार्गी कवियो की परम्परा का इतिवृत्त प्रस्तुत करते हुए उन्होने प्रेम काव्यों मे वर्णित कथाओं का साराश रोचक ढग से प्रस्तुत किया है। यह अंश भी पूर्ण साहित्यिकता का विधायक है। तुलसीदास के प्रसग में निर्णयात्मक समीक्षा का भी रूप इतिहास मे मिल जाता है जव वे यह लिखते है कि भारतीय जनता का कवि यदि किसी को कह सकते है तो तुलसीदास को। इतिहासान्तर्गत ऐसे

समीक्षात्मक स्थल शुक्लजी के व्यक्तित्व का पूरा ग्राभास देते है। उनकी हृदयवृत्ति इतिहास की मरुभूमि को अपनी सजलता से हरित शाद्वल के रूप मे परिवर्तित कर देती है। ऐसे ही स्थलो के कारण यह इतिहास उनकी साहित्यिक प्रतिभा को सूचित करता है। इन स्थलो की भाषा भी अलकृत एव मर्म स्पर्शिनी है, वह काव्य गुणो से युक्त कही जा सकती है। केशव और बिहारी की समीक्षाओ मे उनकी हृदय वृत्ति स्पष्ट झलकती प्रतीत होती है। भावना भाषा मे बल का सचार कर देती है। भावनाओ की प्रेरणा पाकर जब शुक्लजी किसी कवि की समीक्षा करते हुए अपना निर्णय प्रस्तुत करते है तो उसमे पर्याप्त प्रभावोत्पादकता उत्पन्न हो जाती है। ऐसे निर्णयो मे तर्क और भावना का समन्वय भाषा मे सजीवता की सृष्टि कर देता है।

आधुनिक काल—आधुनिक काल के प्रकरण मे भी उनके व्यक्तित्व की झाँकी स्थान-स्थान पर हमारे सम्मुख आती है। एक आलोचक की यह उक्ति कि 'स्थान-स्थान पर साहित्यिक व्यग्य हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक विशेषता है' वास्तव में सारपूर्ण एवं सत्य कही जा सकती है। इस काल के विवेचन में तो उनकी व्यग्य प्रवृत्ति को अपने प्रसार के लिए अनेक अवसर मिलते रहे है। इस दृष्टि से द्वितीय उत्थान का प्रकरण विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त नई धारा के तृतीय उत्थान का विवरण तो पूर्णतया साहित्यिकता का ही स्मारक कहा जा सकता है। उसकी भाषा उसकी विवेचन शैली, उसकी भावाभिव्यक्ति, उसके विचारो की गम्भीरता सभी काव्यत्व के गुणों से भरपूर है। शुक्लजी की छायावादी प्रकृति के सम्बन्ध मे अपनी धारणाएँ व भावनाएँ विभिन्न रूपो मे अवसर पाकर उचकती-झाकती परिलक्षित होती है। कही उनका क्षोभ, कही उनका व्यग्य-उपहास कही उनकी तुष्टि-स्तुति, कही तर्कपूर्ण युक्तियाँ इस सारे प्रकरण को सजीव एव प्रभावोत्पादक काव्यस्वरूप मे परिणत कर देती है। यह सारा प्रसग साहित्यिक निबन्ध या व्याख्यात्मक आलोचना का उदात्त स्वरूप उपस्थित करता है। छायावाद रहस्यवाद के चार प्रमुख आधार स्तम्भो जयशकर

प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला तथा महादेवी वर्मा की कृतियों की समीक्षा उनकी साहित्यिकता का ही सकेत करती है। उनकी ऐतिहासिकता पर साहित्यिकता का झीना आवरण पड़ता परिलक्षित होता है, अत: यह कहा जा सकता है कि उनका यह 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी एक प्रकार से साहित्यिक रचना ही है। इसके द्वारा भी वे अपनी बात को प्रबल युक्तियों तथा उदाहरणो के माध्यम से सिद्ध करने का यत्न करते है और उसे दूसरो के हृदय और मस्तिष्क तक पहुँचाने का उपक्रम करते है। इसे भी वे आलोचना के समान साहित्यिक गति के नियन्त्रण मे साधन बनाना चाहते है। साहित्य के समान इसमे भी वह शक्ति निहित करना चाहते है जो पाठकों के हृदय पर अपनी अमिट छाप उत्पन्न कर सके। निस्सदेह उनका यह इतिहास आलोचना-साहित्य के समान रचनाकारों की अन्तर्वृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण मे और रचनाओं में अन्तर्व्याप्त सूक्ष्म रहस्यों के अनुशीलन मे पूर्ण सहायक कहा जा सकता है।

अनूदित गद्य ग्रन्थ—अन्य भाषाओं की गद्यात्मक रचनाओं का अनुवाद शुक्लजी ने किया है। ये अनुवाद अग्रेजी तथा सस्कृत भाषा के ग्रन्थों के है। अधिक सख्या अग्रेजी से अनूदित ग्रन्थों व लेखों की है। अनूदित ग्रन्थों को वर्ण्य विषय के आधार पर चार भागों मे विभक्त किया जा सकता है—१ शिक्षात्मक, २.दार्शनिक, ३. ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक, ४ साहित्यिक।

शिक्षात्मक ग्रन्थो में 'राज्य प्रबन्ध शिक्षा' और 'आदर्श जीवन' नामक दो ग्रन्थ लिए जा सकते है। 'राज्य प्रबन्ध शिक्षा' नामक ग्रन्थ सर टी० माधवराव के Minor Hints नामक अग्रेजी ग्रन्थ का अनुवाद है और 'आदर्श जीवन' स्माइल के 'Plain living and high Thinking' का अनुवाद है। Minor Hints की रचना महाराज सयाजीराव को राज्य-प्रबन्ध की शिक्षा देने के लिए की गई थी। अनुवाद करते समय शुक्लजी ने मूल ग्रन्थ के कुछ अशो को बीच-बीच मे छोड भी दिया है और 'अवशिष्ट' के रूप मे महाराज भिनगा द्वारा लिखित 'तअल्लुकेदारों के लिए कुछ अलग बाते' शीर्षक लेख भी सकलित कर दिया है। 'आदर्श जीवन' में मूल

पुस्तक के कुछ अश भारतीय विद्यार्थियों के लिए अनावश्यक समझकर छोड़ दिये गए है। दृष्टान्त रूप से मूल पुस्तक मे जहाँ यूरोप के प्रसिद्ध पुरुषो के वृत्तान्त आए है वहाँ यथासम्भव भारतीय पुरुषों के दृष्टान्त दे दिये गए है। इस प्रकार यह अनुवाद भारतीय पाठको के लिए उपयोगी बना दिया गया है।

दर्शन सम्बन्धी विषय को लेकर उन्होने 'विश्व प्रपच' नामक अनूदित ग्रन्थ लिखा है। यह जर्मन दार्शनिक हैकल की विख्यात पुस्तक Riddle of the Universe का अनुवाद है। शुक्लजी इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी के पाठको को आधुनिक भौतिक विज्ञान तथा दर्शन से परिचित कराना चाहते है। मूल विषयो को अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्होंने इस पुस्तक के प्रारभ में लगभग डेढ सौ पृष्ठों की भूमिका लिखी है। यह भूमिका उनके दार्शनिक व वैज्ञानिक ग्रन्थो के गम्भीर अध्ययन व मनन का परिणामस्वरूप है। भूमिका मे भौतिकी Physics के मूल भूत तत्त्वो का सामान्य परिचय करवाया गया है। साथ ही जीव-विज्ञान Biology और डारविन के विकास वाद की चर्चा कर दी गई है। इसके अतिरिक्त प्रसगानुसार रसायन शास्त्र Chemistry तथा भूगर्भ विद्या Geology सम्बन्धी तथ्यों पर भी विचार प्रस्तुत किये है। अन्तिम भाग में भौतिकवाद तथा भाववाद (अध्यात्म-वाद) के पक्षों के तर्क भी उल्लिखित हो गए है। मूल पुस्तक मे प्राणियो के विषय मे तथा आत्मा, ईश्वर, प्रकृति आदि दार्शनिक विषयों के सम्बन्ध मे विवेचना है। अनुवाद को भारतीय पाठको के लिए विशेष उपयोगी बनाने के लिए उन्होने वृत्तान्तों तथा दृष्टान्तो के विन्यास मे कुछ सामान्य परि-वर्तन अवश्य किये है। शुक्लजी के दार्शनिक मन्तव्यों का स्वरूप इस अनू-दित ग्रन्थ की भूमिका से स्पष्ट किया जा सकता है।

ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक अनुवाद ग्रन्थों में डाक्टर श्वानवक द्वारा लिखित Megasthenes Indica का अनुवाद 'मेगास्थिनीज का भारत-वर्षीय विवरण' प्रसिद्ध है। वर्ण्य विषय की स्पष्टता के लिए इसके प्रारम्भ में भी भूमिका है। इस भूमिका मे चन्द्रगुप्त और सिकन्दर के विषय मे

सक्षिप्त ऐतिहासिक चर्चा है ।

साहित्यिक गद्यानुवादो मे 'कल्पना का आनन्द' और 'शशाक' ये ग्रन्थ उल्लेखनीय है । प्रथम ग्रन्थ एडिसन के Essay on the Imagination का हिन्दी गद्यानुवाद है । इसमे छोटे-छोटे ग्यारह प्रकरण है । इस पुस्तक को भारतीय पाठकों के लिए उपयोगी बनाने की दृष्टि से उन्होने भारतीय घटनाओ तथा व्यक्तियो को रखने का प्रयास किया है ।

'शशाक' राखालदास बद्योपाध्याय द्वारा लिखित बगला उपन्यास का हिन्दी रूपान्तर है । यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है । अन्य अनूदित ग्रन्थो के अनुरूप इसमे भी शुक्लजी ने एक छोटी भूमिका लिखी है । इसमे उन्होने मूल उपन्यास की उन विशेषताओं को स्पष्ट किया है जिनके कारण वे इसके अनुवाद मे प्रवृत्त हुए है । वे हिन्दी मे मौलिक ऐतिहासिक उपन्यासो की स्वस्थ परम्परा देखना चाहते थे । वे आधुनिक काल के द्वितीय उत्थान मे लिखे गए ऐतिहासिक उपन्यासों की पद्धति से सन्तुष्ट न थे । उनकी धारणा के अनुसार ऐतिहासिक उपन्यासो में सम्बद्ध काल की सामाजिक स्थिति तथा सस्कृति का पूर्ण विवरण रहना चाहिए । राखालदास के इस उपन्यास में उन्हे ऐसी स्थितियों की उदभावना करने वाली ऐतिहासिक कल्पना के दर्शन हुए है इसीलिए उन्होने इसका हिन्दी गद्य मे अनुवाद किया । वे इसके द्वारा हिन्दी मे भी ऐतिहासिक उपन्यासो की परम्परा स्थापित करना चाहते थे । इसी भूमिका मे उन्होने उपन्यास मे गृहीत काल की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि को अधिक स्पष्ट करने का उपक्रम किया है। इस सारे प्रकरण मे उनकी ऐतिहासिक चेतना या रुचि, अनुसन्धान की प्रवृत्ति का प्रदर्शन होता है । वे अन्त मे इस बात का उल्लेख कर देते है कि उन्होने मूल कथानक मे कुछ साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से परिवर्तन किया है । वे कहते है–"मूल लेखक ने हर्षवर्धन की चढाई मे शशाक की मृत्यु दिखाकर इस उपन्यास को दु:खान्त बनाया है । मैने शशाक को गुप्तवश के गौरव रक्षक के रूप मे दक्षिण मे पहुँचाकर उनके नि स्वार्थ रूप का दिग्दर्शन कराया है ।"

उक्त परिवर्तन के मूल मे ऐतिहासिक तथ्य ही है, स्वच्छन्द कल्पना

नही। शुक्लजी ने मूल उपन्यास के पात्रों में सैन्यभीति और उसकी बहन मालती को भी समाविष्ट कर दिया है। उसका कारण कथा के प्रवाह को अपनी कल्पना के अनुरूप बदलने की चेष्टा ही है। वे कथा का अन्त भारतीय परम्परा के अनुरूप सुखान्त करना चाहते थे, अतएव उन्होने इतिहास के क्षेत्र से ऐसे तथ्यो का सचय किया जो उनकी उक्त चेष्टा मे सहायक हो सकते थे। फलतः उन्होंने मूल कथा में दो नवीन पात्रों का समावेश करके नवीन तथ्यों की सृष्टि कर दी। मूल पुस्तक मे करुण रस की पुष्टि के लिए यशोधवल की कन्या लतिका का शशाक पर प्रेम दिखाकर 'शशाक' के जीवन के साथ ही उसके जीवन का भी अन्त कर दिया गया है परन्तु रूपान्तर मे उन्होने लतिका का प्रेम सैन्यभीति पर दिखाकर उसके प्रेम को सफल किया है। सैन्यभीति की बहन मालती का अद्‌भुत तथा अलौकिक प्रेम शशाक के प्रति प्रदर्शित किया है। इस प्रकार इस अनुवाद मे उन्होने अपनी कल्पना शक्ति का सचार कर दिया है।

इन अनूदित ग्रन्थों के अतिरिक्त शुक्लजी ने कई अग्रेजी के लेखों का भी हिन्दी में रूपान्तर किया है। इन अनूदित लेखों को विषय की दृष्टि से देखने से विदित होता है कि इनमें मनोविज्ञान, दर्शन, प्राचीन इतिहास तथा संस्कृति के साथ सम्बन्ध रखने वाले विषय ही है। 'अखण्डत्व', 'सदाचार और उत्तम प्रकृति', 'प्रगति व उन्नति उसका नियम और निदान', आदि लेख दर्शन व मनोविज्ञान सम्बन्धी है। 'पारस का प्राचीन इतिहास'; 'प्राचीन भारतवासियों की समुद्र यात्रा'; 'भारत के इतिहास मे हूण', 'बुद्धघोष' तथा 'प्राचीन भारतवासियों का पहिरावा' आदि लेख भी शुक्लजी की रुचि व प्रकृति पर पूर्ण प्रकाश डालते है।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से तो इन अनूदित लेखों व पुस्तको का महत्त्व स्पष्ट ही है। गम्भीर से गम्भीर विषय जो अग्रेजी भाषा में लिखे जा रहे थे, उनके अनुवाद से ये विषय हिन्दी पाठको व लेखकों के सम्मुख आने लगे और उनमे गम्भीर चिन्तन व मनन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलने लगा। भाषा की दृष्टि से भी इनकी विशिष्ट उपयोगिता प्रतिपादित की जा सकती

है। विश्व प्रपच' जैसे भौतिक व रासायनिक विषय वाली पुस्तक के द्वारा भाषा मे नवीन-नवीन पारिभाषिक शब्दो का प्रचलन होने लगा। शुक्लजी ने अग्रेजी के पारिभाषिक शब्दो को हिन्दी रूप देते समय बडी तत्परता से काम लिया है, अतएव ये शब्द बहुत उचित एव सशक्त बन सके है। इन शब्दो के द्वारा हिन्दी गद्य में भावाभिव्यंजकता की शक्ति बढ गई है। इस प्रकार हिन्दी गद्य के विकास मे उनके ये अनूदित ग्रन्थ भी अपना विशिष्ट स्थान व महत्त्व रखते हैं। इनकी भाषा प्रौढ, प्राञ्जल तथा सुपरिष्कृत है।

अनूदित ग्रन्थो मे 'शशाक' और 'कल्पना का आनन्द' ये दो ग्रन्थ ही साहित्यिक क्षेत्र के है। इन दोनों ग्रन्थो की भाषा हिन्दी गद्य के प्रौढ रूप तथा अनेक गद्य शैलियों के उदाहरण प्रस्तुत करती है। 'शशाक' उपन्यास की भाषा वास्तव मे कथा साहित्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त एवं आदर्श भाषा है। शब्द चयन की दृष्टि से यह तत्सम शब्द प्रधान है। दृश्यचित्रो मे, वस्तु वर्णनो मे प्राय. शब्द शुद्ध सस्कृत के है। तत्सम शब्दो की अतिशयता होने पर भी इस गद्य रूप मे कहीं भी दुरूहता तथा अस्पष्टता नही है। यह पर्याप्त सरल एवं सुबोध है। उसमे अपेक्षित प्रवाह है। कथा प्रसगों के विवरण प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक स्पष्टता सर्वत्र विद्यमान है। वाक्य प्राय: सर्वत्र छोटे-छोटे तथा सरल है। समास शैली का नाम निशान तक नही है। व्यास शैली की सी सरलता सर्वत्र उपलब्ध होती है। भावावेश की स्थिति में गद्य भाषा का रूप भी आवेशपूर्ण परिलक्षित होता है। संलाप शैली की व्यावहारिकता, भाषण शैली का ओजपूर्ण प्रवाह, भावावेश शैली का धारा-तरंगमय प्रवाह गद्य रूप को अत्यन्त भव्य, परिष्कृत एव प्रांजल स्वरूप प्रदान करता है। कही-कही गद्य-गीतो के से रूप भी उपलब्ध हो सकते है। लोकोक्तियों और मुहावरो के प्रयोग मे भी भाषा की व्यवहारोप—योगिता में उल्लेखनीय वृद्धि हो गई है। हिन्दी गद्य के विकास मे भाषा की दृष्टि मे जो स्थान उनके समीक्षात्मक निबन्धो का, उनकी आलोचनात्मक कृतियो का है वही स्थान उनके गद्यात्मक अनुवाद-ग्रन्थो को भी दिया जा सकता है। उनकी यह देन भी चिरस्मरणीय एव महत्त्व पूर्ण है।

आचार्य शुक्ल : नवीन आलोचकों की दृष्टि में

शुक्लजी के आचार्यत्व और साहित्यकार रूप की विशद विवेचना करने के उपरान्त हम हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे उनका स्थान निर्धारित कर सकते है। आधुनिक काल के प्रायः सभी प्रमुख आलोचकों ने उनके सम्बन्ध मे अपनी-अपनी धारणा विभिन्न अवसरो पर अपने लेखों में या ग्रन्थों मे प्रकट की है। यदि उनका गम्भीरता मे अनुशीलन किया जाए तो उनके स्थान व महत्त्व को समझने में कोई कठिनाई नही हो सकती है।

सामन्यतः सभी आलोचक यह स्वीकार करते है कि शुक्लजी की रचनाओं का, उनमे वर्णित काव्य सम्बन्धी धारणाओं का आधुनिक काल के प्रायः सभी आलोचको तथा पाठको पर गहरा प्रभाव पड़ा है। हिन्दी समीक्षा क्षेत्र में तो वे अपनी मौलिकता तथा सारग्राहिता के कारण युग के विधायक थे। समीक्षा का शास्त्रीय पक्ष अधिकतर उनकी मान्यताओ को लेकर ही स्थापित किया जा रहा है। समीक्षा सम्बन्धी उनके चिन्तन की प्रशसा प्रायः सभी करते है और यह कहते है कि उन्होने भारतीय तथा पश्चिमी काव्य मीमासा का अनुशीलन कर अपनी समीक्षा-पद्धति स्थापित की है। भारत की अन्य भाषाओं में इतना व्यापक और स्वस्थ काव्य चिन्तन हमे नही मिलता है। जितना शुक्लजी के इस स्वच्छन्द चिन्तन से हिन्दी भाषा में सम्पन्न हो गया है।

शुक्लजी को हिन्दी साहित्य में निवन्ध शैली निर्माता, इतिहास लेखक, अनुवादक तथा अध्यापक रूप में भी विशिष्ट स्थान व महत्त्व दिया जाता है परन्तु उनके समीक्षक एव काव्य मीमासक रूप की चर्चा अत्यधिक हुई है;

अतएव वास्तव में उनका स्थान आचार्य रूप से हिन्दी साहित्य में अधिक सुनिश्चित एवं सुस्थिर है। इसी रूप को लेकर उनके सम्बन्ध मे—पक्ष विपक्ष में—आलोचनाएँ की गई है। इसी रूप ने आधुनिक साहित्यिकों तथा समीक्षको को आन्दोलित एव उत्तेजित किया है। नवीन आलोचकों की दृष्टि मे शुक्लजी के स्थान को स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ कुछ आलोचकों की सम्मतियाँ प्रस्तुत करते है।

जैनेन्द्रकुमार—श्री जैनेन्द्रकुमार जी ने शुक्लजी के साहित्य-समीक्षा सागर के आलोड़न-विलोड़न के परिणाम स्वरूप नौ रत्न प्राप्त किये है। उनका क्रमशः उल्लेख यहाँ किया जाता है—

१. "शुक्ल जी ने सत्य को आत्म सर्म्पण द्वारा नही, वल्कि वौद्धिक प्रयत्नवाद के द्वारा ग्रहण किया। परिणामस्वरूप त्याग की ज्योति और समन्वय की शक्ति उतनी उनमे नही जगी जितनी प्रतिपादन की प्रबलता और स्थिति धर्म के समर्थन का आग्रह पुष्ट हुआ।"

श्री जैनेन्द्र जी को शुक्लजी के विषय-प्रतिपादन में सरसता, भावमयता तथा प्रगतिशीलता के दर्शन नहीं हुए। इन्हे उनका विषय प्रतिपादन कुछ नीरस, तर्क पूर्ण तथा प्राचीन पक्षो का समर्थक ही दृष्टिगोचर हुआ है। निस्सन्देह शुक्लजी समीक्षा को तर्क पर आधरित देखना चाहते है। केवल हृदय की अनुभूतियों पर ही उसे अवलम्बित नहीं करना चाहते। यह भी सत्य है कि वे नवीन पाश्चात्य सिद्धान्तो को प्राचीन सिद्धान्तों की कसौटी पर कसकर ही ग्रहण करना चाहते है। श्री जैनेन्द्रजी के समान वे अभिव्यजना-वादी क्रोचे के प्रशंसक नहीं वन सके। श्री जैनेन्द्रजी को क्रोचे अधिक सही और सूक्ष्मदर्शी लगते है। यह तो रुचि-भेद के ही कारण है।

२. "वह स्थिति के प्रतिनिधि और गति के विपक्ष में स्थिति के पक्ष के योद्धा के रूप मे खड़े हुए और जूझे। वह वीर थे।"

शुक्लजी की साहित्यिक वीरता का स्वरूप वास्तव में सत्य है, परन्तु इसका कारण केवल हठ या दुराग्रह नही अपितु उनका सत्याग्रह है। वीर वही है जो सत्य की रक्षा मे अडिग रहे। शुक्लजी श्री जैनेन्द्र जी के

कथनानुसार सतह को भेद कर नीचे को वस्तु की असलियत टटोलने की ओर प्रवृत्त होने वाले थे, उनकी नीव मजबूत थी और वे ब्योरो में नही भूलते थे। इस प्रकार गवेषणा और अध्यवसाय की शक्ति से जो सत्य रत्न शुक्लजी के हाथ मे आया था उसके प्रतिपादन व समर्थन मे यदि वे इतनी कट्टरता मे आगे न बढते तो वे भी पश्चिम की साहित्यिक बाढ में उसी प्रकार बहने लगते जिस प्रकार उनके तथाकथित प्रति पक्षी बहते रहते है और अपनापन ही गँवाते रहे है। शुक्लजी की अनुदारता, कठोरता, उनके कटीले व्यग्य इसी दृष्टि से स्पृहणीय लग सकते है।

३ "व्यक्ति और समाज को अन्योन्याश्रय में नहीं, बल्कि व्यक्ति को समाज के निमित्त उन्होंने समझा। परिणामत समाजनीति की कीमत काफी से अधिक औरव्यक्तिगत साधना की कीमत काफी से कम उन्होने आँकी।"

शुक्लजी ने तुलसी के काव्य मे लोकधर्म, लोकनीति और मर्यादावाद तथा मगलाशा की कल्पना की है। उन्हें तुलसी के काव्य मे व्याप्त लोक-कल्याण की मगलमयी ज्योति के दर्शन हुए है। श्री जैनेन्द्रजी की धारणा के अनुसार 'रामचरितमानम' तुलसी के व्यक्तित्व का निश्शेष आत्म निवेदन है। यदि कही समाजनीति के विशद एव भव्य स्वरूप की झाँकी उसमे उपलब्ध होती है तो उसमे तुलसी का अपना कोई प्रयास नही क्योकि कवि का दान नीतिदान नहीं आत्मदान है। इसी धारणा के आधार पर इन्होंने शुक्ल जी पर यह आक्षेप किया है कि वे निष्ठा से उतरकर तर्क का सहारा मान कर चले है। इसीसे काव्य मे अवगाहन करते हुए वे काव्य में ही रह गए है, कवि तक नही पहुँच सके है। तुलसी को उन्होने बहुत-कुछ अपनी तस्वीर मे देखा है, उनके मानस-बिम्ब मे नही। इसी कारण व्यक्तिगत साधना और लोकधर्मभक्त्युपासना और लोकव्यवहार आदि में विरोध देखने को उन्हें लाचार होना पड़ा है। यह आक्षेप सामान्यतः कवि-कर्म के सम्बन्ध मे प्रचलित नवीन मान्यताओं को अत्यधिक महत्त्व देने के ही कारण से हो सका है। शुक्लजी भी कवि की उपेक्षा नही करते है। 'कवि का अन्तर्जगत् ही काव्यगत शब्दों का रूप धारण करके साकार होता है' इस तथ्य का भी

उन्होने विरोध नही किया है। तुलसी की समीक्षा करते हुए भी उन्होने तुलसी के व्यक्तित्व की ही छानबीन की है। यह अलग बात है कि उन्हे उस व्यक्तित्व मे सामाजिकता के, लोकधर्म के, मर्यादावाद के, मंगलाशा के, बीज अकुरित एव पल्लवित दिखाई पड़े है। समाजनीति की स्थापना या व्याख्या के लिए कवि की उपेक्षा करना उनका ध्येय नही है। वे तो काव्य समीक्षा मे नीति-अनीति या शुभ-अशुभ इन शव्दो के प्रयोग को ही उचित नहीं समझते है। निस्सदेह शुक्लजी व्यक्तिगत साधना की अपेक्षा लोकधर्म के अनुष्ठान को अधिक श्रेयस्कर मानते है। तुलसी के व्यक्तित्व मे उन्हे यही लोकधर्म दृष्टिगोचर हुआ है और वे उसके प्रति अपेक्षाकृत अधिक आकृष्ट हुए है। वस्तुतः वे व्यक्ति के अस्तित्व को ही समाज पर निर्भर समझते है। सुरक्षा की स्थिति मे ही व्यक्ति को अपने प्रसार के लिए समुचित अवसर मिल सकता है। यह सुरक्षा समाज की सुदृढ स्थिति में ही सम्भव हो सकती है। समाज की छत्रछाया मे ही व्यक्ति पनपता, फूलता तथा फलता है।

४ "सत्य के उस रूप को उन्होने स्वीकार भाव से नही, वल्कि निषेध भाव से देखा जो उन्नति सम्पन्न करने के लिए स्थिति मे परिवर्तन उपस्थित करता है। अर्थात् जीवन मे प्रगतिपक्ष की सत्यता को वे अगीकार नही कर सके। यानी वह स्वधर्मनिष्ठ से अधिक निजमतवादी थे।"

अन्तिम शब्द आश्चर्यजनक है। शुक्लजी किसी मतवाद को साहित्य मे लाना उचित नही समझते है। वे प्रगति के भी विरोधी नही है। हाँ, प्रगति के स्वरूप व साधनो के सम्वन्ध मे मतभेद माना जा सकता है। हिन्दी साहित्य की उन्नति की दिशा मे वे प्रत्येक सत्य-साधन को अपनाने मे सकोच नही करते है परन्तु वे नवीनता को ही प्रगति व विकास मानना नहीं चाहते है। वे भद्दी नकल के विरोधी थे परन्तु स्वतन्त्र प्रगति और विकास के साधक प्रत्येक सत्य को ग्रहण करने मे उन्हें कभी संकोच नही हुआ। उन्होंने अपनी प्रगतिशीलता का रस सिद्धान्त की नवीन व्याख्या मे, प्रकृति के चित्रण सम्वन्धी मान्यताओं के प्रकाशन मे परिचय दिया है। वे रस

पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान आदि की सहायता से सस्कार व प्रसार करना चाहते है। वे हिन्दी साहित्य की प्रगति के सच्चे अभिलाषी है।

५. "पारिवारिक धर्म से आगे अब एक नागरिक धर्म की आवश्यकता है, जिसमे व्यक्ति समूचे समाज के प्रति अपने को दायी अनुभव करे, और यह परिवार धर्म की ही प्रशास्ति है। इसका स्वीकार इनके लेखो में नहीं मिलता। अर्थात् आधुनिक समाजवादी विचारो मे जो सत्य है उसे वे न अपना सके।"

शुक्लजी का लोकधर्म व्यापक है उसमे नागरिक धर्म घुला मिला है। उन्होने गृह धर्म से समाज धर्म, समाज धर्म, लोक धर्म और लोक धर्म से भी श्रेष्ठ विश्वधर्म की स्वीकृति की है। नागरिक धर्म की अस्वीकृति का प्रश्न इस व्यापक धर्म की स्वीकृति के रहते उपस्थित ही नही होता। यदि आधुनिक समाजवादी विचारो का पूर्णतया उल्लेख शुक्ल जी की रचनाओं में नही मिलता है तो उसमे विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योकि उनका क्षेत्र विशेषतया साहित्यिक ही रहा है, सामाजिक या राजनीतिक नही। किसी लेखक मे ससार के सभी पक्ष समान रूप से प्रतिबिम्वित नही हो सकते।

६. "उन्होने इस अश में वर्त्तमान का हित किया कि अपनी परम्परा से उसे बिछुड़ने न देने में अपनी शक्ति लगाई, अर्थात् साहित्य मे अनुत्तर-दायी और उच्छृंखल तत्त्वों को उन्होने उभरने से रोका।"

यह शुक्लजी के महत्त्व की यथार्थ अनुभूति है। उनकी प्रतिष्ठा का यही कारण है कि उन्होने स्वतन्त्र प्रगति के विरोधी तत्त्वों को विकास-पथ मे बाधक वनने नही दिया है।

७. "वर्त्तमान को भविष्य की ओर बढने में उनसे प्रेरणा नहीं मिली है।"

भविष्य की ओर बढ़ने के लिए शुक्लजी ने अपना सारा बौद्धिक प्रयास किया है। उनके विरोध की उत्तेजना ही इस बात का प्रमाण है। वर्तमान की आलोचना में भविष्य के मंगल एवं स्वस्थ स्वरूप के बीज सन्निहित

किये हैं। इनका अन्वेषण हमारा कर्त्तव्य है।

८. "उनके प्रतिपादन और खण्डन-मण्डन की दृढ़ता पूर्वक स्वीकृति अपने मतवाद मे आती थी। अतीत का विवेचन और Intupritation भी उन्होने तदनुकूल किया।"

प्रत्येक सत्यान्वेषी तथा सत्याग्रही को दृढता उसके अपने अन्तःकरण से ही होती है। वह आत्मदर्शी होता है परमुखापेक्षी नही। मानव स्वभाव से ही अपनी अन्तर्दृष्टि के माध्यम से ससार का—चाहे वर्त्तमान हो चाहे अतीत हो—विश्लेपण करता है। शुक्लजी इसके अपवाद नही है। वे अपने विपय का प्रतिपादन और मण्डन, अन्य पक्ष का खण्डन पूर्ण दृढता से करते है और यह दृढता उन्हे उनकी अपनी धारणाओ मे ही प्राप्त होती है।

९. "अपने और साहित्य-तत्त्व के वीच उन्होने एक प्रकार का बौद्धिक हेतुवाद का अन्तर रखा अर्थात् अपने को उन्होने साहित्यिक होते-होते बचाया और हठात् अपने को साहित्यालोचक वनाया। आलोचना मे भी वे आलोचक थे सर्जक नही।

शुक्लजी की विशेषता उनके आचार्यत्व में है। इसी आचार्यत्व ने उनकी साहित्यिक प्रतिभा को कुण्ठित किया है। सृजनात्मक प्रतिभा अपने विकास के लिए समुचित अवसर प्राप्त नही कर सकी। यह भी सत्य है कि उनकी आलोचना मे वौद्धिक चिन्तन की अधिकता है।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी—वाजपेयी जी समीक्षा में सामाजिक सम्पर्क की चर्चा करते है और साथ ही रचयिता की मनःस्थिति का पता लगाना भी आवश्यक समझते है। उन्हे शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति मे ये दोनों गुण उपलब्ध हुए है। वे यह भी स्वीकार करते है कि शुक्लजी में उच्चकोटि की रसज्ञता थी और उन्होने हिन्दी समीक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। वे नये युग के विधायक थे।

वाजपेयी जी ने शुक्लजी की आलोचना पद्धति मे कुछ खटकने वाली बातो का भी सकेत किया है। वे कहते है कि शुक्लजी ने अपने काव्य मान-दण्डो मे कुछ व्यक्तिगत रुचियों को समाविष्ट कर लिया है। अर्थात् समा-

लोचक की अपेक्षित तटस्थता उनमे कम है। इसी कारण उन्होने प्रबंध काव्य को मुक्तक काव्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया और निर्गुण-सगुण धाराओ मे से सगुण धारा की अपेक्षाकृत अधिक प्रशंसा की है। तटस्थता के अभाव के ही कारण उन्होने मध्यकालीन वैष्णवधर्म की आधार भूमि को समझने मे सहायता नही पहुँचाई। इसके अतिरिक्त उन्होने प्राचीन काव्य का दार्शनिक अथवा साहित्यिक मूल्य निर्धारण करने मे पक्षपात पूर्ण मनोवृत्ति का सकेत किया है। इसके अतिरिक्त उनका सारा चिन्तन द्विवेदी युग की व्यक्तिगन भावात्मक और आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता पर स्थित है। समाजशास्त्र, सस्कृति और मनोविज्ञान की वस्तून्मुखी विवेचना उन्होंने नही की। प्रवृत्ति विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य विवेचन भी प्रवन्ध-कथानक और जीवन सौन्दर्य के व्यक्त रूपों का आग्रह करने के कारण सर्वाङ्गीण और तटस्थ नही कहा जा सकता। इन्ही आक्षेपो के कारण वाजपेयीजी ने शुक्ल जी को हिन्दी साहित्य समीक्षा का 'वालारूण' कहा है। उसका युग समाप्त हो चुका है। नये युग के साथ नया साहित्य निर्मित हो रहा है। अतएव हिन्दी साहित्य समीक्षा को भी नए प्रकाश की आवश्यकता है। शुक्लजी वस्तुतः इस नवीन युग के साहित्य का नेतृत्व नही कर सकते।

डाक्टर नगेन्द्र—आधुनिक समीक्षको मे श्री नगेन्द्रजी का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने 'आचार्य शुक्लजी के दो काव्याभिमात' शीर्षक लेख में शुक्लजी के सम्वन्ध में अपने आक्षेप वर्णित किये है। 'काव्य मे अभिव्यंजना वाद' शीर्षक निवन्ध में शुक्लजी ने लिखा है कि काव्य मे रमणीयता वाच्यार्थ मे रहती है। चाहे वह योग्य और उपपन्न हो, चाहे अयोग्य और अनुपयुक्त। इस कथन से सीधा यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे वाच्चार्थ को ही काव्य मानते है। व्यंग्यार्थ व लक्ष्यार्थ को नही। इस पर डाक्टर नगेन्द्र का यह आक्षेप है कि इस कथन से शुक्लजी चमत्कारवाद को स्वीकार करते प्रतीत होते है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी दुर्बल क्षण मे उन पर अभिव्य-जनावादी क्रोचे का जादू चल गया है। वस्तुतः वाच्यार्थ में रमणीयता का

अधिवास नहीं माना जा सकता है, व्यंग्यार्थ में ही माना जाना चाहिए। लक्ष्यार्थ मे भी नहीं, क्योकि वह भी वाच्यार्थ की तरह माध्यम मात्र है। रमणीयता का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रस के साथ है और रस कथित नही हो सकता है। शुक्लजी के उक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ को अनुपपन्न अर्थ को उपपन्न करने का साधन मानते है, परन्तु वास्तव मे स्थिति इसके विपरीत है। वाच्यार्थ स्वयं ही अपने चमत्कारों के साथ व्यग्य रस का साधन या माध्यम है। शुक्लजी का यह कथन कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यग्यार्थ व लक्ष्यार्थ नही, एक हलका सा दिशान्तर भ्रमण है।

इस सम्बन्ध मे इतना ही कहा जा सकता है कि शुक्लजी लक्षणा और व्यंजना को अभिधा के ही आश्रित मानते है अतः वे उसे ही काव्यत्व का आधार प्रतिपादित करते है। उक्त कथन से अभिधा द्वारा सकेतित वाच्यार्थ के महत्त्व का ही सकेत लेना उचित है। शुक्लजी ने चमत्कार के विरोध के कारण अभिधा को महत्त्व प्रदान नही किया। उनके सिद्धान्त का विश्लेषण करने के उपरान्त हम यही समझते है कि वे भावशून्य चमत्कार के विरोधी थे। भावावेश के कारण जो उक्ति मे वक्रता आती है उसके वे विरोधी न थे। अनुपपन्न अर्थ वाले शब्द का प्रयोग प्रकारान्तर से वक्रता ही है। उसमे काव्यत्व का अधिवास मान कर वे इसी वक्रता का समर्थन करते है।

शुक्लजी ने 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध में यह लिखा है कि योरप का अभिव्यजनावाद हमारे यहाँ के पुराने वक्रोक्तिवाद का ही नया रूप या विलायती उत्थान है। श्री नगेन्द्रजी को इस उक्ति पर सबसे बडी आपत्ति यह है कि इस उक्ति से यह आभासित होता है कि भारतीय वक्रोक्तिवाद के प्रवर्त्तक कुन्तक का अभिव्यंजनावादी क्रोचे ऋणी है। वस्तुत. यह बात नहीं है। इन दोनों आचार्यो का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। क्रोचे आत्मवादी दार्शनिक है और कुन्तक साहित्य मीमांसक। है। इसके अतिरिक्त इन दोनो में पर्याप्त साम्य होने पर वैषम्य इतना स्पष्ट है कि इन दोनो के वादों को एक नही कहा जा सकता है।

इसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने इन दोनों वादों की पूर्ण एकता का प्रतिपादन नही किया है। परन्तु मौलिक समता का संकेत मात्र किया है। शुक्लजी का उद्देश्य स्पष्टरूप से इन दोनो वादों की मूल प्रवृत्ति के प्रति आंशिक विरोध प्रकट करना ही है। श्री नगेन्द्रजी के कथनानुसार हम शुक्लजी के उक्त कथन को अर्थवाद के रूप मे ग्रहण कर सकते है।

श्री नगेन्द्रजी ने आचार्य शुक्ल तथा आई० ए० रिचर्ड्स का तुलनात्मक विवेचन किया है। वे यह मानते है कि शुक्लजी की मनोभूमि पर रिचर्ड्स का सीधा प्रभाव नही पड़ा है फिर भी उनको अपने पक्ष की स्थापना मे उससे सामयिक सहायता अवश्य मिली है। इन दोनों मे साम्य और वैषम्य की विवेचना करने के अनन्तर श्री नगेन्द्रजी ने शुक्लजी के सम्बन्ध मे अपनी धारणा यह बनाई है कि शुक्लजी ने लोक पक्ष को अत्यन्त महत्त्व दिया और रस की एकान्त साधना उन्हे कठिनता से ही ग्राह्य हो सकती थी। इसीलिए वे हिन्दी के उदीयमान कवियो के साथ समझौता न कर सके। वे समय के साथ आगे नही बढ सके। क्रोचे के अभिव्यजनावाद और जर्मन दार्शनिकों के सौन्दर्यशास्त्र की विशेषताओं को ग्रहण करने मे वे असमर्थ रहे, परन्तु अपने रस शास्त्र की शक्ति और सम्भावनाओ की वे निरन्तर छान-बीन करते रहे और इसके परिणामस्वरूप भारतीय रस शास्त्र का जो मनोवैज्ञानिक विवेचन उन्होने प्रस्तुत किया वह भारत के आलोचना-साहित्य को उनका अमूल्य उपहार है। शुक्लजी ने अपने युग को प्रभावित नही किया आच्छादित किया है।

डाक्टर देवराज—श्री देवराजजी की दृष्टि मे आचार्य शुक्ल रसानुभूति के बौद्धिक विश्लेपण मे सक्षम थे। उनमें कृतियों से रस-ग्रहण की शक्ति भी पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान थी परन्तु उनमे कृतियो के मूल्यांकन का उचित दृष्टिकोण बनाने लायक चिन्तन शक्ति न थी। वे मूल्याकन के सफल मानों का आविष्कार नहीं कर सके इसीलिए वे बहुत उच्चकोटि के साहित्य-मीमांसक न थे। वे जहाँ रसानुभूति के विशिष्ट अवसरो पर असा-

धारण खण्ड-सिद्धान्तो का आविष्कार कर डालते है वहाँ खण्ड-सिद्धान्तों का एक महा-सिद्धान्त के रूप मे समन्वय नही कर पाते है। इस पर भी श्री देवराज जी शुक्लजी के उपकार को समझते है। वे कहते है कि उनके द्वारा प्रतिपादित खण्ड सिद्धान्त भी पूर्ण साहित्य शास्त्र के निर्माण के लिए परम उपयोगी है। शुक्लजी की स्वच्छ दृष्टि जितना देख सकी है उसके लिए भविष्य का साहित्य शास्त्र उनका चिर ऋणी रहेगा।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—द्विवेदी जी की दृष्टि मे आचार्य शुक्ल नवीन और प्राचीन ज्ञान के वास्तविक सत्यसाक्षी थे। वे हिन्दी के गौरव थे। द्विवेदीजी कहते है कि कुछ लोगो को भ्रम है कि वे नए प्रयोग करने वाले तरुण साहित्यिकों के प्रति सहानुभूतिमयी दृष्टि नहीं रखते थे। ऐसी बात नही। वस्तुतः वे कुछ खास प्रकार के काव्य विचारो के पोषक थे उसके बाहर जाने वाले को वे पसन्द नही करते थे। फिर चाहे वह नवीन हो या प्राचीन। द्विवेदीजी शुक्लजी मे असाधारण प्रतिभा स्वीकार करते है और हिन्दी साहित्य पर उनका अमिट प्रभाव मानते है।

श्री गुलाबराय—श्री गुलाबरायजी कहते है कि आचार्य शुक्लजी अपने सिद्धान्तो पर दृढ रहते हुए भी हठधर्मी और असहृदय न थे। वे गुण ग्राहक थे। यही उनकी महानता थी। बुद्धि और हृदय के स्पृहणीय संयोग के कारण शुक्लजी के निबन्ध विषय प्रधान होते हुए भी उनके व्यक्तित्व की आभा से द्युतिमान दिखाई पडते है।

श्री विजयेन्द्र स्नातक—प्रो० स्नातक कहते है कि शुक्लजी कोरे आलोचक या समीक्षक ही नही वरन् उच्चकोटि के शैली-निर्माता, निबन्धकार, विज्ञ-इतिहास लेखक, भावुक कवि, समर्थ अनुवादक, सफल अध्यापक और कुशल सम्पादक भी थे। उन्होने साहित्य के जिस अंग को भी अपनी लेखनी से स्पर्श किया उसे अपनी विलक्षण प्रतिभा से कई गुना चमका दिया। हिन्दी में शुक्लजी की शिष्य मण्डली योग्यता और संख्या दोनों ही दृष्टियों मे सबसे बड़ी है। शुक्लजी ने अध्ययन-अध्यापन की जो परम्परा अपने पीछे छोड़ी है उसमे उनकी प्रतिभा का पुट सर्वत्र दृष्टिगत होता है।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में शुक्लजी की विरोधी या अविरोधी समीक्षा ही इस बात का प्रमाण है कि उनका साहित्यिक व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। विरोधी समीक्षक भी हिन्दी साहित्य के इतिहास मे उन्हे अत्युच्च स्थान देने के लिए पूर्णतया सहमत कहे जा सकते है। आधुनिक समीक्षक शुक्लजी के अधूरे कार्य को पूर्ण करके, भविष्य मे, हिन्दी मे सर्वागपूर्ण एवं सार्वभौम साहित्य सिद्धान्तो का निर्धारण करने मे सफल हो सकते है। आशा है, हिन्दी साहित्य के गगन मे आचार्य शुक्ल की गरिमा का सूर्य सतत अपने आलोक का प्रसार करता रहेगा और उससे यह साहित्य-भूमण्डल जगमगाता रहेगा।